मेरा जीवन

पारिजात प्रकाशन, पटना

आत्म-संस्मरण

मेरा जीवन

© डॉ० बालेंदुशेखर मंगलमूर्त्ति

मूल्य : पचहत्तर रुपये / प्रथम संस्करण, १९८५ / आवरण : संजय नारायण / प्रकाशक : पारिजात प्रकाशन, डाक बंगला रोड, पटना-८०० ००१ / मुद्रक : कोणार्क प्रिंटर्स द्वारा सविता प्रिंटर्स, दिल्ली-११० ०३२

MERA JEEWAN : Shiv Pujan Sahai Rs. 75.00

श्रद्धास्पदेषु मातृ-पितृचरणेषु
जिनके पुण्य-प्रभाव से
'टाट में पाट के सीवन-सा इस जीवन मे साहित्य सधा'

'जा थल कीन्हे बिहार अनेकन
ता थल काकरी बैठि चुन्यो करैं।
जा रसना सो करी बहु बातन
ता सो विचित्र चरित्र गुन्यो करैं।
'आलम' जौन से कुंजन मे
करी केलि तहा अब सीस धुन्यो करै।
नैननि मे जे सदा रहते
तिनकी अब कान कहानी सुन्यौ करैं।'

प्रस्तावना

'मेरा जीवन' पुण्यश्लोक आचार्य शिवपूजन सहाय के आत्म-सस्मरणो का काल-क्रमानुसार विशिष्ट आकलन है। अर्द्धशती की दीर्घतर कालावधि से भी अधिक लम्बे अपने साहित्यिक जीवन मे उन्होने शताधिक सस्मरणो की रचना की एव अनेक सस्मरणात्मक टिप्पणिया लिखी, जो लगभग सन् १६२१ से १६६१ ई० के बीच विभिन्न पत्र-पत्रिकाओ मे प्रकाशित हुई थी। उनके साहित्यिक जीवन का सूत्रपात वर्तमान शती के दूसरे दशक मे ही हो चुका था, जब वे आरा मे अध्यापक थे और सभवत इसीलिए उनका सर्वप्रथम सस्मरण 'प्रेममदिर के प्रेमी पुजारी का परलोक-प्रस्थान' आरा के उदीयमान हिन्दीसेवी एव प्रकाशक कुमार देवेन्द्र-प्रसाद जैन के असामयिक निधन से द्रवित-प्रेरित होकर लिखा गया था, जो पटना सिटी की 'चैतन्य-चद्रिका' मे सन् १६२१ ई० मे प्रकाशित हुआ था, किन्तु उनके साहित्यिक सस्मरणो का काल-प्रारभ वस्तुत. उसके बाद से ही होता है, जब वे आरा की 'मारवाडी-सुधार समिति' के मुखपत्र 'मारवाडी-सुधार' के सम्पादक के रूप मे कलकत्ता पहुचे और अतत 'मतवाला'-मडल की सदस्य-चतुष्टयी के प्रमुख सदस्य बन गये।

तीसरे दशक मे प्रकाशित आचार्य शिवजी की अधिकाश सस्मरणात्मक रचनाओ मे सस्मृत व्यक्ति का सक्षिप्त जीवनवृत्त प्रस्तुत हुआ था अथवा उसके प्रति श्रद्धाजलि अर्पित की गई थी, और बहुधा सस्मृत व्यक्ति से रचनाकार का व्यक्तिगत सम्पर्क नही था अथवा अत्यल्प था। किन्तु, यह तो सर्वथा स्वाभाविक था, क्योकि इसी दशक मे तो वे पहली बार साहित्यिक घटनाओ एव साहित्यसेवियो के प्रत्यक्षदर्शी-सहयोगी बने थे, जिनकी सघन सवेदनशील अनुभूति ही कालातर मे उनके सस्मरण-सर्जन का उपजीव्य बनी। इसके बाद के तीन दशको, एव विशेषत. अतिम दशक, मे प्रकाशित उनके सस्मरणो मे वर्तमान शती के पूर्वार्द्ध के हिन्दी साहित्य का जीवत इतिहास उपलब्ध है। अतिम तीन दशको मे प्रकाशित इन सस्मरणो मे ही सस्मरणकार ने वस्तुत अपनी आत्मकथा भी प्रस्तुत कर दी है, क्योकि सस्मृत व्यक्तियो एव उस युग के सस्मरणो की समष्टि में ही तो रचनाकार का सम्पूर्ण वाङ्मय प्रतिबिम्बित हुआ है।

आचार्य शिवजी ने अपनी आत्मकथा नही लिखी, लेकिन एक प्रकार से अपने सस्मरणो मे ही उन्होने अपनी आत्मकथा रच डाली थी, आवश्यकता थी केवल उस मामग्री को सहेजने-सजाने की, कालक्रमानुसार उसको तरतीब देने की, और यहा बस उतना ही किया गया है। वैसी रचनाए छोड दी गई है, जिनमे केवल सस्मृत व्यक्ति का जीवनवृत्त एव कृतित्व वर्णित है। कुछ दूसरी रचनाओ मे मे ऐसे अनुच्छेदो को छोडकर केवल वही अश लिये गये है, जो मुख्यत आत्मकथात्मक हैं। इसी आकलन-क्रम मे यदा-कदा एकाध शब्दो का जोड-घटाव अनिवार्य हो गया है। प्रत्येक अध्याय का प्रारम्भ एक परिचयात्मक टिप्पणी से होता है, जो उस अध्याय के घटनाक्रम को स्पष्ट करती है। अधिकाश पाद-टिप्पणिया रचनाकार की ही है, अथवा उसके शब्दो मे ही उद्धृत है, किन्तु सम्पादकीय पाद-टिप्पणिया एकाध भी कही-कही आवश्यकतानुसार जोडनी पडी है।

पुस्तक का प्रारम्भ शैशव के सस्मरणो से होता है। ग्राम्याचल का यह बालसुलभ स्मृतिचित्र प्रथमत पटना से प्रकाशित 'चुन्नू-मुन्नू' मे सन् १९५० ई० से कुछ अको मे धारावाहिक प्रकाशित हुआ था। इस प्रथम अध्याय मे जीवन के पहले दशक की कहानी है, जब 'माता का अचल' छोडकर वे मकतब और मदरसे से गुजरते हुए प्रारम्भिक स्कूली शिक्षा के लिए पिता के साथ आरा पहुचे। दूसरे अध्याय का प्रारम्भ बग-भग आदोलन से होता है, जब वे आरा मे स्कूल के छात्र थे। बाद मे उसी स्कूल मे शिक्षक हुए और हिन्दी साहित्य मे विशेष अनुरक्त बने। इसी काल मे अपने शिक्षक एव साहित्यिक गुरु प० ईश्वरीप्रसाद शर्मा के सरक्षण मे साहित्य-लेखन की ओर प्रवृत्त हुए एव बाबू शिवनदन सहाय, महामहोपाध्याय प० सकलनारायण शर्मा आदि ऋषिकल्प साहित्यकारो के निकट सम्पर्क मे आये। अखिल भारतीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन के लखनऊ मे सम्पन्न पंचम अधिवेशन की नाट्य-मडलियो के प्रदर्शन से अत्यधिक प्रभावित गुरुवर शर्माजी ने जब आरा मे भी एक नाट्य-मडली का सगठन किया तब उसमे आचार्य शिवजी ने शैव्या का इतना स्वाभाविक अभिनय किया था कि दर्शक बार-बार उन्हे मच पर बुलाकर उनसे यह गीत सुनना चाहते—

'हा रोहित, प्यारे दुलारे, छोडकर अपनी मा को सिधारे।
लाल तुम बिन कैसे रहूगी, ये बिपत हाय कैसे सहूगी।
तुमको पाऊ कहा प्राणप्यारे, हा रोहित, प्यारे दुलारे।
दूध रातो को तुमको पिलाया, हाय गोदो मे अपने खिलाया।
कौन मैया हमे अब कहेगा, कौन इस गोद मे अब रहेगा।
हो कहा मेरी आखो के तारे, हाय रोहित, प्यारे दुलारे॥

तीसरे अध्याय मे कलकत्ता-प्रवास के सस्मरण है, जो पहली बार सन् १९५० ई० मे, श्रीरामवृक्ष बेनीपुरी द्वारा सम्पादित 'नई धारा' मे धारावाहिक रूप से प्रकाशित हुए थे, उसी काल के कुछ अन्य सस्मरण भी इस अध्याय मे है। 'मतवाला' से कुछ मतभेद के कारण सन् १९२४ ई० मे कुछ दिनो के लिए वे 'माधुरी' मे लखनऊ चले गये थे, जिसकी चर्चा चौथे अध्याय मे है, यद्यपि मतभेद एव 'मतवाला'-मडल के विघटन के वास्तविक कारणो का विगोपन उन पत्रो के प्रकाशन से ही हो सकेगा, जो आचार्य शिवजी के बहुमूल्य पत्र-सग्रह मे सुरक्षित है। इन पत्रो के सकलन का प्रकाशन भी यथाशीघ्र होगा।

पाचवे अध्याय मे आत्मसस्मरणो की वह शृखला है, जिसमे काशी-प्रवासकालीन जीवन की स्मृतिया अकित है। सन् १९२६ ई० से प्रारम्भ होने वाले दशक के काशी-प्रवासकाल मे ही सन् १९३२-३३ ई० मे 'द्विवेदी-अभिनदन-ग्रथ' का सम्पादन सम्पन्न हुआ था, जिसकी चर्चा आचार्य द्विवेदीजी वाले सस्मरण मे है। जिस ग्रथ के सम्पादन मे महीनो का श्रम लगा था, जब काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा मे उसका समर्पण-समारोह हो रहा था, उस समय अपने ज्येष्ठ पुत्र के शीतला-ग्रस्त होने के कारण उसमे उपस्थित न हो सके थे, यद्यपि सभा-भवन के वे बिलकुल समीप ही रहते थे। द्विवेदीजी को जब यह ज्ञात हुआ, तब उन्होने एक श्लोक पुर्जे पर लिखकर भेजा, जो आज भी सुरक्षित है। पुर्जे पर एक ओर द्विवेदीजी की हस्तलिपि मे यह श्लोक है, और उसके नीचे एक सदेश—

'देव्यायया ततमिद जगदात्मशक्तया
नि'शेषदेवगणशक्तिसमूह मूर्त्या
तामम्बिकामखिलदेवमहर्षिपूज्या
भक्त्या नतोस्मि विदधातु शुभानि सा न ॥'

'भगवती चडिका से मेरी यही प्रार्थना है। कृपा करके वह आपके बच्चे का जल्द नीरोग कर दे।'

म० प्र० द्वि०
३।५।३३

पुर्जे की पीठ पर लेखक के ये शब्द अकित है—

'जिस समय काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा मे द्विवेदी-अभिनन्दनोत्सव हो रह था, उसी समय आचार्य द्विवेदीजी ने 'आनन्दमूर्त्ति' को यह आशीर्वाद भेजा था; क्योकि भयकर शीतला के कारण वह जगदम्बा की अपार दया से ही जीता बचा था और उसी की सेवा-शुश्रूषा के कारण मै उत्सव मे न जा सका। किन्तु रायकृष्ण

दासजी, बाबू मैथिलीशरण गुप्त और श्री कृष्णानन्द गुप्त अथवा सियारामशरण गुप्तजी मेरे मकान पर आकर द्विवेदीजी का सदेश कह गये थे।—शिवपूजन'

पुस्तक के उत्तरार्द्ध के पाच अध्यायो मे मुख्यत लहेरियासराय-प्रवास से प्रारम्भ कर छपरा-कॉलेज तथा बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्, पटना निदेशक-काल तक के आत्मसस्मरण हैं। जीवन के इन अतिम दो दशको की स्मृतिया प्रमुखत उनकी दैनदिनियो मे सुरक्षित है, जो निश्चय ही हिन्दी-साहित्य की अमूल्य निधि है। इस कालावधि-विशेष की स्मृतियो का अन्यतम सग्रह यथाशीघ्र दैनदिनियो के दो-तीन खडो के रूप मे हिन्दी-ससार के सम्मुख प्रस्तुत करने का मेरा सकल्प है। ईशकृपा से यह सकल्प अवश्य पूरा होगा, ऐसा विश्वास है।

इस पुस्तक के प्रकाशन-क्रम मे अपने पूज्याग्रज डॉ० आनदमूर्त्ति, अग्रजतुल्य भाई शकरदयाल सिंह एव सम्मान्य डॉ० श्रीरजन सूरिदेव से जो प्रोत्साहन एव मार्गदर्शन प्राप्त हुआ है, तदर्थ उनके प्रति विनम्रतापूर्वक कृतज्ञता ज्ञापित है। सामग्री के सयोजन-प्रस्तावन मे अनेक त्रुटियो का होना सर्वथा स्वाभाविक है, जिसके लिए सुधी पाठको से करबद्ध क्षमा-याचना है।

—मगलमूर्त्ति

माघी पूर्णिमा, स० २०३६
कॉलेज परिसर, मुगेर

अनुक्रम

१ माता का अंचल	९
२ . वे दिन : वे लोग	३१
प० दीनदयालु शर्मा	३२
बाबू शिवनदन सहाय	३४
मेरी सबसे पहली—अस्वीकृत रचना !	३७
महामहोपाध्याय प० सकलनारायण शर्मा	३८
प्रो० अक्षयवट मिश्र 'विप्रचद्र'	४१
प० ईश्वरीप्रसाद शर्मा	४४
प्रथम काशी-प्रवास	५२
प० बदरीनाथ भट्ट	५४
कविवर माधव शुक्ल	५७
हास्यरसावतार प० जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी	६०
प० अमृतलाल चक्रवर्त्ती	६४
आचार्य श्यामसुन्दरदास	६६
आरा सेवा समिति	६८
कुमार देवेन्द्रप्रसाद जैन	७२
आचार्य चन्द्रशेखर शास्त्री	७५
श्री गणेशशकर विद्यार्थी	८२
३ : 'मतवाला'- मंडल	८७
'मारवाडी-सुधार'	८८
'मतवाला' कैसे निकला	९९
पूज्य निरालाजी	१०५
महादेवप्रसाद सेठ	१२३
मुशी नवजादिकलाल श्रीवास्तव	१२७
कर्मवीरश्री मूलचन्द्रजी	१३५
पूज्य मालवीयजी	१३७
कार्तिकेयचरण मुखोपाध्याय	१३८

श्री पारसनाथ सिंह १४०
आचार्य गुलाबरायजी १४२
कवीन्द्र रवीन्द्र १४३

४ वे कुछ दिन १४७
प्रेमचन्दजी १४८
प० कृष्णविहारी मिश्र १५६

५ ते हि नो दिवसा गताः ! १६१
मृदगाचार्य प० भोलानाथ पाठक १६२
प० किशोरीलाल गोस्वामी १६३
पूज्य पराडकरजी १६८
प० विनोदशकर व्यास १७३
महाकवि जयशकर प्रसाद १७५
रायबहादुर हीरालालजी १८०
महामना मालवीयजी १८१
आचार्य द्विवेदीजी १८५

६ खंड-प्रलय ! १८९
दरभगा मे खड-प्रलय ! १९०

७ : राजेन्द्र कालेज १९७
मानवीय अनुग्रह बाबू १९८
डॉ० सच्चिदानन्द सिंह १९९
'सभा' का सफल महोत्सव २०१
'द्विज' जी की विदाई २०५

८ : साहित्यिक यात्रा २०६
जयपुर-यात्रा २०७
नागपुर-यात्रा २१३

९ : बिहार राष्ट्रभाषा परिषद् २२०
श्री व्रजनन्दनसहाय 'व्रजवल्लभ' २२१
डॉ० श्रीकृष्ण सिंह २२४
राजर्षि पुरुषोत्तमदास टण्डन २२७
आचार्यश्री नलिनविलोचन शर्मा २३२
राजा राधिकारमणजी २३६

१० : मेरा जीवन २३८

मेरा जीवन

कविवर 'प्रसाद' जी का एक सुन्दर गीत है—
'वे कुछ दिन कितने सुदर थे !'
वह पक्ति याद आते ही मन अनायास कह उठता है—
'ते हि नो दिवसा गताः !'
न अब वे दिन बहुरेंगे, न वे लोग !

1

माता का अंचल

बचपन १८९३—

•

मुगलसराय-पटना के बीच बक्सर रेलवे स्टेशन से पन्द्रह किलोमीटर दक्षिण (भोजपुर जिलातर्गत) 'उनवास' गाव मे ९ अगस्त, १८९३, बुधवार (श्रावण कृष्ण त्रयोदशी, वि० स० १९५०) को शिवपूजनसहाय का जन्म एक साधारण काश्तकार कायस्थ परिवार मे हुआ। पिताश्री वागीश्वरीदयाल आरा के बक्शीजी की जमीदारी के पटवारी थे। शैशव के सात-आठ वर्ष उसी गाव मे बीते। फिर अपनी छोटी फुआ के यहा (बक्सर से पश्चिम और रघुनाथपुर रेलवे स्टेशन से दक्षिण) 'बगेन' गाव मे रहकर अपने फूफा से अग्रेजी और उर्दू की आरभिक शिक्षा पायी। साल लगते-लगते वहां से अपने बडे बहनोई मुशी कालिकाप्रसाद के यहा (रघुनाथपुर से भी थोडा पश्चिम, बिहिया रेलवे स्टेशन से दक्षिण) 'बम्हवार' गाव मे भेज दिये गये जहा अग्रेजी और उर्दू-फारसी के साथ-साथ रामायण पढने की प्रवृत्ति जगी। अतत पिता उन्हे अपने साथ रखकर पढाने के लिए (जिला मुख्यालय) आरा ले गये जहा जनवरी १९०३ मे प्रसिद्ध के० जे० एकेडमी के पाचवे दर्जे मे दाखिला मिला। बचपन के इन प्रारम्भिक पन्द्रह वर्षों की कहानी 'मेरा बचपन' शीर्षकसे पहले-पहल १९५२ मे प्रकाशित हुई थी।

मेरे गाव मे एक पडितजी थे। वे सस्कृत के अच्छे विद्वान् थे। उनका शुभ नाम था रामप्रकाश पाण्डेय। वे डुमराव के महाराज के राजगुरु परमहसजी के प्रिय शिष्य थे। परमहसजी का नाम था प० दुर्गादत्तजी। वे सिद्ध योगी और शिवजी के अनन्य आराधक थे। उनकी जीवनी प्रोफेसर अक्षयवट मिश्र ने हिन्दी मे लिखी है। वह पुस्तक-भडार (पटना) से प्रकाशित हुई है। उसकी भूमिका मैंने लिखी थी। उसी भूमिका मे मेरे जन्म की सक्षिप्त कहानी है।

मेरे गाव मे एक दूसरे पडितजी भी थे। वे भी सस्कृत के अच्छे विद्वान् और कथावाचक थे। उनका शुभ नाम था रामयत्न पाण्डेय। प० रामप्रकाशजी सरयूपारीण ब्राह्मण थे। प० रामयत्न पाण्डेय थे शाकद्वीपीय। यही मेरे कुल-पुरोधा थे।

प० रामप्रकाशजी के घर पर एक बार उनके गुरु परमहसजी आये थे। मेरे माता-पिता ने बडी भक्ति से परमहसजी के दर्शन किये थे। मेरे एक चाचा ने परमहसजी से प्रार्थना की थी। मेरे पिताजी सकोचवश कुछ निवेदन न कर सके। किन्तु चाचाजी की प्रार्थना सुनकर परमहसजी ने कहा कि शिवजी की आराधना करने से सन्तानोत्पत्ति होगी।

प० रामयत्न पाण्डेय ने काशी मे रहकर विश्वनाथजी की और देवघर मे रहकर वैद्यनाथजी की कई महीने तक, आराधना की। यह शिवाराधन परमहसजी के आदेशानुसार हुआ। पूजा की पूर्णाहुति के बाद चाचाजी को परमहसजी ने बुलाया और अपने अग्निहोत्र-कुण्ड से दिव्य विभूति दी। उसी के प्रताप से मेरी मृतवत्सा माता सन्तानवती हुई।

मेरे जन्म का सवाद परमहसजी के पास वही चाचाजी ले गये। उन्होने नामकरण करके जो भविष्यवाणी की थी वह सफल हो गई। परमहसजी के आशीर्वाद की चर्चा मेरी माता बराबर किया करती थी। पिताजी और चाचाजी भी कभी-कभी परमहसजी के उपकार का स्मरण कर लेते थे।

तपस्या का प्रभाव अमर होता है। परमहसजी के अग्निहोत्र-कुण्ड के चुटकी-भर भस्म से एक मृतवत्सा की कोख फलवती हो गई। उस दिव्य विभूति के एक-एक कण मे जो अद्‌भुत शक्ति थी वही मेरे जीवन-निर्माण मे सहायक सिद्ध हुई। मेरे मन मे ईश्वरभक्ति बीज उसी शक्ति ने बोया। उसी शक्ति ने मुझे सुखी-यशस्वी बनाया।

मेरी पूजनीया माता प्राय परमहसजी के दिव्य स्वरूप एव अद्‌भुत प्रभाव का वर्णन किया करती थी। बचपन मे उसके मुख से जो बाते मैंने सुनी थी, वे आज तक ज्यो-की-त्यो याद है। यहा मैं उसी के शब्दो को दुहराता हू।

"परमहसजी की देह खूब गोरी थी। सन की तरह दाढी सफेद थी। बैठने मे

जाघ तक दाढी लटकती थी। आखे लाल-लाल थी। बोलते कम थे। तमाम देह मे भभूत का टीका लगाते थे। आखो पर भभूत लेपते थे। ताबे की सिकडी मे गूथी हुई बडी-बडी मनिया का रुदराछ पहनते थे। कान मे, कपार मे, बाह मे, गरदन मे, छाती पर खाली रुदराछ-ही-रुदराछ। हाथ के नख बडे-बडे थे, जो सीप की तरह चमकते थे और उसमे महादेव-पारवती की मूरत लगाते थे। उनके घर मे अगर किसी के सिर मे दर्द होता था तो महादेवजी के सिर मे घी और कपूर मला जाता था। कोई बीमार पडता था तब भी महादेवजी पर ही दवा पीसकर चढाई जाती थी। महादेवजी को हरदम अरघे पर आमने-सामने रखते थे। धूप की बत्ती जलती रहती थी। सोलह कहारो की पालकी पर चलते थे। कहार भी महादेवजी की जय बोलते चलते थे। मेरे तीन लडके मर गए तब तुम्हारे चाचा उनसे भभूत मागने गए। उन्होने दूध समान उजली भभूत एक डिबिया मे दी। वह घी समान चिकनी थी और खूब गमगमाती थी। उसी को मै नहा-धोकर हर महीने मे खाती थी। बाबाजी (पुरोहित) बैजनाथ-धाम और काशी बिसेसरनाथ मे जाकर परमहसजी का बताया हुआ मन्तर जपते थे—मेरे घर मे भी पारथी-पूजा और खीर का हवन करते थे।

रोज पहर भर तक एक पोथी का पाठ भी करते थे। परमहसजी ने जैसे-जैसे बताया था वैसे-ही-वैसे सब हुआ। तब तुम्हारा (मेरा) जन्म हुआ। परमहसजी के पास सन्देशा गया, तो उन्होने कहा कि यह लडका महादेवजी का भगत होगा।"

मेरे पितामह[1] प्रात सध्या का सारा समय शिवजी की पूजा मे ही बिताया करते थे और दिन मे भी शिवपुराण तथा योगवासिष्ठ पढते थे। उनके सगे चचेरे भाइयो ने उनको अलग कर दिया, क्योकि दिन-रात पूजा-पाठ मे रमे रहने के कारण काम-धाम मे थोडा भी समय नही देते थे। भाइयो मे सबसे छोटे थे। हिस्से मे ऊसर खेत और अमराई की जगह कुछ महुए के पेड मिलने पर भी बडे भाइयो से उलझे नही, शिवजी के भरोसे सन्तोष कर गये। मेरी पितामही ने उन्हे पुजारी ही रहने दिया और मेरे पिता को पढाई-लिखाई छोडाकर नौकरी करने के लिए बाहर शहर मे भेजा। कई साल तक परिवार की माली हालत बहुत खराब रही। उन्ही दुर्दिनो मे जन्म होने के कारण मेरा बचपन कुछ दिन गरीबी मे ही बीता। किन्तु ईश्वर की कृपा से जब मेरे पिता कमाने लगे तब धीरे-धीरे घर की आर्थिक

१. देवीदयाल, जिनके प्रपितामह सुथरदास अपनी मा के साथ उत्तर प्रदेश के गाजीपुर जिले के शेरपुर गाव से अपने ननिहाल उनवास मे आकर रह गये थे। यह अनुमानत. अठारहवी सदी के प्रारम्भ की बात होगी।—स०

दशा सुधरने लगी। मेरी दादी और मा ने बडी शान्ति से गरीबी झेली। पर जब सुख के दिन बहुरे तब भी गरीबी की कष्टकथा का स्मरण कर भगवान को गुहराती रही।

महाभारत की कथा मे सुना जाता है कि द्रोणाचार्य का इकलौता बेटा अश्वत्थामा, गरीबी के कारण, दूध के अभाव मे, भुने चावल के आटे का घोल पिया करता था। कहा जाता है कि मुझे भी बचपन मे वैसा ही घोल पिलाया जाता था। उसके लिए भी घर मे कभी-कभी चावल और गुड नही रहता था। मेरी दादी जौ का सत्तू घोलकर शहद के साथ मुझे पिलाती थी। वह कहा करती थी कि उसके बहुत फुसलाने-बहलाने पर ही मै सत्तू का घोल पीता था।

मेरे जन्म के बाद मेरे घर की गरीबी धीरे-धीरे कम होने लगी, मगर मेरा बचपन उसी की गोद मे बीता। भूना हुआ चावल पीसकर गुड के साथ पानी मे घोल दिया जाता, मै दम साधकर बडे चाव मे एक ही सास मे सुडक जाता। कभी-कभी वही घोल आग पर पकाकर हलवा बना दिया जाता।

मेरी माता कहा करती थी कि मीठा घोल पीते समय मै तब तक मुह से कटोरा अलग नही करता था जब तक एक-एक बूद चुक न जाये। और हलवा बनते समय मैं तुरत उसे खाने के लिए बेचैन हो जाता था।

मेरा मचलना भी विचित्र ढग का था। मा कहती थी कि खाने-पीने की अच्छी चीज देखकर मैं नाचने लगता था। उस समय सिर मे बहुत घनी जटाए थी। बाबूजी रोज दोनो जून गोबर के चौके पर गन्ध-धूप जलाकर तुलसीकृत रामायण का पाठ किया करते थे। पूजा से उठते ही भोजन करने बैठ जाते थे। अपने साथ ही मुझे भी नहलाकर पूजा की आसनी पर एक बगल मे बैठाते थे। मेरे ललाट पर भी उज्ज्वल विभूति का त्रिपुण्ड लगा देते थे। उस रूप मे मुझे घर के लोग 'भोलानाथ' कहा करते थे।

जब वे मुझे टहलाने के लिए अपने साथ ले जाते तब रास्ते मे कोई मन्दिर पडने पर कहते कि हाथ जोडकर देवता की वन्दना करो। किस देवता का मन्दिर है, शिवजी का मन्दिर है तो उसकी चोटी पर त्रिशूल क्यो है, रामजी का मन्दिर है तो उसके ऊपर चक्र क्यो लगा है, इन सब बातो को सरलता से समझाते थे।

खाने के समय बाबूजी की थाली मे आलू का भुर्त्ता देखकर मै उछलने और थिरकने लगता था। जिस दिन वह आलू का चोखा नही नजर आता था उस दिन मैं आगन या बरामदे के एक कोने मे चुपचाप खडा हो जाता और मुह लटका लेता था। माता-पिता मुझे बडे लाड-प्यार से मनाने लगते थे। माता तुरत गोरसी मे आलू पकाकर झट भुर्त्ता बना देती थी। तब मै फिर किलकने लगता था।

मेरा 'जटाधारी भोलानाथ' का रूप मेरी माता को बहुत प्रिय लगता था। मेरे त्रिपुण्ड-तिलक को वह मुझे गोद मे लेकर आईने में दिखाती थी, तो मैं बहुत

मुसकराता था और उसके हाथ से आईना छीनकर खुद अपना रूप निहारने लग जाता था। मा कहती थी कि मै कभी-कभी आईने को छाती पर रखे-ही-रखे सो जाता था।

मुझे याद है कि मेरी बूढी दादी मुझे अपने साथ लेकर मेरे गाव से पाच कोस उत्तर बक्सर मे गगातट पर मेरा मुण्डन कराने के लिए बैलगाडी पर गयी थी। मेरे सिर पर सेम और इमली की फलियो की तरह जठुलिया लटकती थी। उस समय मै पाच साल का था। मुण्डन हो जाने पर कटे जटो के लिए मै रोने लगा था। जब मेरी दादी ने चीनी के बने बहुत से खिलौने खरीदकर मेरी छोटी चादर के दोनो आचलो मे बाध दिया तब मै चुप हो गया। उसके कुछ ही दिन बाद मेरी दादी मर गयी। उसका शरीर बहुत गोरा और सुन्दर था। सयाना होने पर मेरे ध्यान मे आया कि मेरे पिता और बडे चाचा का चेहरा उसी के समान था। मेरी माता कहती थी कि मेरे छोटे चाचा हूबहू मेरे दादा के समान थे। अपने दादा को मैने नही देखा था। मेरी दादी का मायका नारायणपुर मेरे गाव से दो कोस उत्तर-पूरब है। मेरे बूढे पुरोहित इसी कारण मेरी दादी को 'नारायणी' नाम से पुकारा करते थे। उनकी देखा-देखी जब मै भी उसको उसी नाम से पुकारता था तब मेरी माता बहुत हसती थी।

मेरी दादी पढी-लिखी नही थी मगर उसको 'हनुमान-चालीसा' कठस्थ था। वह उसकी एक-दो चौपाई मुझे भी रटाती थी। उनका पोसा हुआ तोता भी उन चौपाइयो को दुहराने लगता था—

'नासे रोग हरे सब पीरा, जपत निरन्तर हनुमत बीरा
सकट कटे मिटे सब पीरा, जो सुमिरै हनुमत बलवीरा'

दादी के मरने पर मेरे माता-पिता या चाचा जब इन चौपाइयो को दुहराने के लिए कहते थे तब मै रोने लगता था। दादी का तोता भी जब कभी इन चौपाइयो को दुहराता था तब मेरी माता डबडबाई आखो से दादी के गुण गाने लगती थी। मेरी सबसे बडी सगी बहन का नाम 'मनबसिया' क्यो पडा था, इसके विषय मे वह कहती थी कि जिस समय उस बहन का जन्म हुआ उस समय दादी 'हनुमान-चालीसा' का पाठ कर रही थी। ज्योही वह 'रामचरित्र सुनिबे को रसिया, राम लखन सीता मनबसिया' चौपाई का पाठ समाप्त कर चुकी त्योही किसी ने आकर कन्या-जन्म का शुभ सवाद सुनाया। बस उसने उसी क्षण ऐसा नाम रख दिया।

'मै बचपन मे बहुत कम बोलने के कारण, घर के लोगो मे 'मौनी बाबा' के नाम से भी पुकारा जाता था। मेरी तोतली बोली सुनने के लिए माता-पिता और परिवार के लोग नाना प्रकार के यत्न करते थे। अपनी भूख-प्यास मिटाने के लिए भी मै केवल मां के पास जाकर चुप खड़ा हो जाता था। उसके लाख पूछने

पर भी मैं कुछ कहता न था । काम-धाम से मन हटाकर वह मुझे ही पुचकारने-बहलाने मे लग जाती थी । आखिर मेरी चुप्पी तोडने के लिए उसको बहुत दिनो का सचा हुआ मोतीचूर लड्डू निकालना पडता ।

बाबूजी जब कभी बाहर कही शहर से आते, मोतीचूर जरूर लाते । माता उसे अपने दरवाजे पर आये हुए किसी बडे अतिथि के लिए जुगाकर रखा करती थी । कभी-कभी वह इतने दिनो तक सचित रह जाता कि चीटे चीनी के कण चट कर जाते और सिर्फ दाने रह जाते । पर एक लड्डू से कभी मौन नही तोडता था । जब दोनो हाथो मे लड्डू आ जाते, मै गोद से उतरकर फुदकने-चहकने लग जाता ।

मेरी माता कई तरह के गीत और भजन गाया करती थी । उनमे से गीतो की कुछ कडिया मै उसके साथ ही गाने मे दुहराया करता था । लड्डुओ को देकर वह एक कडी छेड देती, मै गाने-नाचने लग जाता—

'मैया बिन आदर कौन करे, गैया बिन ओदर कौन भरे
बरखा बिन सागर कौन भरे, श्रीराम बिना दुख कौन हरे ?'

बचपन मे एक खिलौना मेरा बहुत प्यारा था । वह किसी कुम्हार या कारीगर का बनाया हुआ नही था । मेरी माता ने ही उसे बनाया था । वह बहुत दिनो तक माता की झापी मे पडा रहा । उन दिनो बक्स या ट्रक की चाल नही थी । सीको से बना गोला सदूक रगीन कपडे या चमडे से मढ दिया जाता था, जिसे भोजपुरी बोली मे 'झापी' कहते है ।

कुछ सयाना होने पर उस खिलौने की सुधि या ममता भूल गयी या मेरे छोटे भाइयो ने उसे तोड डाला । वह रग-बिरगे कपडो की कतरनो से बनी एक चितकबरी गाय थी, जो काठ की छोटी-सी पतली पटरी पर खडी होकर बछडे को दूध पिला रही थी । उसके गले मे छोटी-छोटी घटिया थी, जो कौडियो से मढी हुई रस्सी मे लटकती थी । उसके सीग पीले कपडे से मढे थे, जिसको मा सोना बतलाती थी । उसके खुर सफेद कपडे से बने थे, जिसे वह चादी कहती थी । जब मै उसके बछडे को अलग हटाकर खुद दूध पीने के लिए कहता था तब वह बहुत खुनसाती थी, क्योकि बछडा भी गाय की तरह पटरी पर जडा हुआ था, पर मैं इसी कारण ठिनकने लगता था, तो वह कही पडोस से दूध मगाकर मुझे फुसलाती थी ।

एक बार मैं उसी खिलौना-गाय का दूध पीने के लिए इतना मचल उठा कि चिरौरी करके मगाया हुआ दूध फेक दिया और अपना बघनखा या बिजायठ पानी मे भरे एक गड्ढे मे डाल दिया । मुझे इतना याद है कि बरसात के बाद गर्मी मे जब गडढा सूख गया तब उसकी मिट्टी काटते समय वह गहना निकल आया जिसे

दिखाकर माता ने हसते हुए मेरे हठ की कहानी सुनायी थी। मेरे सयाना होने पर, मेरी शादी होने पर मेरी पत्नी के सामने भी, मेरे बचपन की बाते कह-सुनाकर माता हसा-हसाया करती थी।

मै जब पाच साल का हो गया था, तब घर की हालत कुछ सुधरने लग गयी थी। मेरे दूध पीने के लिए जो गाय सबसे पहले मेरे घर आयी थी, वह पाच रुपये की थी और एक सेर दूध देती थी। उस समय फी सेर दूध पर पाच रुपये गाय का दाम था। मेरी माता की सेवा से उसका दूध बढ गया।

मेरे पाच साल के बचपन मे ही मेरे दूसरे छोटे भाई का जन्म हो चुका था। माता कहती थी कि मैने अपनी ही इच्छा से उसका दूध पीना छोड दिया था। अपने छोटे भाई को माता की छाती मे लगकर दूध पीता देखकर मै बहुत खुश होता था। उस बच्चे को मैं इतना प्यार करने लगा कि माता हम दोनो को एक साथ ही गोद मे लेकर हसी-खेल किया करती।

एक बार माता घर की चक्की मे गेहू पीस रही थी और मैने चुपचाप जाकर बच्चा-भाई को खाट के बिछौने से अपने कधे पर उठा लिया। वह अचानक रोया तो माता दौडी। तब तक मैं बच्चे को लेकर माता की ओर चल पडा था। किन्तु बच्चे के बोझ के साथ चौखट न लाघ सकने के कारण घर मे ही गिरफ्तार हो गया। माता ने हसते-हसते बच्चे को अपनी गोद मे उठा लिया, जिससे नाराज होकर मैं वही देहली पर लोटने लगा। बडी देर तक मै गुमसुम लोटता ही रहा। कभी-कभी माता उस समय की मेरी त्योरी-भरी आखो, फुलाये हुए गालो और बिचकाये हुए होठो की नकल करके बहुत हसाया करती थी। माता की वह मुद्रा आज भी मै दिल पर आकता और हर्ष-विषाद का अनुभव करता हू।

इधर मै बचपन से बालपन की ओर बढ रहा था, उधर घर मे गायो की गिनती भी बढती जा रही थी। मेरे पिता जो गाय खरीदते थे उसे बेचते कभी न थे। वह घर मे ही बूढी होकर मरती थी। सबसे पहली गाय बडी सूधी थी। उसे माता 'गगिया' कहा करती थी। उसी के दूध-दही-घी से मैं पाला-पोसा गया। उसके थन मे मुह लगाकर मै दूध पी लेता और वह चुप खडी पगुराती रहती। उसकी बछिया भी इतनी सूधी थी कि जब वह दूध पीने लगती तब मै भी उसका साथ देता। एक दफा बछिया ने हुमककर थन को झकझोरा, बस उसके सिर से मेरा सिर टकरा गया। बडे जोर की चोट लगी। लिलार पर काला-सा गोला उठ आया। बुखार तक हो गया। माता परेशान तो थी, मगर जब-तब मुह फेरकर हसती भी थी। मुझसे कहती थी—'तुम्हारे बिना गगिया की बछिया बहुत उदास है, सत्तू का घोल नही पीती, उठकर चलो, उसे मट्ठा पिलाओ।' इस तरह, ज्वर उतर जाने पर, माता बहलाकर घुमाने-फिराने लगी। मगर थनैला दूध पीना

छूट ही गया ।

जब घर मे दूध-दही की बढन्ती हुई, तब मै अन्न बहुत कम खाने लगा । मेरे छोटे भाई को उबाले हुए दूध की और दही की भी छाली नही रुचती थी, इसलिए दूध और दही की सारी छाली मेरे ही बाटे पडती थी । मुझे याद है कि प्यास लगने पर माता दूध ही पीने को देती थी, पानी कम पीने देती थी । शायद इसीलिए अन्न खाना कम हो गया । अन्न से मुझे परचाने के लिए माता थाली मे अलग-अलग कौर रखकर तोता, मैना, कबूतर आदि बनाती और गीत गा-गाकर खिलाती । खाते समय मै लगातार सिर हिलाकर जटाओ को फटफटाता था । माता कहती कि खाते समय सिर हिलाना नही चाहिए, क्योकि जटा की फटकार सुनकर डाली के पछी फुर से उड जायेगे, जल्दी खा लो चुपचाप । तब मै सिर न हिलाता । मगर कुछ ही चिडियो को चट कर उड जाता । वह बडे-बडे कौर खिलाती, इसलिए थोडे मे ही मै अघा जाता । वह कहा करती थी—

'जब खाओगे बडे-बडे कौर
तब पाओगे दुनिया मे ठौर'

मेरा नटखटपन कुछ उधम से भरा न था । माता तरह-तरह के अचार बनाया करती थी । अचार से बढकर अचार के घडे उसे प्यारे थे । मै खट्टा-तीता अचार तो छूता भी न था, पर मीठा अचार खूब खाता था । आगन मे तुलसी-चौतरे के पास गोबर के चौके पर अचार के घडे घाम मे रखे जाते थे । माता कुल काम खुद करती, किसी को कभी कोई घडा छूने न देती । आम और छुआरे के मीठे अचार मै बनते समय ही चख चुका था । घडो के मुह उघारकर उन्हे धूप मे रख माता कही किसी काम मे लग गयी । मै इतमीनान से मीठे अचार गपकने लगा । जब काफी खा चुका तब मेरी मौसी ने देखकर हसते हुए हल्ला किया । माता दौडी आयी । झट मुझे अलग उठा ले गयी । उस समय भी मेरी मुट्ठी मे अचार भरा था । मगर खाते-खाते पेट इतना अफर गया कि माता ने तुरत कोई घुट्टी पिलाई । मुट्ठी का अचार छप्पर पर कौवे को नसीब हुआ । अचार तो भ्रष्ट हुआ ही, उन घडो के लिए माता जिन्दगी-भर सचमुच रोती-कलपती रही । मुझसे कहती थी कि जैसे तुमको उबट-चुमटकर पाला-पोसा है, वैसे उन घडो को भी तेल से रिठाया था । उसका रोना-पछताना मुझे बहुत अखरता था । किन्तु बचपन का वह नटखटपन उसे हसाता भी कम न था ।

बड़े दुःख के साथ अपने अभाग्य की बात कहनी पडती है । मुझे बचपन मे बहुत नटखटपन करने का अवसर ही नही मिला । मुझे ऐसी कडी निगरानी मे रहना पडा कि नटखटपन मेरे पास आकर भी ललचकर भाग जाता था । फिर भी माता के सामने कभी-कभी नटखटपन कर ही गुजरता था । पर मेरे अभाग्य से

वह नटखटपन भी ऐसा न होता कि माता तग आकर डाट-डपट करे या झुझला उठे। वह मेरा नटखटपन देखकर बहुत हसती थी और मुझे नटखटपन करने के लिए बहुत बढावा भी देती थी।

एक बार अपने आगन मे ही मै एक पडोसी लडके के साथ खेलते-खेलते झगड पडा। पिताजी बाहर बैठकखाने मे थे। आवाज सुनकर भीतर आये। उस समय हम दोनो साथी कुश्ती लड रहे थे। पिताजी चुपचाप हसते हुए खडे रहे। माता चूल्हे के पास थी। पिताजी मेरे नखो को बराबर काटते-छाटते और साफ करते रहते थे, इसलिए मेरे पास उस लडाई मे कोई हथियार न था! हा, दात बडे चोखे थे। मेरे साथी ने अपने चोखे नखो से मेरे शरीर को लहूलुहान कर दिया। मैने भी अपने दातो से उसकी देह मे कई जगह खून निकाल दिये। किसी ने हम लोगो को छेडा नही, क्योकि पिताजी अलग से ही सबको मना कर रहे थे। जब हम दोनो उठा-पटक करके थक गये, तब अलग-अलग हटकर कहने लगे—अब आओ, आते क्यो नही, आ जाओ एक बार!

इसी समय पिताजी दरवाजे की ओट से प्रकट हुए और हम दोनो को बाहर ले गये। माता बार-बार मुझे अपने पास बुलाती रह गयी, पर पिताजी ने उधर न जाने दिया। बाहर आने पर गाव के दो आदमियो ने हम दोनो को गोद मे उठा लिया और हम दोनो की पीठ ठोकी जाने लगी। इसके बाद हम दोनो साथी एक साथ ही तेल लगाकर नहलाये गये। लडने के समय हम लोग तनिक भी रोये न थे, पर नहाने के बाद नोच-खसोट के घावो मे कुछ तकलीफ मालूम हुई इसलिए हम लोग रोने लगे। तब तिल के मीठे लड्डू दोनो हाथो मे दिये गये। बस, आसू की आखिरी बूदे गालो पर लुढककर लड्डुओ पर आ गिरी। खारा पानी भी मीठा हो गया!

मेरे पिताजी बहुत अच्छे रामायणी थे। जब कभी नौकरी से छुट्टी पाकर घर आते, सुबह-शाम दरवाजे पर रामायण की कथा हुआ करती। एक पाडेजी ऊचे से ऊचे स्वर मे रामायण बाचते और पिताजी भी वैसे स्वर मे अर्थ कहते। कथा सुनने के लिए गाव-भर के लोग जुट जाते। उन्ही लोगो मे एक किसान भी आता जो शिवजी का सच्चा पुजारी था। उसका नाम 'जगेसर' था। पर गाव के लोग उसे 'गोदी' कहते थे। उसने पूजा-फूल के लिए एक बहुत अच्छी फुलवारी तैयार की थी, जो यो तो बहुत छोटी थी मगर सुगन्धित फूलो से भरी हुई थी। वह दोनो जून बडी तैयारी से पूजा करता था। कथा मे भी आता तो अजली-भर फूल जरूर लाता। कभी-कभी शिवजी का प्रसाद 'फूलो का गजरा' भी लाता।

मै उसके साथ उसकी फुलवारी और मदिर मे जाने लगा। सूघने के लिए

वह फूल नही तोडने देता था। उसका कहना था कि फुलवारी शिवजी की है और इसका हरेक फूल शिवजी पर ही चढना चाहिए। उसने मेरे नाम का अर्थ मुझे समझाया और फूलो को सजाकर शिवजी का शृगार करना सिखाया। मै माला गूथना और बेलपत्ते पर रामनाम लिखना सीख गया। वह कुए से पानी भरकर देता और मुझसे मदिर धुलवाता। बाहर की जगत पर झाडू भी दिलवाता। वह बतलाता कि देवता की पूजा से बढकर है मदिर की सफाई। उसके सत्सग का मुझ पर सीधा असर पडा। मै सचमुच पुजारी बन गया। अब घर पर भी तराजू के बटखरे पर धमोई और भटकटैया के फूल चढाने लगा। लगोटिया साथियो के सग मिलकर सावन मे शिवजी का सोमारी-मेला भी लगता। इस खेल मे रामायण की कथा का नाटक भी होता था। जोर-जोर से अर्थ कहा जाता और जय-जयकार होती। चना-चबेना ही प्रसादी की तरह बाटा जाता। मेरी माता लुक-छिपकर देखती और जब हसती हुई प्रकट हो जाती तब हम लोग लजाकर भाग खडे होते। मुझे याद है कि आरा के हाई स्कूल मे दाखिल होने पर भी अपने छोटे बहनोई के छोटे भाई के साथ मै सोमारी-मेले का खेल खेला करता था।

मेरे गाव मे रासमडली वाले हर साल आते थे। उनकी लीलाओ की नकल भी बालमण्डली मे होती थी। ये खेल मेरे घर के आगन या बाहर के चौपाल मे ही होते थे। कभी-कभी दशहरे के लगभग रामलीला मण्डली भी आ जाती थी। जनकपुर के धनुषयज्ञ की रगभूमि मे हम छोटे लडको को भी श्रीराम-लक्ष्मण के साथ घूमना पडता था। उस समय मैं अपनी बातो से उन लोगो को और दर्शको को बहुत हसाता था।

छुटपन मे माता मुझे घर से दूर नही जाने देती थी। मै माता से पूछे बिना कही जाता न था। वह पुजारी किसान जब मुझे साथ मदिर ले जाता, मेरी माता से कह देता। माता की इस निगरानी या देख-रेख का नतीजा अच्छा ही हुआ। मैं गाव के खराब लडको के सग न पड सका। पूजा और कथा के असर से मन मे भावो का सस्कार अच्छा हुआ। पिताजी तो बराबर घर पर नही रहते थे, पर जब कभी आते थे, हर घडी अपने साथ ही रखते थे। उनके न रहने पर दोनो चाचा भी बडी कडी देखभाल रखते थे।

एक बार मैं लगोटिया साथियो के साथ चने के खेत मे साग खाने चला गया। दुपहरी हो आयी थी। मेरे बडे चाचा कही से उसी राह आ रहे थे। उन्हे देखते ही मैं झडबेरी की ओट मे छिप गया। उन्होने मुझे झुरमुट की आड मे देख लिया। पकडकर चुपचाप घर ले आये। रास्ते मे कुछ न कहा। माता के सामने लाकर मुझे अपने ही हाथो अपने कान पकडकर उठने-बैठने को कहा। माता ने

बीच-बचाव करते हुए उनसे कहा कि तुम भी लडकपन मे पेड पर चढकर जामुन खाते हुए पकडे गये थे तो पिटने से मैने ही बचाया था । मेरी माता ने ही चाचा को पाला-पोसा था । वह कहती थी कि कटोरे मे रखी हुई बासी रोटी टेढी हो जाती, तो बेलन से मुझे मारने लगते थे ! इस तरह मैं माता के लाड-प्यार के कारण प्रकृति की हरी-भरी गोद मे खूब खेलने का अवसर न पा सका । हा, एक बरसात मे लडको के बहकावे मे पडकर मै नदी-तीर निकल गया । वहा खुले मैदान की ऊची जमीन मे चूहो के कुछ बिल थे । गाय के चरवाहे लडके उन बिलो मे पानी उलीच रहे थे । जब भीतर ऊबकर चूहे निकल भागते, तब वे डडो से मारकर उन्हे वही पकाते और खाते । मैने भी पानी उलीचा । चूहो के साथ भी दौडा और मास भी खाया । किसी ने उधर से आकर मेरे घर खबर दे दी । मेरे छोटे चाचा वहा पहुच गये । उन्हे आया देख मै डर गया । पर उन्होने मारा-पीटा नही, बडे जोर से हाथ पकडकर बडी तेजी से घर की ओर ले आये । सयोग बिगडा हुआ था । पिताजी बाहर से आ गये थे और मुझे देर से तलाशते थे । उनको देखते ही मै सिटपिटा गया । छोटे चाचा ने ही मेरी ओर से काफी वकालत की । पिटने से जान बच गयी , पर दड यही मिला कि जब तक पिताजी गाव रहे, मुझे घर के अन्दर माता के पास न जाने दिया । मैं कलपकर रह गया ।

मेरे गाव के एक लगडे गुरुजी लडको को पढाते थे । वे गहमर (गाजीपुर) के निवासी कायस्थ थे । उनका नाम भी याद है—तिलकधारी लाल । सूधा आदमी थे । लडको को मारते भी और रोने पर गोद चढाकर दुलारते-पुचकारते भी । हर सनीचर को पाठ-पूजा होती थी । सब लडको की जगह पर मिट्टी की छोटी बेदी बनी रहती थी । वही बेदी 'पाठ' कहलाती थी । उसी पर सूखे गोबर के जले हुए कडे की बुकनी पोतकर उजली खली से लिखना पडता था । अपनी-अपनी वेदी सब लडके गाय के गोबर से लीपते । उसके बाद गुरुजी के साथ सब नदी नहाने जाते । तब अच्छत, फूल, गुड और गन्ध-धूप से सरस्वती की पूजा होती । भिगोया चावल और गुड प्रसाद मिलता । एक-एक पैसा भी सबको चढाना पडता । उन दिनो गोरखपुरिया पैसा ही चालू था, जिसे भोजपुरी मे 'बुटवलिया' भी कहते थे । मेरा पैसा कई बार नदी मे ही गिर गया । एक लडका बडा गहरा पनडुब्बा था । वह नदी की तह से पैसा निकाल लेता था । एक दिन गुरुजी ने ताड लिया । सब लडके उसे लुलुआने लगे । वह गरीब ब्राह्मण-बालक था । जितनी बार जितने लडको के पैसे भूले थे, सब जोडकर गुरुजी ने उस पर जुर्माना किया । मेरे कितने पैसे थे, कुछ याद नही । पर मेरी माता ने यह सुना, तो चुपके से जुर्माने के पैसे उसके घर भिजवा दिये । इसका असर यह हुआ कि

नदी मे कभी कोई पैसा मिलता, तो वह पहले मेरे पास आकर पूछ लेता कि वह मेरा तो नही है। यह बात आज मेरी समझ मे आती है कि मनुष्य पर उपकार का प्रभाव जरूर पडता है।

गावो मे घर-घर ढेकी चक्की चलती थी। सभी किसान और गृहस्थ गाय पालते थे। बस्ती से बाहर गोचर-भूमि काफी रहती थी। गाव के उत्तर और पूरब घने जगल थे, जिसमे कई तरह के जगली फूल-फल मिलते थे। उनमे जगली सूअर,, नीलगाय और हिरन भी देखे जाते थे। गावो मे अधिक-से-अधिक दूध आसानी से मिल जाता था। किसी को दूध खरीदने की जरूरत नही पडती थी।

मेरी दादी धान की बालियो के गुच्छो को चोटी की तरह गूथकर छप्पर की ओलती मे टाग देती थी। उसी तरह मिट्टी की कडाही मे जल भरकर छीके पर रख लटका देती थी। यह दाना-पानी चिडियो के लिए था। मुझे गोद मे लेकर वह घर के पास पीपल की जड मे जल देने जाया करती थी। पीपल के पास ही ऊचे टीले पर चीटियो के बिल के पास सत्तू और गुड की बुकनी बुरकती थी। आगन मे तुलसी के पौधे के सामने रोज शाम को घी का दीप जलाती थी। घी के अभाव मे वह तिल के तेल से भी काम लेती थी। दादी के प्यार का सुख अधिक समय तक नसीब न हुआ, पर वह आज भी उसके स्नेह की अनुभूति से मन को भर देता है।

मेरी माता भी मेरे बचपन का सुख अधिक दिन नही पा सकी। पर जितने दिन भी उसके प्यार-दुलार का सुख मिला, वही इतना अधिक था कि आज तक उससे हृदय भरा हुआ है। हर घडी उसके स्नेह की स्मृति बनी रहती है। सचमुच ससार मे माता के ऋण से कभी किसी का उद्धार नही हो सकता। थोडी ही अवधि मे मिला सही, माता के स्नेह का सुख जीवन भर के लिए मन-भरन कलेवा है। आज भी यही बात ध्यान मे बसी हुई है कि जीवन मे जो शुभ और सुन्दर मिला है, वह माता-पिता के पुण्य का ही प्रभाव है।

अपनी माता को मैने प्रात काल से सध्या तक काम-काज करते देखा था। दूध-दही और अचार के घर (भडार) को वह प्रतिदिन गोबर से लीपती-पोतती थी। यह काम वह अपने ही हाथो रोज करती थी। चावल-दाल अमनिया करना आगन और ओसारा बार-बार बुहारना, बाहर निकलने के दरवाजे और भडारघर मे रोज शाम को अपने ही हाथो दीपक जलाना, पालतू कुत्ते को दोनो समय मिट्टी के पात्र मे भोजन देना, दोनो ही समय खुद तौलकर रसोईघर मे सीधा (अन्न) देना, सबके खा चुकने के बाद स्वय भोजन करना—यह उसका नित्य नियम था। घर-भर के लोगो के पुराने कपडे धोबी से धुलवाकर अपने पास रखती

जाती थी। समय पाकर मरम्मत करके काम मे लाती थी। पिताजी जो नये कपडे देते और जाडे मे नयी रजाई बनवाते उन्हे वह गाव की बूढी ब्राह्मणियो को दे डालती थी। पुराने धुले कपडो की सिली सुजनी खुद ओढती थी। सुजनी बहुत सुन्दर बनाती थी। उस पर वेलबूटे भी काढती थी। सीक की चगेली और डलिया मे भी लाल-हरे रग के चित्र बनाती थी। विशेष रूप से अतिथि के सत्कार मे उसकी सच्ची लगन थी। अतिथि का आना सुनते ही वह उसकी सेवा की तैयारी मे तत्पर हो जाती थी। जरूरत पडने पर इस काम के लिए अपना गहना भी बधक रखकर स्वागत के सामान मगा लेती थी।

माता के स्वभाव से पिताजी बहुत प्रसन्न रहते थे। वे उसे दान-पुण्य मे हमेशा उत्साहित करते रहते थे। कहा करते थे कि बाल-बच्चेवालो को दीन-दुखियो पर हरदम खयाल रखना चाहिए। वे स्वय भी परोपकार करने मे अपनी औकात या हैसियत का खयाल नही रखते थे। उनके ऐसे कामो मे माताजी का सहयोग भरपूर रहता था। मेरे दोनो चाचा भी उनके सभी कामो में दिल-जान से शामिल रहते थे। वैसे भाई और दम्पति अब बहुत कम नजर आते है। ईश्वर की कृपा से ही परिवार मे आपस का प्रेम निबहता है।

•

मै जब लगभग सात-आठ साल का था तभी पिताजी ने मुझसे घर छुडा दिया। मै अपनी छोटी फूफी के यहा भेज दिया गया। वह मेरे पिता की सबसे छोटी बहन थी। उस पर पिताजी का इतना अधिक स्नेह था कि उससे बहन के बदले बेटी का नाता निबाहते थे। वह भी उनको बडा भाई के बदले बाप ही मानती थी। उनके मरने की खबर पाकर वह भी मौत के मुह मे समा गई। उसके पति—मेरे फूफा—अगरेजी पढे हुए थे। उन्ही से अगरेजी सीखने के लिए मै घर से अलग किया गया। फूफी के नेह-छोह मे घर बिसर गया। पर माता का हृदय बराबर बेचैन ही रहा। वह हमेशा कोई-न-कोई खाने की चीज मेरे लिए भेजती ही रहती थी। उसकी सौगात देखकर फूफा बहुत हसी करते थे, क्योकि वह पकवानो के साथ मकई और चने के सत्तू का—चीनी मिला—घेवर भी भेजा करती थी, जो मुझे बहुत रुचता था। उनकी हंसी पर फूफी कह देती थी—महतारी का कलेजा मर्द कैसे पहचानेगा ?

फूफा की छोटी बहन अधी थी, विधवा भी। फूफा-फूफी को उसकी सेवार करते देख मै भी उसकी सेवा करने लग गया। वह भी मुझे हथेली का फूल बनाये रहती थी। उसी की गोद मे रात बीतती थी। वह कहा करती थी कि मुझे पाकर वह अपनी आखे पा गई। रोज रात मे सोते समय वह मेरी देह मे तेल की मालिश करती थी। उसी समय कहानी भी कहती जाती थी। उसके लाड-प्यार ने फूफी और माता के लाड-प्यार से भी बाजी लगाई। उसका हाथ पकडकर मै उसे इधर-

उधर ले जाता था। मेरे आसरे वह बैठी रहती थी। अपनी माता और फूफी की भी उतनी सेवा उस समय तक मैने नही की थी। उसे पानी और भोजन की थाली भी मैं ही हठ करके पहुँचाता। आजकल की कोई भी भाभी अपनी अधी बेवा ननद की वैसी सेवा न करेगी जैसी उसकी सेवा फूफी करती रही। मैने अधी फूफी को सेवा का सारा बोझ अपने ऊपर ले लिया। सेवा मे आनन्द पाने की शिक्षा वही पहले-पहल मिली थी। उस समय तक माता और फूफी ने तो कभी अपनी सेवा करने का मौका ही नही दिया था। परन्तु किसी पिछले जन्म की वह अधी माता मुझसे अपनी सेवा कराने और खुद मेरी सेवा करने मे बहुत सुख पाती थी। उसी अधी देवी की गोद, मुझे सेवा का पहला पाठ पढाने के लिए पाठशाला बनी। आज भी गुरुजनो की सेवा मे सुख पाता हू।

फूफा से मैंने अगरेजी की पहली किताब (फर्स्ट बुक) पढी और उनके बूढे पिता से उर्दू की पहली किताब—उर्दू-आमोज। पिताजी वहा जब-तब आया ही करते थे। वे मुझे तुलसीदासजी की रामायण की चौपाइया और उसके दोहे याद कराया करते थे। एक चौपाई याद करके ठीक-ठीक सुना देने पर मुझे एक पैसा देते थे और एक दोहे के लिए दो पैसे। पिताजी चाहते थे कि मुझे कोई रामायण भी पढा दिया करे, पर फूफा का खानदान उर्दू-दा था, इसलिए मेरे बडे बहनोई मुशी कालिकाप्रसाद ने मुझे रामायण पढा देने का जिम्मा लिया। पिताजी ने मुझे उनके पास भेज दिया। फूफी और उसकी ननद ने वहा जाने से बहुत रोकना चाहा, कई दिन अन्न-जल तक छोड दिया, पर पिताजी मुझे पढाने-लिखाने के मामले मे बहुत कठोर थे। वे मेरी माता के आसुओ की भी चिन्ता नही करते थे। होली-दशहरे मे भी वे मुझे घर नही जाने देते थे। उन्हे आशका थी कि माता मुझे अधिक दिनो तक घर पर रोक लेगी।

मैं जब चार-पाच वर्ष का था, तभी उन्होने दादी और माता का सग छुडा दिया। जब गाव आते तब अधिकतर अपने ही साथ रखते। किसी बुरे लडके के साथ खेलने नही देते थे। अपने साथ नहलाकर सूर्य-नमस्कार कराते और रामायण के चित्रो को दिखलाकर उनकी कहानी सुनाते थे। उनकी इस कडाई का नतीजा अच्छा ही हुआ। जहा कही मेरा लाड-प्यार अधिक देखते थे वहा से मुझे हटा देते थे। वे हरदम यह बात दुहराया करते थे कि अधिक लाड-प्यार से लडके बिगड जाते हैं। पढने-लिखने के समय उन्होने कभी दुलार न किया, खाने-पीने मे भी नही। माता और फूफी को चेतावनी देते रहते थे कि ठीक समय पर ही खिलाया करो। मुझे भी सिखाते रहते थे कि कभी बे-हिसाब मत खाया करो। मेरे पेट का अन्दाज समझकर अपनी थाली से भी मुझे उठा देते थे। मुझे देहाती लडको के सग-साथ रहने देना भी उन्हे पसन्द न था। फूफा को भी इस बात मे सख्त जानकर ही मुझे उनको सौंपा गया था।

जब मैं अपने बडे बहनोई की देख-रेख मे रहने लगा, तब अगरेजी की दूसरी किताब (सेकण्ड बुक) पढता रहा। मगर उसके शुरू का कुछ हिस्सा ही पढ सका, क्योंकि वहा उर्दू-फारसी के मदरसे मे दिन-भर पढता था। रात मे थोडी देर अगरेजी पढता था और फिर रामायण भी। मेरे बहनोई के पिता भी रामायण के बडे प्रेमी थे। उन दिनो वहा काशी-नरेश के बनवाये हुए महाभारत की भारी-भरकम पोथी रोज पढी-सुनी जाती थी। उस महाभारत के भीष्म-पर्व से मेरे बहनोई ने भगवत्-गीता की नकल की थी।[1] मेरे बहनोई ने एक दूसरे छपे हुए सचित्र ग्रथ की भी नकल की थी। यह ग्रथ अयोध्या-नरेश का प्रकाशित किया हुआ 'रस-कुसुमाकर'[2] था। उसके चित्रो को मुझे दिखलाकर मेरे बहनोई उनका भाव समझाया करते थे। वह ग्रथ खरीदने मे कही मिलता न था, इसलिए उन्होने अक्षर-अक्षर उनकी नकल कर डाली।

महाभारत की कथाओ मे भी मेरा मन खूब लगता था। कई कथाओ को उसी बडे पोथे से मैंने एक कापी मे उतारा था। वह कापी भी आज तक मेरे पुस्तकालय मे है। मेरे बचपन के लिखे अक्षर उसी कापी मे है। इस तरह हिन्दी-साहित्य का प्रेम, बचपन मे मुझे अपने बडे बहनोई से ही मिला। वे ब्रजभाषा की कविता के बडे रसिक थे। उन्होने 'रस-कुसुमाकर' से कई कवित्त-सवैये मुझे याद करा दिये थे। हिन्दी के पुराने कवियो के सम्बन्ध मे बहुत-सी बाते वे सुनाया करते थे। उनके गुरु पडित धनञ्जय पाठक[3] सस्कृत और ब्रजभाषा के अच्छे

---

१. यह सुन्दर अक्षरो मे लिखी भगवत्-गीता अभी तक मेरे बड़े बहनोई के पुस्तकालय मे सुरक्षित है।

२. 'रस-कुसुमाकर' की यह हस्तलिखित प्रति अब बिहार-राष्ट्रभाषा परिषद् (पटना) के प्राचीन-ग्रन्थ-शोध-विभाग मे सुरक्षित है।

३ 'बाबू कुअरसिंह की राजधानी 'जगदीशपुर' से दो कोस दक्खिन-पच्छिम 'बम्हवार' गाव है, जहां मैं बचपन मे अपने बडे बहनोई के घर रहकर मदरसे मे उर्दू-फारसी पढता था। उन्ही दिनो उस गाव मे एक ब्राह्मण (जगपति चौबे) लडको को बाबू साहब की कहानिया सुनाया करते थे। उस समय वे नब्बे वर्ष के अत्यन्त वृद्ध थे। वे बाबू साहब के दरबार मे नौकरी कर चुके थे और अपनी आखो-देखी बाते कहा करते थे। उनके पुत्र देशपति चौबे भी, जो सत्तर वर्ष की आयु मे मरे, बहुत-सी बाते सुनाया करते थे, क्योंकि दिलीपपुर दरबार मे वे अनेक वर्ष रह चुके थे। दिलीपपुर-दरबार के सभा-पंडित श्री धनजय पाठक से भी, जो मेरे बड़े बहनोई के गुरु थे, मैंने बाबू साहब के कविता-प्रेम की बहुत-सी बाते सुनी थी।'

विद्वान थे। पाठकजी के पास उनके साथ मै बराबर जाया करता था। इसी सत्सग मे साहित्य का प्रेम पैदा हुआ।

मकतब मे पढानेवाले मौलवी साहब भी मुझ पर बडे मेहरबान थे। 'करीमा', 'खालिकबारी', 'आमदनामा' और 'गुलिस्ता' उन्होने शुरू कराया। फारसी की इन किताबो को दिन-भर घोखते रहना पडता था। वे मानी मतलब भी बतलाते थे, मगर उसको भी तोते की तरह रटना ही पडता था। बीच-बीच मे तख्ती-लिखाई जाती थी। अक्षर सुन्दर न होने पर खजूर की छडी से हथेली और पीठ की पूजा होती थी।

किताबो को रटकर याद कर लेना बडा कठिन था। मगर मौलवी साहब की छडी उस कठिन को भी सरल बना देती थी। उसी घडी ने अदब-लिहाज भी सिखाया और उसी छडी के प्रताप से लिखावट मे भी सुघरायी आयी। देवनागरी अक्षर लिखने का अभ्यास भी काठ की पट्टी पर ही कराया जाता था।

मेरे बहनोई जब उस बडी पोथी की नकल करने बैठते थे, तब मैं भी उनके पास ही बैठकर उनके सुडौल अक्षरो की देखा-देखी अपनी कापी पर महाभारत के छन्दो को उतारता था। मेरे पिताजी की तरह उनके पिताजी भी सुन्दर अक्षरो की लिखावट पर बहुत ध्यान देते थे।

मेरे पिताजी जब मेरी फूफी के यहा आते थे तब शब्दो के उच्चारण की परीक्षा लेते थे और कॉपी पर देवताओ के नाम लिखवाते थे। कभी-कभी तुलसीदासजी की खूब सरल चौपाई लिखवाते, भूल करने पर भी कभी डाटते या मारते न थे, बल्कि बडे प्यार से मीठी-मीठी बाते कहकर सही बात बतला देते थे। बहुत बचपन में कालिख से पुती हुई मिट्टी की छोटी वेदी (पाठ) पर उजली खली से सुन्दर अक्षर रचे गये थे और अब काठ की छोटी तख्ती (पाटी) पर कील की कलम और चावल की बनी रोशनाई से सुन्दर अक्षर संवारे जाते थे। उन दिनो सुघर लिखावट पर बहुत अधिक ध्यान दिया जाता था। पढाई से लिखाई पर कम सख्ती न थी। अच्छे अक्षरो की बनावट पर बूढे बहुत खयाल रखते थे। मैने अपने गुरुजनो से इसके लिए कई बार इनाम पाये थे।

मेरे बहनोई के यहा साप्ताहिक 'हिन्दी-बगवासी' कलकत्ता से आया करता था और उर्दू का 'पैसा अखबार' लाहौर से। उनके पिता मुझसे दोनो पढवाकर सुनते थे। टटोलकर दस-बीस पाती मैं पढ सुनाता था। इसके लिए भी मिठाई की बधेज थी। गलत-सही के लिए माफी थी। सिर्फ पढकर सुनाना ही काफी था। शक्कर का लड्डू या बताशा उसी छन मिल जाता था।

उन पुराने लोगो के प्यार की मिसाल भी अब कही नही मिलती। उसी समय अखबार पढ़ने का चसका लगा। हाई स्कूल मे जाने पर भी यह लगन लगी

रही । बीज कहा कब कैसे बोया गया और कहा कब कैसे पनपकर फूला-फला, यह सोचने पर समय की महिमा और ईश्वर की विचित्र लीला का ध्यान हो आता है ।

जहा तक मुझे याद है, सन् १९०३ ई० की जनवरी मे, 'आरा' नगर के एक हाईस्कूल (कायस्थ जुबली एकेडमी) के सातवे दर्जे मे मेरा नाम पहले-पहल लिखाया गया । पूज्य पिताजी की इच्छा थी कि मै हिन्दी पढू, पर मेरी इच्छा उर्दू-फारसी पढने की ही हुई, इसलिए पिताजी भी राजी हो गये । वे भी फारसी ही पढे हुए थे और उर्दू मे दस्तावेज का मजमून लिखने मे मुशी माने जाते थे ।

उस समय सातवे दर्जे मे सिर्फ उर्दू ही पढाई जाती थी, चौथे दर्जे से पढाई फारसी से शुरू होती थी । उन दिनो आज का मैट्रिक क्लास, आखिरी दर्जा होने पर भी, पहला दर्जा (फर्स्ट या इण्ट्रेस क्लास) कहलाता था और हाईस्कूल की पढाई आठवे दर्जे से शुरू होती थी, जो सबसे नीचे का दर्जा था । आठवे से पहले दर्जे तक आठ वर्ष समय लगता था । हाईस्कूल मे नाम लिखाने के समय मेरी उम्र दस साल की थी, पर शायद छ-सात साल की ही लिखाई गई थी, जिसका नतीजा यह हुआ कि इण्ट्रेस क्लास के सालाना इम्तहान (टेस्ट) मे पास होने पर भी, चौदह साल का होने के कारण, मै विश्वविद्यालय परीक्षा के लिए चुना नही गया —'सेण्ट अप' नही हुआ । उन दिनो यह नियम था कि सोलह वर्ष से कम का बालक विश्वविद्यालय परीक्षा मे नही बैठ सकता । हा, उर्दू पढने के लिए मेरे हठ करने का कारण यह था कि जहा मै पिताजी के साथ रहता था वहा अनेक विद्यार्थी थे, और सब-के-सब उर्दू-फारसी ही पढते थे । वे ही मेरे असली सलाहकार थे । मै भी उस समय तक मौलवी साहब के देहाती मदरसे मे थोडी-बहुत उर्दू-फारसी पढ ही चुका था । वहा ऊचे दर्जे के विद्यार्थियो को अरबी पढते देख, बचपन के कुतूहली स्वभाव के कारण उनके विचित्र उच्चारणो का मुझ पर बडा असर हुआ । मैं उनके भारी-भरकम उच्चारणो को दुहरा-तिहरा कर कौतुक किया करता था । उनको पढाने के लिए जो मौलवी आते थे, वे भी मुझे उर्दू ही पढने की राय देते थे, बल्कि वे रोज ही मेरी उर्दू-लिखावट की तारीफ करते हुए मेरे पिताजी से कहा करते थे कि यह लडका मदरसे मे फारसी भी पढ चुका है— इसलिए शुरू से ही यह उर्दू मे बहुत अच्छा निकलेगा । तब भी पिताजी मुझे हिन्दी ही पढाना चाहते थे । वे खुद भी फारसी के अच्छे जानकार थे । उर्दू के तो मुशी ही थे, पढाते समय मौलवियो को भी टोक देते थे । मगर वे तुलसीदासजी की रामायण के बड़े भक्त थे और मुझे समझाया करते थे कि जबान दुरुस्त करने भर उर्दू-फारसी पढ ही चुके, अब हिन्दी पढो कि अपने पुरखो के गुण और देश की महिमा का ज्ञान हो ।

शुरू मे तो मेरी ही इच्छा को उन्होने मान लिया, लेकिन अन्त मे उनकी ही इच्छा सफल होकर रही, क्योकि इण्ट्रेस मे पहुचते ही, हिन्दी पढनेवाले अपने कुछ साथियो की सलाह से, मैने एकाएक हिन्दी पढना शुरू कर दिया। उर्दू-फारसी मे बराबर मैं अच्छे नम्बर से पास होता आ रहा था, मगर सग-साथ का असर सचमुच बडा जबरदस्त होता है। शुरू के सभी साथी उर्दू वाले थे, इसलिए बालमडली मे उर्दू का ही प्रस्ताव पास हो गया। लेकिन ऊपर के क्लासो मे हिन्दीवाले साथियो मे ही हिल-मिल गया, इसलिए पिताजी की इच्छा का सस्कार बलवान हो उठा।

पिताजी सन् १६०६ ई० मे ही स्वर्गवासी हो चुके थे, इसलिए वे अपनी इच्छा पूरी होते नही देख सके। किन्तु उनकी आत्मा शायद स्वर्ग मे असीसती रही, इसलिए उर्दू-फारसी का विद्यार्थी होने पर भी मैं हर एक परीक्षा मे हिन्दी मे भी पास होता चला आया। हिन्दी परीक्षा मे पास होते जाने का मुख्य कारण यह हुआ कि उन्होने मुझे तुलसीकृत रामायण का पाठ करना सिखा दिया था। छुटपन से ही मैं उनकी आज्ञा से दोहे-चौपाइया याद करके उन्हे सुनाया करता था। जनकपुर की सभा मे लक्ष्मण और परशुराम की बातचीत, लका की सभा मे रावण और अगद की बातचीत तथा लक्ष्मण और मेघनाद की लडाई की कहानी सुनाने के लिए मैं उन्हे प्राय बहुत तग किया करता था। हर दफा वे यही तीन कहानिया मुझे सुनाते थे, क्योकि मैं और कोई कहानी उस समय पसन्द नही करता था। बाद मे फिर उन्होने रोज सुबह नहा-धोकर रामायण का पाठ करने की आदत लगा दी। पाठ का वह अभ्यास अब तक है, मगर उस समय उस नित्य पाठ के अभ्यास का बहुत बडा प्रभाव मेरे चाल-चलन पर पडा।

उन दिनो देश मे हलचल मचानेवाला कोई आन्दोलन नही था। वैसा खलबली मचानेवाला कोई अखबार भी न था। उन दिनो का बिहार इन सनसनीदार चीजो से अछूता था। देशी-विदेशी भाषा मे जो दो-चार अखबार थे उनको गिने-चुने आदमी ही पढते थे। कोई नेता भी ऐसा प्रसिद्ध नही था जिसका नाम सब लोग जानते हो। विद्यार्थी सजग और सचेत नही थे। उनका कोई सगठन नही था। किन्तु बगाली विद्यार्थियो का दल हर जगह स्वदेशी-आन्दोलन की सभा करता था। केवल स्कूलो मे सरस्वती-पूजा भी उन्ही की ओर से होती थी। हिन्दी का भी बोलबाला आज-जैसा नही था। हर जगह अगरेजी की ही तूती बोलती थी। बिहार के स्कूलो मे आधे से भी अधिक शिक्षक बगाली विद्वान् ही थे। सौ मे नब्बे-पचानबे लड़के उर्दू-फारसी पढनेवाले थे। इसलिए क्लास के कमरे मे मौलवी साहब के आते ही दो-चार हिन्दी-छात्र पडितजी के पास चले जाते थे। पडितजी कही बरामदे के कोने या किसी छोटे मामूली कमरे

मे अकेले बैठे रहकर पढाया करते थे। हिन्दी के विद्यार्थी बहुत सीधे-सादे होते थे। मौलवी साहब प्राय कहा करते थे कि जो ठेठ देहाती गवार और उजबक है वे ही हिन्दी पढते है।

विद्यार्थियो को ऊचे दर्जे मे भी शारीरिक दण्ड दिया जाता था। मेरे हेडमास्टर हरेक विद्यार्थी के चाल-चलन पर हमेशा कडी निगाह रखते थे। खराब चाल-चलन के कारण करीब-करीब हर हफ्ते दो-चार बार बेतबाजी होती थी। हेडमास्टर खुद बेत मारते थे। बेतो की कोई गिनती नही हो सकती थी। देह पर नीली साटे उखड आती थी सयाने लडको की तो दुर्गति हो जाती थी। बदचलन लडको के लिए हेडमास्टर यमराज से कम न थे। उनकी कडाई और पढाई सारे शहर मे मशहूर थी। बहुत अच्छा पढाते और बडी बेदर्दी से मारते-पीटते थे। उनका नाम श्रीशिवानाथ गुप्त था। वे बगाली थे। हिन्दी के प्रसिद्ध लेखक पडित ईश्वरीप्रसाद शर्मा के बडे भाई पडित गुरुदेवप्रसाद शर्मा भी मेरे ही स्कूल मे मास्टर थे। वे भी बदमाशो के काल कहे जाते थे। उनसे भी लडके थर्राते थे। बेतबाजी मे वे भी बडी सख्ती करते थे। हेडमास्टर की तरह ही वे भी एक आदर्श शिक्षक माने जाते थे। इन दोनो का पढाने का तरीका इतना अच्छा था कि विद्यार्थी इनके भक्त बने रहते थे। ये दोनो ही बहुत सुन्दर अक्षर लिखते थे। खराब अक्षर लिखनेवाले लडके इनसे जरूर दण्ड पाते थे। शारीरिक दण्ड की कठोरता से आतक छाया रहता था। मास्टरो से गुस्ताखी करने की हिम्मत लडको मे नही थी। किन्तु अच्छे स्वभाव के पढाकू लडको को प्यार और पुरस्कार भी काफी मिलता था। सुशील और परिश्रमी लडको की पहुच हेडमास्टर तक बेधडक होती थी। बडे-बडे बिगडैल भी स्कूल मे भीगी बिल्ली बने रहते थे। गुरु मे चेलो की श्रद्धा हृदय से थी, केवल डर से नही। कारण, आदर्श-चरित्र शिक्षको की सख्या ही अधिक थी।

मेरे माता-पिता ने बहुत नन्हेपन से मुझे बराबर सुचाल की शिक्षा दी। अदब-लिहाज सिखाने मे भी उन्होने कभी कोताही नही की। अपने खिलाडी साथियो के साथ जब मै माता के पास कुछ खाने को मागने पहुचता तब वह गाव के उन बच्चो को भी मेरे हिस्से मे से बाटकर देती थी। स्कूल के कुछ साथी जब मेरे साथ आते थे तब पिताजी उनको भी मिठाइया बाटते थे। सस्ती के वे दिन तो लद गये! लेकिन उन्होने कभी मुझे किसी के साथ खाने नही दिया। स्कूल मे पानी पिलाने-वाले नौकर को पैसा और परबी इनाम दिया करते थे कि हरदम गिलास माजकर मुझे पानी पिलाया करे। कभी बाहर जाते तो घर के नौकर और रसोइया को सब बातो की ताकीद कर जाते। लौट आने पर रोज-रोज का सारा हाल पूछते। कभी-कभी स्कूल मे भी जाकर मेरे मास्टरो से कह आते थे—खराब लडको के

साथ मत खेलने दीजिए। हमेशा बडो का आदर करना, दातो को साफ रखना, नाक मे उगली न डालना, रोज सबेरे उठकर बडो को प्रणाम करना, चौके मे खाने से पहले हाथ-मुह धो लेना, मुह से कभी किसी के लिए गाली न निकालना, अपनी कॉपी और किताब को साफ जगह मे सरियाकर रखना, कभी किसी के डर से झूठ न बोलना, इसी तरह की और भी बहुत-सी बाते बतलाते रहते थे। छोटी-से-छोटी बात भी कडी चेतावनी के साथ सिखलाते थे। उनके उपदेशो ने मुझे बहुत सभाला। पग-पग पर शिष्टता की सीख उन्ही से मिली। अनुशासन पर उनका बहुत ध्यान रहता था। जिन्दगी की नीव वे ही जमा गये।

उन दिनो बिहारी छात्रो की एक सभा थी, जिसका एक वार्षिक अधिवेशन आरा नगर के जिला-स्कूल मे हुआ था। उसी मे पहले-पहल मैंने डॉक्टर सच्चिदानन्द सिन्हा को देखा था। उसमे सबके भाषण अगरेजी मे ही होते थे। प्रसिद्ध बैरिस्टर हसन इमाम साहब और सिन्हा साहब को उसी मे पहले-पहल अगरेजी बोलते सुना था।

जब स्कूल मे नाम लिखाया गया तब मै अपनी दूसरी बडी बहन के साथ रहकर पढने लगा। मेरे छोटे बहनोई भगवानजी सहाय के पिता श्रीगोपालजी सहाय मेरे अभिभावक थे। छोटे बहनोई के छोटे भाई गजाधर प्रसाद मेरे दिन-रात के साथी और प्रिय मित्र थे। रसोइया बाबाजी के साथ हम दोनो को प्रति रविवार की शाम को बाजार जाकर खाने का सामान खरीद लाना पडता था। हम दोनो हाईस्कूल के सातवे दर्जे मे पढते थे।

मुझे याद है कि उस समय बढिया भुजिया चावल एक रुपये का पक्का चार पसेरी मिलता था। अरहर की अच्छी दाल का भाव पक्का दो पसेरी था। पक्का एक सेर आलू एक आने मे और दो पैसे मे फूलगोभी की एक गाठ। दूसरी चीजो की बिक्री की दर याद नही, पर एक देहाती ग्वाला ढाई रुपये सेर शुद्ध घी बराबर दे जाया करता था। सुबह मे घर पर और दोपहर को स्कूल मे नाश्ते के लिए एक-एक आना पैसा रोज मिलता था। एक आने मे चार कचौडिया और चार जलेबिया मिलती थी—अर्थात् एक पैसे मे दो-दो। उन दिनो आटा पीसने वाली कल शहर मे भी कही नही थी, सर्वत्र घरेलू चक्की का आटा ही मिलता था और नकली या मिलावटी घी का नाम तो सपने मे भी नही सुन पडता था। लडको के लिए धोती दस आने मे और सयानो के लिए एक रुपये मे अच्छी मिल जाती थी। उस समय सभी खुशहाल दीख पडते थे। उससे भी पहले के बीते समय की चर्चा सुनकर बडा आश्चर्य और आनन्द होता था।

यहा एक बहुत पुरानी बात का उल्लेख मनोरजक होगा। सन् १९०८ की घटना है। आरा नगर मे महादेव नामक एक अधेड हलवाई रोज मिठाइयो की

प्रभातफेरी करता था। हम विद्यार्थियो का वह मिठाई का मोदी था। वह अपनी बोली मे स्वय भजन बनाकर गाता था। उसके पास अपनी बिक्री बढाने का यही एक आकर्षक साधन था। उसका बनाया और लिखवाया हुआ एक भजन हमारे पुराने सग्रह मे मिला है—

सिव जोगी होके बइठे जगलवा मे।
भसम बघम्बर साप लपेटे,
बइठे बरफ के बगलवा मे ।।सिव०।।
अपने त ओढेले हाथी के छलवा
जगदम्मा सोहेली दुसलवा मे ।।सिव०।।
आगे गजानन खडानन खेलसु,
गौरी बिराजस बगलवा मे ।।सिव०।।
माता के नेह बाटे सिघवा खातिर,
बाबा मन बसेला बएलवा मे ।।सिव०।।
लड्डू आ पेडा से थार भरल बा,
भाग भरल बा गगलवा मे ।।सिव०।।
जे सुमिरे नित भोला बबा के,
मगन रहे ऊ मगलवा मे ।।सिव०।।
जे केहु रोज चढाई बेलपतिया,
गिनती ना होई कगलवा मे ।।सिव०।।
सिवजी के छोह बडा बरियारा,
पाप के पछारे दगलवा मे ।।सिव०।।

ऐसे-ऐसे बहुतेरे भजन उसने बनाये थे। उस समय हमे देशी बोली की कविता के महत्त्व का कुछ ज्ञान नही था। यह भजन तो शिव-भक्ति की प्रेरणा से लिख लिया था। यदि उस समय हम लोकभाषा का थोडा भी महत्त्व जानते होते तो अपने गाव के स्वर्गीय अम्बिका अहीर के बनाये हुए जोशीले बिरहो को भी लिख लेते, जिन्हे वह डुग्गी बजाकर अपनी जवानी के ओजस्वी कण्ठ से गाता था। उन बिरहो मे 'लका-दहन' और 'मेघनाद की लडाई' का ऐसा सजीव वर्णन था कि सुनकर शरीर कटकित हो उठता था। आज भी देहातो मे कही-कही ऐसे लोग मौजूद है, जो होली मे स्वय 'कबीर' और 'जोगीडा' बनाकर गाते है।

उस युग के स्त्री-पुरुष बडे बलवान और समर्थ होते थे। रोगी मनुष्य बहुत ही कम देखने मे आते थे। वैद्यो और हकीमो के सिवा विदेशी दवा करनेवाले डॉक्टर शहर मे भी इने-गिने थे। अधिकतर लोग देशी दवा का ही व्यवहार करते थे।

चोरी की खबर कही-कही सुनने मे आती थी। डकैती तो शायद ही कभी कही सुन पडती थी। तिलक-दहेज का बाजार भी गरम न था। रेलगाडियो मे भीड नही होती थी। डाकगाडी के सिवा केवल मुसाफिरगाडी चलती थी। आरा नगर से सासाराम नगर तक डाक ढोनेवाली ऊटगाडी मेरे स्कूल के अहाते मे ही रहत' थी। गाडीवान एक पैसा लेकर हम लडको को गाडी पर चढाकर अहाते मे ही घुमा देता था। शहर मे भी मोटर का नाम-निशान नही था। केवल धनी-मानी रईसो की लैडो गाडिया बडी शान से निकलती थी, जिनमे दो सुन्दर घोडे एक ही रग-रूप के जुते होते थे। बडे-बडे वकील-मुख्तार फिटन या बग्घी पर कचहरी जाते थे। अगरेज कलक्टर और जज भी साइकिल पर ऑफिस मे आते थे।

आह, कैसे थे बचपन के वे दिन!

२

वे दिन : वे लोग

आरा . १९०३—

•

जिस के० जे० एकेडमी मे शिवपूजनसहाय १९०३ मे पाचवे दर्जे मे दाखिल हुए थे, लगभग एक दशक बाद उसी स्कूल मे वे हिंदी अध्यायक पद पर नियुक्त हुए। इस बीच १९०६ मे पिता का देहान्त हुआ, १९०७ मे पहली शादी हुई और उस पत्नी की प्लेग से मृत्यु हो जाने के कारण १९०८ मे दूसरा विवाह हुआ। कई कारणो से, १९१३ मे मैट्रिक परीक्षा पास कर सके और कुछ दिनो के लिए बनारस की कचहरी मे नकलनवीसी की। १९१४ मे अध्यापन प्रारम्भ किया तथा उसी वर्ष आरा नागरी प्रचारिणी सभा की साहित्यिक मडली के साथ अ० भा० हिंदी साहित्य सम्मेलन के पाचवे अधिवेशन मे लखनऊ गये, जहा प० बदरीनाथ भट्ट, प० माधव शुक्ल, प० जगन्नाथ प्रसाद चतुर्वेदी, प० अमृतलाल चक्रवर्त्ती, बाबू श्यामसुन्दर दास आदि से प्रथम सपर्क हुआ। लखनऊ से अयोध्या होते हुए आरा वापस हुए। फिर अगले वर्ष प्रयाग वाले छठे अधिवेशन मे भी सम्मिलित हुए। १९१६ मे विशूचिका से माता का देहान्त हुआ। अगले वर्ष आरा टाउन स्कूल मे हिंदी शिक्षक नियुक्त हुए, आरा सेवा समिति के सयुक्त मत्री बने, आरा नागरी प्रचारिणी सभा के सहकारी मत्री रहे। इसी वर्ष अपने साहित्य-गुरु प० ईश्वरीप्रसाद शर्मा के बुलावे पर आगरा गये, वहा से काग्रेस अधिवेशन (१९१८) मे भाग लेने दिल्ली चले गये जहा श्री गणेशशकर विद्यार्थी से

पहली भेट हुई। वहा से वापसी से मथुरा-वृन्दावन होते आगरा लौटे और फिर आरा आये। इसी बीच दो वर्षो तक 'ग्रथमाला कार्यालय', पटना के अधिष्ठाता एव प्रसिद्ध विद्वान लेखक प० रामदहिन मिश्रजी के साथ स्कूली पुस्तको का सकलन-सपादन किया। आरा मे बीते इन दो दशको मे ही शिवपूजन सहाय के साहित्यिक जीवन की नीव पडी। इस कालखड के सस्मरण प्रारम्भ होते है बग-भग के आदोलन के साथ।

●

प० दीनदयालु शर्मा

बग-भग के स्वदेशी-आदोलन का युग था—सन् १९०५ ई०, जब मै दस-बारह वर्ष का छात्र था, बिहार-प्रान्त के आरा नगर मे। उन दिनो आर्यसमाज और सनातनधर्म का घोर सघर्ष चल रहा था। दोनो की ओर से प्रत्येक छोटे-बडे नगर मे सभाए होती थी, बडे-बडे धुरन्धर विद्वान वक्ताओ के भाषण होते थे, एक-से-एक दिग्गज पडितो के शास्त्रार्थ होते थे, दोनो ओर की स्पर्धा मे आवेश की मात्रा पर्याप्त रहती थी।

शहर मे सरगर्मी और सनसनी देख हम छात्र भी उन सभाओ मे जाते थे। कुतूहली छात्रो की उत्सुकता देख दोनो दलो के लोग अपनी सभा मे उन्हे सबसे आगे स्थान देते थे, यहा तक कि सयाने विद्यार्थी उन छात्रो की नाम-सूची लिखने मे लगे रहते थे, जो आर्यसमाजी या सनातनी बनने को तैयार होते थे। उस हलचल मे धर्म का तात्पर्य समझने की मनोवृत्ति भी नही थी, प्रवृत्ति कहा से होती!

मै अपने पूज्य पिताजी के साथ सनातन धर्म सभाओ मे जाया करता था। वे स्वय बडे अच्छे रामायणी थे और सभाओ मे हुए धार्मिक भाषणो को बडे ध्यान से आद्यन्त सुनते थे। उन्होने ऐसा चसका लगा दिया कि एक साल बाद उनके साकेतवासी हो जाने पर भी मै सनातनधर्मी विद्वानो के व्याख्यान सुनने के लिए सभाओ मे सोत्साह जाता रहा। ये सभाए हर साल होती थी और लगभग दस वर्षों तक बराबर प्राय जाडे मे होती रही।

सनातन धर्म की सभाओ मे जो विद्वान वक्ता आते थे उनमे व्याख्यान-वाचस्पति पडित दीनदयालु शर्माजी विशेष प्रसिद्ध और लोकप्रिय थे। लम्बा तगडा शरीर, लम्बा अगरखा, सिर पर पगडी, गले से लटकता दुपट्टा, ओजस्विनी वाणी, ललकार से भरी चुनौतिया, दिल-दिमाग को झकझोरने वाला भाषण—सब कुछ प्रभावशाली और आकर्षक! जनता उमड पडती थी। श्रोता दत्तचित्त हो सुनते। तालियो की गडगडाहट घनी हो जाती।

वह ध्वनि-विस्तारक यत्र का युग नही था, पर जान पडता कि शर्माजी जन-जन के कानो के पास ही दहाड रहे है। सचमुच वे सभाओ मे दहाडते ही थे। ऐसा प्रतीत होता था कि व्याख्यान-मच पर कोई पराक्रमी पुरुषसिंह पावस-पयोद की भाति गर्जन-तर्जन कर रहा है। किन्तु वे अन्य वक्ताओ की तरह विपक्षी सम्प्रदाय की केवल खिल्लिया नही उडाते थे। उनके तर्क-युक्ति-सगत भाषणो को सुनकर प्रतिपक्षी भी प्रभावित हुए बिना न रहते थे। वे केवल सनातन धर्म की विशेषताओ को ही सप्रमाण प्रदर्शित करके उसकी महत्ता स्थापित कर दिखाते थे।

खण्डन-मण्डनात्मक भाषण करने वाले धार्मिक व्याख्याताओ की तरह वे अपने साथ प्रामाण्य पोथियो के ढेर भी ढोते नही फिरते थे। ग्रन्थ की तो बात ही क्या, एक पत्र-खण्ड भी उनके हाथ मे या सामने नही रहता था। श्रुति-स्मृतियो के प्रमाण-वाक्य वे मौखिक ही कहते चले जाते थे। श्रोताओ के हृदय-तल पर सनातन धर्म की महिमा की गहरी छाप डालना ही उनके भाषण का मुख्य लक्ष्य रहता था। जब भारतीय सभ्यता-सस्कृति के उत्कर्ष का वर्णन करने लगते थे तो उनकी आखो से अश्रुधारा प्रवाहित हो चलती थी। श्रोताओ को कभी-कभी पहले ही सावधान करके कह देते थे—'हाथ मे रुमाल ले लो, मैं अभी-अभी तुम लोगो को रुलाऊगा।' वास्तव मे किसी प्राचीन भारतीय कथा का कोई कारुणिक प्रसग कहकर लोगो को रुलाकर ही छोडते थे। श्रोतासमाज को पुलकित और द्रवित कर देना उनके बाए हाथ का खेल था। वैसी शक्तिशालिनी वाणी कभी कही कानो मे न पडी।

उनके भाषण मे कई विशेषताए और भी थी। उसे देर तक सुनते रहने पर भी मन नही ऊबता था। वे अपने भानण के बीच-बीच मे मनोरजक बाते भी सुनाते चलते थे, पर वे बाते भी उनके प्रतिपाद्य विषय से ही सम्बद्ध होती थी। कोई चुटकुला भी सुनाते तो छिडे प्रकरण से प्रतिकूल नही। एक उदाहरण स्मरण हो आया है—

'एक जगल मे एक बहुत पुराना ठूठ खडा था। बरसात आयी तो एक नयी लता उसके सिर तक चढ गयी। उस स्थाणु के मस्तक पर आरुढ होने से लता मन ही मन फूली न समाई। अपने यौवन पर इठलाती हुई बडे अहकार से बोली—'ऐ ठूठे पेड! मेरी छवि-छटा तो देखो, मै तुम्हारी भी शोभा बढा रही हू। अगर मैं तुम्हारे रूखे-सूखे तन को हरा-भरा न बनाती तो बरसात मे भी तुम उकठे काठ ही रह जाते।' यह सुनकर ठूठे पेड ने तिरस्कार की हसी हसते हुए कहा—'अरी छोकरी! तू चार दिनो की चादनी पर इतना क्यो इतराती है? दम धर, बीतने दे बरसात, तेरी यह लहलहाती देह सूखकर मेरे चरणतल की धूल बन जाएगी। मै युगो से इस जगल मे इसी तरह अचल खडा हू और हर साल की बरसात मे

तुझ-सी नाजनिया मेरे ऊपर चढकर मचलती है, न जाने कितनी ही आयी और गयी, मैं ज्यो का त्यो हू।' इसी प्रकार ससार-रूपी जगल मे सनातन धर्म प्राचीनतम स्थाणु के समान है और नये-नये सम्प्रदाय तथा पन्थ बरसाती वल्लरी के समान है, जिनका अस्तित्व क्षणिक है।'

बाबू शिवनदन सहाय

उन दिनो मै स्कूल मे पढता था। आरा की नागरी प्रचारिणी सभा के सार्वजनिक वाचनालय मे प्राय नित्य सध्या समय जाया करता था। चौदह-पद्रह वर्ष की उम्र थी। मैट्रिक मे पहुच चुका था। रोज देखता था कि एक बहुत बूढा नाटा-सा आदमी नाक पर चश्मा सरकाये बडे गौर से अखबार पढा करता है। कभी-कभी परिचित लोग बडे जोर-जोर से उससे बोलते थे, जैसे लोग बहरे आदमी से बोलते है। सभा के सस्थापक महामहोपाध्याय पडित सकलनारायणजी को भी उस बूढे का बडा आदर करते देख यह जानने का कौतूहल हुआ कि यह कौन है। स्कूल मे हिन्दी पढानेवाले गुरु पडित ईश्वरीप्रसादजी शर्मा भी रोज सभा मे जाते थे। एक दिन उनसे पूछा। उन्होने परिचय देते हुए चरण छूने का आदेश दिया। पाव छूते ही छोटी दाढी वाला पोपला मुह सरल हसी से खिल उठा। शर्माजी ने कान के पास मुह ले जाकर कहा—'मेरा विद्यार्थी है, शुरू से उर्दू-फारसी पढता था, अब मैट्रिक मे आकर हिन्दी पढने लगा है, कुछ पूछिए।' बाबू शिवनदन सहाय कुर्सी पर बैठे ही बैठे हसते-हसते हिलने लगे। पूछा, 'गोसाईंजी की रामायण तुमने पढी है?' शर्माजी बोले, 'जो पूछते है सो जोर से बतलाओ।'

'बचपन मे मेरे पिताजी रामायण पढाते थे।'

'अब पढते हो कि नही?'

'रोज पाठ करता हू।'

'अर्थ भी समझते हो कि पाठ ही भर करते हो?'

'पाठ ही करता हू, अर्थ सब जगह नही समझता।'

'कुछ जगह भी समझ लेते हो?'

'कही-कही, थोडा-थोडा।'

फुलवारी मे से पूछू तो अर्थ कहोगे?'

'चौपाई या दोहा?'

'यह तो मेरी इच्छा पर है। अच्छा कहो, चौपाई पूछू या दोहा?'

'चौपाई ही पूछिए।'

'चहु दिसि चितै पूछि माली-गन, लगे लेन दल फूल मुदित मन'—

इसमे 'दल' का अर्थ क्या है ?'

'तुलसी-दल है ।'

पीठ ठोककर हसते-हसते हिलने लगे। शर्माजी से बोले—'चेला-चाटी को रामायण खूब पढाओ, उसी से मजे मे हिन्दी आ जाएगी ।'

शर्माजी—'पाठ्य पुस्तक मे रामायण का बहुत ही थोडा अश है ।'

'इससे क्या ? घर पर सब को रामायण पढने के लिए सीख दो ।'

मुझसे 'तुम यहा कहा रहते हो ?'

'आपके मकान के बिलकुल पास ही ।'

शर्माजी 'आपका पोता भवेशनदन[1] इसके साथ पढता है ।'

'वह तो उर्दू-फारसी पढता है ।'

शर्माजी : 'मगर दोनो मे बडी दोस्ती है ।'

मुझसे 'अच्छा, जहा न समझो, वहा मुझसे इसी जगह पूछ लिया करो ।'

मेरे पिताजी बहुत अच्छे रामायणी थे। बचपन से ही रामायण के श्लोक, चौपाई, दोहा, छद घोखवाते थे। नहा-धोकर रामायण बाचने की बान पड गयी थी। पिताजी के मुख से निकला हुआ अर्थ बडे ध्यान से सुना करता था। उनकी कही हुई प्रसगानुकूल कथाए आज तक याद है।

उस समय बाबू शिवनदन सहाय की सलाह मानकर समझ-बूझकर रामायण पढने लगा। उसमे ऐसा मन रम गया कि अभिभावक से लुका-छिपाकर स्कूली किताबो के बदले रामायण ही पढने लगा। स्कूल मे भी जेब मे गुटका रामायण ले जाता था। स्कूली पढाई मे बाधा पडने लगी। कभी-कभी कुछ टाककर सभा मे ले जाता और उनसे अर्थ पूछता।

उन्ही दिनो आरा मे एक 'कडाचूर बाबा' रामायणी आकर रहने लगे। उनका अर्थ कहने का ढग बडा आकर्षक था। उनकी कथा-मण्डली मे भी जाकर सुनने का चसका लग गया। उनके अर्थ मे विचित्रता भी होती थी। जब मैने बाबू शिवनदन सहाय से 'कडाचूर बाबा' के अर्थ की विलक्षणता का जिक्र किया, तब वे कहने लगे कि रामायणी लोग जनता को तुलसीदासजी का असली अभिप्राय न बतलाकर अपनी बुद्धि की बारीकी और सूझ की गहराई दिखाया करते है।

उनकी बातो से बडा मनोरजन होता था। उनकी सरल हसी आज भी आखो मे नाच रही है। मैने देखा कि वे बातचीत मे एकाध ही बार 'तुलसीदासजी' कहते थे, नही तो बराबर 'गुसाईजी' ही उनके मुख से निकलता था। उनके कथन

---

१ स्व० भवेशनदन सहाय—प्रसिद्ध साहित्यसेवी स्व० व्रजनदनसहाय 'व्रजवल्लभ' के चचेरे भाई ।

की मनोहर शैली आज तक मस्तिष्क मे अकित है। उनसे मै इतना परच गया कि सभा भवन मे प्राय उनसे कथा-वार्त्ता और रामचर्चा सुना करता था। उनकी लिखी हुई गोस्वामी तुलसीदासजी की जीवनी हिन्दी मे सबसे पहली और सबसे अच्छी जीवनी मानी जाती है। भारतेदुजी की भी जीवनी उन्होने लिखी है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने भी 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' नामक अपने प्रसिद्ध ग्रथ मे इन वृहत् जीवनियो का उल्लेख किया है और बाबू शिवनदन सहाय को सबसे पहला सफल जीवनी-लेखक माना है।

उनके पास एक बस्ता था, जिसका बेठन हर साल चित्रगुप्त-पूजा के दिन नया बदलता था। उसमे कागज के छोटे-बडे अनेक पुर्जे थे जिन पर नाना प्रकार के साहित्यिक शोध की बाते लिखी हुई थी। उनमे से एक भी कोई पुर्जा उठाकर उसके बारे मे कुछ पूछताछ करने पर झट साहित्यिक पवारा शुरू कर देते थे। उस समय वे हिन्दी-जगत् के सजीव विश्व कोश ही जान पडते थे। हिन्दी के सेवको और पोषको की कहानिया कहने लगते थे तो ठीक महाभारतकार व्यास के समान प्रतीत होते थे। वैसा विवरणात्मक वर्णन मैने कभी किसी से सुना नही। हा, काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा के वयोवृद्ध सेवक (पुस्तकालयाध्यक्ष) प० केदारनाथ पाठक अलबता वैसे वर्णन सुनाया करते थे। शायद पुराने लोगो के साथ ही यह विशेषता चली गयी।

बाबू जयशकर प्रसाद जब काशी के फक्कडो, गवैयो, गुण्डो, गहरेबाजो, पहलवानो, कलावतो, पडितो, शौकीनो, भोजनभट्टो और मगलामुखियो के किस्से सुनाने लगते थे, तब घटो अध्याय ही नही लगता था। उनके यहा जब कभी लाला भगवानदीनजी और रत्नाकरजी आ जुटते थे तब बुन्देलखण्ड और ब्रजमडल की साहित्यिक प्रदर्शनी खुल जाती थी। धन्य थी उन लोगो की स्मरण-शक्ति! कवित्त, सवैया, छप्पय, दोहा—चाहे जो सुन लीजिए।

बाबू शिवनदन सहाय की सादगी बेजोड थी। घिसा स्लीपर, घुटनो तक धोती, गाढे का कुर्ता और मामूली दुपलिया टोपी, उलझी हुई दाढी, कभी-कभी पैबद लगा हुआ कुर्ता और उनके भी बटन खुले हुए! वेशभूषा, भाषा, स्वभाव, बोलचाल—सबमे सादगी। सरलता और साधुता की साक्षात् मूर्ति ही समझिए।

हम स्कूल के लडके घेरकर बैठ जायेगे, वे अमद हसी के साथ कबीर-कथनी शुरू कर देगे। प्रवचन के बीच-बीच मे अगरेजी के नामी कवियो की भी कविताए कहते चलते थे। लडको से खूब खुश रहते थे। वैसी निश्छल हसी किसी परमहस मे ही मिल सकती है।

अन्त मे एक दुर्घटना का उल्लेख आवश्यक है। बाबू शिवनदन सहाय का जिस समय देहान्त हुआ, उस समय मै काशी मे रहता था। प्रयाग की हिन्दुस्तानी

एकेडमी की त्रैमासिक पत्रिका 'हिन्दुस्तानी' मे उनकी मृत्यु का जो सवेदनात्मक सवाद छपा, उसमे उनके नाम की जगह मेरा नाम छप गया। अनेक मित्रो के पत्र धडाधड मेरे पते पर आने लगे। उस समय कई दिनो तक 'प्रसाद' जी यही चर्चा छेडकर हसते-हसते लोट-पोट होते रहे। उनकी दूकान पर प्रेमचदजी पहुच जाते तो दोनो का अखड अट्टहास वहा के दिङ्मडल को गुजा देता था। आखिर 'हिन्दुस्तानी' के अगले अक मे सशोधन के साथ खेद-प्रकाश छप गया, मगर कुछ दिनो के लिए यह दुर्घटना हास-विलास का साधन बनी ही रही।

मेरी सबसे पहली—अस्वीकृत रचना

सन् १९१० ई० मे सबसे पहले मैट्रिक चालू हुआ था। उसी साल मै पहले-पहल हिन्दी पढने लगा। उसके पहले बराबर स्कूल मे उर्दू-फारसी पढता रहा। उस समय तो ऊचे दर्जे मे अरबी भी पढाई जाती थी।

हिन्दी पढना शुरू करने पर लेख लिखने की लालसा हुई। इसके लिए दो तरफ से प्रेरणा मिली। आरा नगर की नागरी-प्रचारिणी सभा में नित्य नियमित रूप से मैं जाया करता था। वहा पत्र-पत्रिकाए पढा करता। इससे इच्छा जगी कि मेरा भी लेख छपता तो अच्छा होता। इस इच्छा को उकसाया बाबू शिवनन्दन सहाय ने, जो तुलसीदासजी की बृहत् जीवनी के यशस्वी लेखक थे। दूसरे थे मेरे स्कूल के हेडपडित पडित चन्द्रहास द्विवेदी[1]। उन्होने 'हिन्दी-बोध' नामक एक पुस्तक हम मैट्रिक-छात्रो के लिए लिखी थी। उसके छपने पर उन्होने उसकी एक प्रति मुझे दी और ध्यान से उसे पढने की सलाह भी। उसमे लेख लिखने के कुछ नियम भी थे। लेख मैने बडे शौक से लिखा[2]। वह होली के

---

१. देकुली (ब्रह्मपुर, शाहाबाद)-निवासी।

२ उस लेख का शीर्षक था—'होली मे सभ्यता का नाश'। उसे नागरी-प्रचारिणी सभा के कर्मठ सदस्य पडित हरनाथ द्विवेदीजी ने देखकर पसन्द किया और 'शिक्षा'-सम्पादक पडित सकलनारायण शर्मा से उसके प्रकाशन के लिए सिफारिश कर दी। वह साप्ताहिक 'शिक्षा' (पटना) के होलिकाक मे छपा। सम्पादकजी ने बडे स्नेह से मुझे उत्साहित करके 'शिक्षा' के लिए कई लेख लिखवाये—क्षमा, दया, सन्तोष, परोपकार, सत्संगति, विद्या आदि लेख भी 'शिक्षा' मे छपे। किन्तु उनकी कतरने नष्ट हो गयी। 'शिक्षा' के पुराने अक भी न मिल सके। उन आरभिक रचनाओ का मोह आज भी है। उक्त द्विवेदीजी बलिया जिले के निवासी थे। आगे चलकर हम दोनो सहकर्मी हो गये। आरा के टाउन-हाईस्कूल मे वे हेडपडित थे और मै हिन्दी-शिक्षक।

सम्बन्ध मे था। हास्यरस का था। सरस भी था, किन्तु अश्लील नही। सोच-समझकर लिखा गया था। भाषा अलकृत थी। अनुप्रास की बहार भी थी। शुरू से मेरी आदत नोट लेने की है। जो कुछ पढता था, रुचिकर बाते छाटकर या चुनकर लिख रखता था। नोट-बुक से भी सहायता ली थी लेख तैयार करने मे। मुझे वह बहुत ही सुन्दर जचा। मैने उस लेख की कई प्रतिलिपिया स्वय लिखकर तैयार की। उपर्युक्त सभा के वाचनालय से अनेक सुन्दर पत्र-पत्रिकाओ के पते लिख लाया। सभी के सपादको के पास एक-एक रजिस्ट्री भेज दी। उसी मे जवाबी पोस्टकार्ड भी अपने पते के साथ भेजा। गार्जियन की ओर से जो पैसे जलपान के लिए मिलते थे, उन्ही का उपयोग डाकखर्च मे किया।

ईश्वर की इच्छा। लेख कही भी न छपा। सभी पत्रो के होलिकाक उलट डाले, दिल की धडकन न मिटी—वह क्रमश सघन होती गयी। तब ? तब मैंने सभी के पास फिर रजिस्ट्री-खर्च भेजा कि मेरा लेख लौटा दे। उस समय इतना भी ज्ञान न था कि एक ही जगह से लेख लौट आने पर काम चल जायेगा, और मेरे पास तो एक नकल थी ही। फिर भी अपने लेख का मोह ! रजिस्ट्री-खर्च भी सम्पादको के गोलक मे गुम हो गया। लेख न लौटा।

महामहोपाध्याय प० सकलनारायण शर्मा

शर्माजी ने ही मेरा सबसे पहला लेख ('होली मे सभ्यता का नाश') अपनी 'शिक्षा' मे प्रकाशित किया था। वे बराबर नये लेखको को प्रोत्साहित करते रहते थे। मेरा लेख देखकर उन्होने प्रोत्साहित किया था कि सभा के पुस्तकालय मे प्रतिदिन आकर पुस्तक, पत्र-पत्रिकादि पढा करो और नये-नये शब्दो तथा वाक्यो को लिखकर रखते जाओ। उन्होने आदेश भी दिया कि स्कूल मे जो लेख लिखने को दिये जाते हैं उन पर लेख लिखकर मुझे दिखाया करो। इस तरह कई विषयो के लेखो को उन्होने स्वय शोधा और 'शिक्षा' मे छापा। व्याकरण की बाते वे बडी आसानी से समझा देते थे। वे नित्य सभा के वाचनालय मे आकर बैठते और पाठकों को पढने की रीति सिखाया करते थे। उनके मतानुसार कुछ-न-कुछ नयी बात सीखने के लिए ही पढना चाहिए। वे स्वय अखबार पढकर बतला देते थे कि इसमे यह बात सीख रखने योग्य है।

उनके घर मे ठाकुरबाडी और सरस्वती-भवन पुस्तकालय था। ठाकुरजी की पूजा उनके बडे भाई पाण्डेय सत्यनारायण शर्मा किया करते थे। वे अपने भाई को पिता-तुल्य मानते थे। स्वय तो अपने ग्रन्थागार मे ही अधिक समय बिताते थे। स्वाध्याय के बाद बाहर निकलने पर मित्रों के घर जाते और रास्ता चलते भी हाथ मे रुद्राक्ष की सुमिरनी लिये 'शिव-शिव' जपते रहते थे। सभा की तरह सिद्धनाथ महादेव प्रसिद्ध प्राचीन मन्दिर भी उनका अड्डा था। वहां शिवजी के

दर्शनार्थ नियमित रूप से नित्य जाते थे। सस्कृत स्तोत्रो की एक पुस्तक '(सिद्धनाथ कुसुमाजलि') उन्होने स्वय रची और छपाई थी। उक्त मन्दिर मे तन्मयता से नामकीर्त्तन करते हुए भी मैंने उन्हे देखा था। नाम-जप तो वे हर घडी करते ही रहते थे। बातचीत करते समय भी बीच-बीच के अवकाश-क्षणो का सदुपयोग वे नाम-जप मे ही करते थे। वे परम शिवभक्त और भारतीय सस्कृति के अनन्य पुजारी थे।

उनकी वेशभूषा साधारण थी। दिल्लीवाल जूता, पडिताऊ धोती और गोल टोपी, बन्ददार मिर्जई और चादर। मिर्जई के बन्द कभी खुले हुए और चादर भी कन्धे से आगे या पीछे एडी तक लटकती हुई। कही किसी सभा-सम्मेलन मे जाते समय बन्ददार बटनदार अगरखा पहनकर रेशमी साफा बाधते थे। वह साफा भी सिर मे ऐसा लटपट बधता कि बोलते समय खुलता जाता और वे समेटते-खोसते रहते। उनकी सादगी मे छिपी विद्वत्ता का अन्दाज अपरिचित व्यक्ति नही कर सकता था। सरलता तो बच्चो जैसी थी। कई बार 'व्रजवल्लभजी' को मैंने उन्हे टोकते भी देखा—'वयोवृद्ध विद्वान् मे लडकपन आप ही मे देखता हू।' पडितजी हसने लगते। किसी नवविवाहित युवक से बाते करने लगेंगे तो उसके दाम्पत्य-जीवन की बातें भी पूछ बैठेंगे। यह केवल उनका मनोविनोद था। वे रूखे नही, सरस-हृदय थे। हसते भी थे दिल खोलकर। चलते थे द्रुतवेग से, जान पडता कि हडबडी मे हैं। बोलते भी वैसे ही थे। लिखते भी थे अन्धाधुन्ध। लिखावट कठिनाई से पढी जाती थी। 'व्रजवल्लभ' जी ने एक बार कहा भी था कि "खड्गविलास प्रेस के 'शिक्षा' वाले कम्पोजिटरो को ही पडितजी की लिखावट पढने का अभ्यास है, और किसी को अधिकार नही है।"

विद्या-व्यसन और सुमिरन-भजन मे अहर्निश तल्लीन रहने के कारण पाण्डेयजी ऐसे अस्तव्यस्त स्वभाव के लापरवाह थे कि उनके पास अच्छी कलम-दवात भी नही रहती थी। थे तो सम्पादक, पर कभी घिसी पेंसिल से ही जैंसे-तैसे कागज पर सम्पादकीय लेख घसीट डालते थे। एक चिट्ठी लिखनी हो तो कागज का टुकडा खोजने लगेंगे। जिस समय आरा-नागरी-प्रचारिणी सभा द्वारा राष्ट्रपति डॉ० राजेन्द्रप्रसादजी को एक अभिनन्दन ग्रन्थ समर्पित किया गया, मैंने पडितजी से निवेदन किया कि आत्मकथा लिख डालिए। उन्होने छूटते ही कहा कि अब मेरे हाथ कापने लगे हैं, मेरी लिखी चीज पढेगा कौन? वही 'व्रजवल्लभ' जी के बहनोई श्री रघुनाथप्रसाद मुख्तार बैठे हुए थे, जो हिन्दी-लेखक भी थे। वे बोले कि पडितजी लिख दे तो मैं साफ नकल कर दूगा। पडितजी ने मेरा आग्रह स्वीकार कर आत्मकथा लिख दी, जिसकी मूल प्रति और मुख्तार साहब की नकल की हुई प्रति भी बिहार-हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के सग्रहालय मे विद्यमान है। वह आत्मकथा सम्मेलन के त्रैमासिक मुखपत्र 'साहित्य' के दो अको मे क्रमश- प्रकाशित

हुई थी।

जब शर्माजी कलकत्ता-विश्वविद्यालय मे सस्कृत के व्याख्याता प्राध्यापक नियुक्त हुए तब अपने अन्तरग मित्र प० जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी के साथ उनके निजी मकान (सीताराम घोष स्ट्रीट) मे रहते थे। 'मतवाला'-मण्डल (कलकत्ता) मे रहते समय मै भी प्राय उनके पास जाता था। दोनो विद्वान् सन्ध्या समय बैठकर केवल शुद्धाशुद्ध भाषा पर ही विचार-विनिमय किया करते थे। चतुर्वेदीजी भाषा के मर्मज्ञ पारखी थे और शर्माजी तो प्रकाण्ड वैयाकरण थे ही। दोनो भाषा-विशेषज्ञो की बाते सुनने से नित्य ही ज्ञानवृद्धि होती थी। उन लोगो का भाषा-विचार अतिशय सूक्ष्म होता था। उन लोगो के पास जो हिन्दी-पत्र-पत्रिकाए आती थी, उनकी भाषा पर तो बहस होती ही थी, नयी निकली हुई कोई प्रसिद्ध पुस्तक भी उन लोगो की पैनी दृष्टि से नही बच पाती थी। भाषा पर उतनी बारीकी से नित्य-प्रति विचार करते मैने किसी साहित्य-सेवी को नही देखा। कभी-कभी महाकवि 'निराला' भी वहा जाते और उस नियमित भाषा-विचार-गोष्ठी मे साधिकार बोलते हुए उन लोगो को प्रभावित करते थे। किन्तु निरालाजी ऐसे शीलवान थे कि चतुर्वेदीजी जब उनके अतुकान्त छन्दो पर विनोद छेडते तो निरालाजी उस परिहास को उपहास न समझकर उसका आनन्द ही लेने मे मस्त रहते। इसका कारण यह भी था कि चौबेजी का कोई विनोद कभी निरर्थक नही होता था, उसमे साहित्यिक सरसता भरी रहती थी, और शर्माजी तो सस्कृत-साहित्य के साथ वैदिक प्रमाणो से भी अतुकान्त कविता का समर्थन करने लगते थे। मुझे स्मरण है कि 'मतवाला' का प्रथमाक प्रकाशित होते ही मै उसे लेकर शर्माजी के पास गया तो उन्होने प्रथम दृष्टिपात मे ही 'जूही की कली' को नवयुगीन कविता मे सर्वोत्कृष्ट अन्योक्ति कहकर निरालाजी के परोक्ष मे उनकी प्रतिभा की भूरि-भूरि प्रशसा की। उसी क्षण उन्होने चौबेजी को सस्कृत की कई सुन्दर अन्योक्तिया सुनाकर पुष्प-सम्बन्धी अनूठी उक्तियो से मुग्ध कर दिया। वे दोनो विद्वान एकमात्र भाषा की विशुद्धता और सार्थकता पर विशेष ध्यान रखते थे। कहना न होगा कि इस गुण के कारण ही वे निरालाजी के प्रशसक बन गये थे।

कलकत्ता विश्वविद्यालय के सिनेट-हॉल मे कई बार शर्माजी के भाषण सुनने के अवसर मुझे प्राप्त हुए थे। बगीय विद्वानो मे सस्कृत और बगला मे निर्द्वन्द्व भाषण करके करतल-ध्वनियो का उपहार लेना साधारण काम नही है। किन्तु शर्माजी उन स्वाभिमानी विद्वानो के बीच रहकर अपनी विद्वत्ता के प्रताप से जो प्रतिष्ठा अर्जित कर गये वह हिन्दी-संसार के लिए गौरव का ही विषय है।

उसी सिनेट-हॉल मे श्री जगन्नाथदास 'रत्नाकर' के सभापतित्व मे अखिल भारतीय हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन का महाधिवेशन हुआ था जिसके बाद ही उसी

स्थान पर अखिल भारतीय हिन्दी-पत्रकार-सम्मेलन स्वामी भवानीदयालजी[1] की अध्यक्षता मे हुआ। उसके स्वागताध्यक्ष शर्माजी ही थे। उस अवसर पर उन्होने पत्रकार-कला और सम्पादक-कर्तव्य पर जो भाषण किया था उसकी प्रशसा वहा के अग्रेजी और बगला पत्रो मे हुई थी। उसी भाषण मे हिन्दी के लब्धकीर्त्ति सम्पादको की नामावली गिनाते हुए उन्होने कहा था कि सबकी सचित्र जीवनी प्रकाशित होनी चाहिए जिससे हिन्दी पत्रकारिता का इतिहास स्वत तैयार हो जायेगा।

प्रो० अक्षयवट मिश्र 'विप्रचन्द्र'

'आरा' नगर के मिश्रटोला मुहल्ले मे पडित चक्रपाणि मिश्र एक पुराने ढग के विद्वान थे। मैं जिस हाईस्कूल मे पढता था, उसी मे वे हेड पडित थे। गोरा छरहरा शरीर, कलीदार अगरखा, बधाई पगडी, रेशमी दुपट्टा, आखो मे सुरमा, दातो पर सुनहली बिंदी, त्रिकुटी पर पचरगा तिलक, ललाट पर अर्द्धचद्राकार त्रिपुड, गले मे रुद्राक्ष की माला, मुह मे पान की गिलौरी, हाथ मे गोमुखी छडी, लबा डीलडौल-

---

१ स्वामी भवानीदयालजी का जन्म दक्षिण अफ्रीका मे १० सितम्बर, १८९२ को हुआ था, यद्यपि उनके पूर्वज शाहाबाद (अब रोहतास) जिले के 'बहुआरा' ग्राम के वासी थे। शिवजी से सभवत वर्तमान शती के दूसरे दशक से ही परिचय-पत्राचार बना रहा। स्वामीजी का परिवार दक्षिण अफ्रीका मे ही प्रवासी रहा, यद्यपि वे स्वय बहुधा भारत आते रहे। १९२६ मे उन्होने 'बहुआरा' मे ही 'प्रवासी भवन' की स्थापना की जो बाद मे अजमेर के पास पुनर्स्थापित हुआ। शिवजी ने दोनो ही स्थानो पर जाकर स्वामीजी के इस विशाल एव विशेष महत्त्वपूर्ण सग्रहालय को देखा था। (स०)

"२२ जून १९२७ को प० भवानीदयालजी के छोटे भाई श्री देवीदयालजी मेरे पास पडितजी का निमत्रण लेकर एकाएक आ पहुचे। मैं काशी से उसी दिन दो बजे दिन की गाडी से चलकर रात को दस बजे 'बहुआरा' पहुचा। चादनी रात मे प्रवासी भवन की विचित्र शोभा थी। दूसरे दिन प्रात काल ही से भवानीदयालजी मुझे प्रवासी भवन दिखलाने लगे। ••"

"१९४४ मे फिर अजमेर जाकर मैंने प्रवासी-भवन के विशाल भवन को देखा था। उसमे प्रवासी भारतवासियो से सबधित प्रचुर सामग्री थी। अजमेर के प्रवासी-भवन से आपने 'प्रवासी' नामक मासिक पत्र भी निकाला था।"

स्वर बड़ा गंभीर ! छात्रों को जितना ही प्यार करते, उतना ही लुच्चा-पाजी-बदमाश भी कहते थे। एक छात्र को उन्होंने कक्षा से निकाल दिया, क्योंकि वह बेंच पर तबले का ताल देकर 'दधि' शब्द का रूप गा रहा था—'दधि दधिनी-दधीनि—दध्ना-दध्ना-दध्ना…।'

वह छात्र मेरा सहपाठी था। उस समय मैं फारसी-उर्दू पढ़ता था। किन्तु अपने एक साथी का अपराध क्षमा कराने के लिए मैं भी उसके साथ पंडितजी के घर गया। वहां अक्षयवटजी विराजमान थे। अक्षयवटजी की ससुराल का मकान पंडितजी के मकान के सामने ही बगल में था। उन्होंने मेरे गांव-घर का पता पूछा था। मेरे बतलाने पर यह जानकर प्रसन्न हुए कि उनके एक परिचित कथावाचक (पंडित रामयत्न पांडेय) मेरे पुरोहित हैं। पांडेयजी मेरे गांव के निवासी नामी व्यास थे। अपने बचपन में उनके मुख से वाल्मीकीय रामायण और भागवत की ललित कथा मैंने भी सुनी थी।

उसी समय अक्षयवटजी ने मुझे हिन्दी पढ़ने का उपदेश दिया। उनकी प्रेरणा से उत्साहित होकर मेरा सहपाठी भी आग्रह करने लगा। उन दिनों स्वदेशी आंदोलन का बड़ा जोर था। स्कूलों में बंगाली शिक्षकों की ही अधिकता थी। हेड पंडित और हेड मौलवी के सिवा एक-दो बिहारी शिक्षक थे, बाकी सब बंगाली। स्कूल में बंगभंग-दिवस मनाया जाता था। विशेषत: बंगाली छात्र ही उसमें सम्मिलित होते थे। सरस्वती-पूजा की भी यही दशा थी। बिहारी लड़के चंदा देते थे, पर पूजा-अर्चा और सारी व्यवस्था बंगाली लड़के ही करते थे।

मैं सन् १९०९ ई० में इंट्रेंस क्लास का छात्र था। उस समय वह 'फर्स्ट-क्लास' कहलाता था। जब मैं सेकंड क्लास से तरक्की पाकर उसमें आया, तब एकाएक हिन्दी पढ़ने लगा। पहले तो मैं स्कूल में शुरू से बराबर उर्दू-फारसी पढ़ता रहा, और एक अच्छा विद्यार्थी होने के कारण मौलवी साहब का कृपापात्र भी था; मगर इंट्रेंस में आते ही अचानक मेरा मन हिन्दी की ओर बरबस झुक गया। उस समय यह नियम था कि सोलह साल से कम उम्र का छात्र विश्वविद्यालय-परीक्षा के लिए 'सेंट-अप' नहीं होता था। स्कूल में नाम लिखाते समय उम्र घटाकर लिखाने की परिपाटी थी। अंत में वही मेरे सिर पर बजरी। मैं बहुत उदास होकर सोचने लगा कि पढ़ाई छोड़ ही दूं। पर उस निराशा में प्रोफेसर मिश्रजी के उपदेशों से बड़ा धीरज बंधा। वे न उपदेशते तो मैं मूर्खता कर ही बैठता।

यद्यपि सन् १९१० ई० में इंट्रेंस की जगह मैट्रिकुलेशन हो गया, तथापि मिश्रजी के उत्साहित करने से मैं उदासी छोड़ मन लगाकर पढ़ने में जुट गया। इस प्रकार मिश्रजी के दुबारा दर्शन का सौभाग्य सन् १९०९ ई० में प्राप्त हुआ, जब उन्होंने फारसी-उर्दू के बदले संस्कृत-हिन्दी पढ़ने को उत्तेजित किया और

हतोत्साह होने पर प्रोत्साहन भी दिया। उन दिनो मिश्रजी डुमराव के नाबालिग महाराज (श्रीनिवासप्रसाद सिंह) के शिक्षक थे। महाराज के साथ राची मे रहा करते थे। डुमराव-राज्य के राजमन्दिर मे उनके पिता प्रधान पुजारी थे।

मेरे साहित्यिक गुरु प० ईश्वरीप्रसाद शर्मा का मकान भी आरा नगर के मिश्र टोले मे ही था। उनका बैठकखाना मिश्रजी का एक अड्डा था। जब कभी वे आरा मे रहते, शर्माजी के घर पर गोष्ठी जम जाती। कभी-कभी उस गोष्ठी मे प० रामदहिन मिश्र, प० पारसनाथ त्रिपाठी आदि साहित्यसेवी भी जुट जाते। जैसे शर्माजी मनोरजन-मूर्ति और अक्षयवटजी लीलाधारी विनोदी, वैसे ही रामदहिनजी काव्यालकारी और त्रिपाठीजी ठहाकेबाज।

पडित ईश्वरीप्रसादजी मेरे स्कूल मे हिन्दी-शिक्षक थे। आरा की नागरी-प्रचारिणी सभा मे प्रतिदिन वे जाया करते थे। वहा मैं भी नियमित रूप से जाकर वाचनालय मे पत्र-पत्रिकादि पढता था। उनके घर पर भी प्राय जाता रहता था। उन्ही के घर पर उर्दू-फारसी छोडकर हिन्दी पढने के कारण, अक्षयवटजी ने मेरी पीठ ठोककर आशीर्वाद दिया था।

सन् १९१४-१५ ई० की बात है। उन दिनो पटना से साप्ताहिक 'पाटलिपुत्र' निकलता था। आरम्भ मे उसके सपादक थे डॉक्टर काशीप्रसाद जायसवाल और उनके सहकारियो मे थे पडित ईश्वरीप्रसाद शर्मा तथा बाबू महावीरप्रसाद गहमरी (सुप्रसिद्ध 'जासूस'-सपादक बाबू गोपालराम गहमरी के अनुज)। उस समय के 'पाटलिपुत्र' मे विद्वच्चक्रचूडामणि पडित रामावतार शर्मा भी प्राय लेख-कवितादि लिखा करते थे। उनकी एक व्यग्यविनोदमयी कविता छपी थी 'काना-वर्करीयम्' (खण्डकाव्य)। उसकी एक पक्ति थी—'कौन हो आप स्वामीजी घास खाते हरे-हरे।'

एक दिन, सयोग की बात, शर्माजी पडित-मडली मे विराजमान थे। उनका दरबार देवताओं की सुधर्मा-सभा के समान सुशोभित था। अक्षयवटजी की रसमयी सूक्तिया अट्टहास से वायुमडल को गुजा रही थी। एक स्कूली पडित ने अकस्मात् पहुचकर देहाती भोलेपन के साथ अपनी शका प्रकट कर दी—'घास खाते हरे-हरे' कैसे शुद्ध है? 'घास' तो हिन्दी मे स्त्रीलिंग है, 'हरी-हरी' होना चाहिए।' छूटते ही अक्षयवटजी बोल उठे—'महाराज! स्वामी वर्करानदजी पुल्लिग ही घास चरा करते है।' सारी सभा का हास्योल्लास चारो ओर व्याप्त हो गया।

डुमराव-महाराज के गढ मे श्रीविहारीजी का दर्शनीय मदिर है। उसमे जन्माष्टमी का महोत्सव हो रहा था। काशी की मशहूर मगलामुखियो और लखनऊ के भाडो का दल आया था। उस समय राजधानी की रौनक देखते ही

बनती थी। कई बार मैंने भी वह उत्सव देखा है। सुदूर देहात से हजारो लोग रोज आते थे। डुमराव मे चिडिया पालने के शौकीन बहुत थे। वे सुन्दर पिंजडे को बढिया कपडे से ढककर हाथ मे लिये तमाशा देखा करते थे। कोई-कोई पिंजडा भीतर खाली रहता था। उसमे चुने हुए जोड़े चुराकर रख लिये जाते थे। एक दफा मिश्रजी का नया जूता वहा चोरी चला गया। उन्हे बडा अफसोस हुआ। खीजकर यह दोहा कहा—

> डुम्मराव के दोल मे, अचरज हो भरपूर।
> पेट पीजरा पैठि कै, जूता जात जरूर ॥

आरा-नगर के मिश्रटोला मुहल्ले मे मिश्रजी की ससुराल का मकान जिस गली के पूर्वी छोर पर था, उसी गली के बीच मे हिन्दी के आदिगद्यकार पडित सदल मिश्र का मकान भी था। मिश्रजी ने ही मुझे पहले-पहल वह घर दिखलाया था। उस समय सदल मिश्रजी के अति वृद्ध प्रपौत्र रघुनन्दन मिश्र जीवित थे। बाद मे जब मैं आरा-टाउन स्कूल मे हिन्दी-शिक्षक था, तब रघुनन्दनजी के सुपुत्र भगवतीप्रसाद मिश्र मेरे विद्यार्थी थे। भगवतीप्रसाद उसी समय हिन्दी के एक होनहार लेखक बन गये थे। यदा-कदा वे मुझे अपने घर ले जाते तो उनके वृद्ध पिता दिखाने लगते थे कि इस कमरे मे दादाजी पूजापाठ और उसमें बैठ लिखा-पढा करते थे। खेद है कि सदल मिश्र का कोई स्मारक वहा न बन सका।

पं० ईश्वरीप्रसाद शर्मा

आरा के 'मिश्रटोला' मे पहले बडे-बड़े धुरन्धर दिग्विजयी पडित हो चुके है। हिन्दी के आदि-गद्य-लेखक पडित सदल मिश्र वही के थे। उनके प्रपौत्र वयोवृद्ध प० रघुनन्दन मिश्र को मैंने स्वय देखा था। हमारे पडितजी भी इसी वश-वृक्ष के एक विकसित सुमन थे। मिश्रटोला मे पंडितजी का परिवार बडा शिक्षित और प्रतिष्ठित तथा गण्यमान्य है। पडितजी के पितामह का नाम प० पिनाकधर मिश्र और पिता का नाम प० शारगधर मिश्र तथा चाचा का नाम प० श्रीधर मिश्र था।

पडित ईश्वरीप्रसादजी विलक्षण प्रतिभा लेकर ससार मे आये थे। उनको लोग 'मनोरजन-मूर्ति' कहा करते थे। उनका मन बडा तरगी था, कही किसी काम पर ज्यादा देर तक टिकता ही न था। जितनी योग्यता और शक्ति ईश्वर ने उन्हे दी थी, यदि वे उनका ठीक उपयोग कर पाते, तो वे बहुत-कुछ कर जाते। पर अपनी सैलानी तबीयत और दोस्त-परस्ती की लत से लाचार थे। बिना हसे-हंसाये उनका खाना नही हजम होता था। उनके साहित्यिक सगी-साथी यही

देखकर चकित रहते थे कि दिन-रात इष्ट-मित्रो के यहा घूमते-फिरते रहने पर भी वे किस तरह लिखने-पढने का समय निकाल पाते है। पर बात यह थी कि वे दो-चार घटे मे ही उतना लिख-पढ लेते थे, जितना हम लोग दिन-रात-भर मे।

जब वे आरा मे रहते, बैठकबाजी मे ही दिन निकल जाता, हर घडी मित्र-गोष्ठी जमी रहती। शहर मे निकल पडते, तो खास-खास दोस्तो के यहा चक्कर जरूर लगा आते। कही गपशप, कही हसी-दिल्लगी, कही गाना-बजाना, कही कविता-पाठ। विशेषता यह कि गपशप और हसी-दिल्लगी मे भी साहित्यिक पुट खूब! कही तो रसगुल्ले के साथ गुलछर्रे उड रहे है, कही ताश ही जम गया है। जिसके यहा पहुच जाते, वह समझ जाता कि अब हसी-मजाक के सिवा कोई जरूरी-से-जरूरी काम भी न हो सकेगा। अगर कोई कुछ लिख रहा हो और वे अचानक आ पहुचे, तो कलम-दवात-कागज छीनकर अलग रख देगे—'क्या जो है सो दिन-रात कलम-घिसघिस किया करते हो!' यदि वहा पोस्टकार्ड पडे होगे, देखते-देखते पाच-छ चिट्ठिया लिख डालेगे। कमीज-कुर्ते की जेब टटोलने लगेगे, नौकर को पान और शरबत लाने के लिए बाजार भेज देगे। आतिथेय मुह ताकता रहेगा, अतिथि स्वय अपने आतिथ्य का प्रबन्ध कर लेगा। तकल्लुफ से कोई तअल्लुक नही। फिर थोडी देर मे कहेगे—'सडक पर अभी आ रहा था, तो हलवाई मिहीदाने के लड्डू बना रहा था, खूब सोधी सुगन्ध उड रही थी!' मित्र का लडका बगल मे बैठा पढ रहा है, फट उसके आगे पडी किताब ले लेंगे—'जाओ, दूकानदार से कहना कि बाबूजी आध सेर ताजा लड्डू माग रहे हैं।' बाबूजी बेचारे मुह ताक रहे है और शर्माजी सिर हिला-हिलाकर हस रहे हैं—'बहुत दिनो पर आज हाथ लगे हो यार!'

आरा तो शर्माजी का घर ही था, कलकत्ता और आगरा के प्रवास मे भी मैने उनका यही रवैया देखा। कलकत्ता मे उनके साथ एक ही मकान मे रहता था। आगरा और गया मे भी उनके साथ दो-दो महीने रहने का अवसर मिला था[1]। सर्वत्र के मित्रो से उनका एक ही तरह का व्यवहार था।

---

१ सन् १९१२ ई० मे पडितजी ने आरा से सचित्र हिन्दी-मासिक 'मनोरजन' निकाला, जो पूरे दो साल तक यथेष्ट प्रसिद्धि प्राप्त कर बद हो गया। फिर कुछ दिन वे पटना के अस्तगत 'पाटलिपुत्र' पत्र के सहकारी सम्पादक रहे, जब कि शुरू-शुरू उसके प्रधान सम्पादक थे सुप्रसिद्ध विद्वान् बाबू काशीप्रसाद जायसवाल बार-एट-लॉ। उसके बाद गया की नामशेष मासिक पत्रिका 'लक्ष्मी' का सम्पादन-भार ग्रहण करके गया मे एक-डेढ साल तक रहे। साथ

बर्मन प्रेस (कलकत्ता) मे काम करते-करते फुर-से बाहर निकल गये । पहुचे पडित चन्द्रशेखर पाठक के घर । पाठकजी के घर की बनी पान की गिलौरिया और सुगधित सुरती उन्हे बहुत पसन्द थी । लेकिन उनके पहुचते ही पाठकजी समझ जायेगे कि बाग-बाजार के रसगुल्लो के बिना इन्हे गिलौरिया फीकी लगेगी । वहा से उठकर पडित रामगोविन्द त्रिवेदी वेदान्तशास्त्री के भारती प्रेस मे पहुच जायेगे और तुरत गुलाबी कुल्फी का प्रस्ताव पेश कर देगे । इसी प्रकार किसी दिन 'मतवाला-मंडल' पर धावा बोलेगे किसी दिन श्रीमहादेवप्रसाद झुनझुनवाला के 'भारत-पुस्तक-भडार' पर, जो बडतल्ला मुहल्ले मे उन दिनो साहित्यिको का अड्डा-सा था । झुनझुनवालाजी को शर्माजी अपना सिनेमा-थिएटर-एजेट कहा करते थे । जिस दिन भारत-पुस्तक-भडार मे भीमचन्द्र नाग की दूकान के मीठे 'सदेस' उडते, उस दिन सिनेमा-थिएटर का प्रोग्राम जरूर ही बनता—यह निश्चित-सा था ।

ऑफिस-टाइम के बीच में ही प्रतिदिन एक-दो घटे के लिए बाहर निकल पडते थे । नौकरी के बधन की परवाह कभी की ही नही । कहा करते, 'रोज जेब मे त्यागपत्र लेकर ऑफिस जाता हू !' ऑफिस जाने पर झटपट अपना काम कर लेते और जाकर श्रीरामलाल वर्मा के पास गपशप करने लगते । उनके यहा थोडी देर हस-बोलकर पडित नरोत्तम व्यास के पास जा बैठते, फिर श्रीकार्त्तिकेयचरण मुखोपाध्याय मे छेडछाड करने पहुच जाते । उनके आ जाने पर अगर आगे पडा काम छोडा न जाए, तो कलम छीनकर अलमारी के ऊपर रख देगे और दवात मेज के नीचे ! वर्माजी प्राय कहते रहते—'तुम न खुद क म करते हो, न दूसरो को करने देते हो'—पर वे वर्मा की बात सुन-सुनकर केवल मुसकराया करते । वर्माजी भी विवश थे—समझ न पाते कि हर घडी हसने-हसाने मे लगे रहने पर

ही-साथ वहा की 'श्रीविद्या' नामक मासिक-पत्रिका का भी सम्पादन करते थे । वहा से पुन आरा मे आकर घर बैठे पटना की साप्ताहिक 'शिक्षा' का सम्पादन करने लगे । आगरा के मासिक 'धर्माभ्युदय' के प्रथम अक से ही पडितजी ने सम्पादन आरभ किया । लगभग दो-ढाई साल उसका सम्पादन करके कलकत्ता की हरिदास-कम्पनी मे चले गये । वहा भी दो-ढाई साल से ज्यादा न रहे । अत मे कलकत्ता के ही बर्मन प्रेस मे जा पहुचे । उस प्रेस के अध्यक्ष बाबू रामलाल वर्मा के साथ ऐसी घनिष्ठता हो गयी कि अत तक वही रहे, और उक्त वर्माजी ने जब साप्ताहिक 'हिन्दूपच' निकाला, तो एक वर्ष तक उसका झडा ऊचा करके उसी की सेवा में रहते हुए २२ जुलाई १९२६ को कलकत्ता मे ही अचानक चल बसे ।

भी किस प्रकार ये अपना सारा काम निबटा लेते हैं।

काम तो कैसा भी हो, वे उसे उंगलियों पर नचा डालते थे। जब लिखने लगते, लेखनी में बिजली की तेजी रहती, शब्द और भाव मानो हाथ जोड़े खड़े रहते, एक शब्द भी काटते नहीं, अक्षर भी खूब सुडौल, मोती पिरोने में वैसा हस्तलाघव कभी देखा नहीं।

दिल्ली की कांग्रेस में अमर शहीद श्रीगणेशशंकरजी विद्यार्थी ने कहा—'तुम्हें आगरा से दिल्ली आने के लिए इसी कारण पत्र लिखा था कि पूरी-पूरी रिपोर्ट 'प्रताप' को मिल जायेगी।' वही हुआ भी। शर्माजी ने सभी नेताओं के भाषण लिख डाले। तारीफ यह कि बैठे थे हम लोगों के साथ प्रतिनिधियों के ब्लॉक में और अंग्रेजी के भाषणों का भी सारांश लिखते चले जाते थे।

सन् १९२६ ई० में श्रीबेनीपुरीजी ने कलकत्ता पहुंचकर उनसे अनुरोध किया कि 'मेरी कॉरेली' के लिखे 'थेल्मा' उपन्यास का अनुवाद कर दें। अंग्रेजी की किताब भी खरीदकर उन्हें दे आये। मगर टाल-टूल करते-करते शर्माजी ने हफ्तों बिता दिया। एक दिन मैंने तकाजा किया तो कहने लगे—'अभी मौज नहीं आती, देखा जायेगा।' जब मैं कई दिन बार-बार याद दिलाने लगा, तब अनायास इ[illegible] में आकर बोल उठे—एक पखवारे में पूरी प्रेस-कॉपी जरूर दे दूंगा। सचमुच वैसा ही किया। पूरी पुस्तक का अनुवाद रातों-रात रगड़कर रख दिया[1]।

आगरा-प्रवास में भी मासिक 'धर्माभ्युदय' का सम्पादन और प्रकाशन हंसी-खेल में ही करते थे। कभी पंडित बदरीनाथ भट्ट[2] आ गये, तो सारा दिन साहित्यिक हास्य-विनोद में ही बीत गया। कभी श्रीमहेन्द्रजी (वर्तमान 'साहित्य-सन्देश'-संचालक)आदि मित्रों के साथ ताजमहल, आगरा-दुर्ग, सिकन्दरा, शिवपुरी, इतमादुद्दौला का मकबरा आदि की ओर निकल गये। सैर-सपाटे में, तरह-तरह की अच्छी चीजें खाने में, मेले-तमाशे में, मित्रों को अदबदाकर छेड़ते फिरने में उन्हें बड़ा सुख मिलता था। जब प्रेस के गुजराती मैनेजर श्रीप्राणशंकरजी 'धर्माभ्युदय' के मैटर के लिए तकाजा करने लगते थे, तब बस एक-दो दिन में ही

---

१. यह अनुवादित पुस्तक 'प्रेमिका' नाम से पुस्तक भंडार, पटना द्वारा प्रकाशित है। उनकी लिखी और सम्पादित तथा अनुवादित पुस्तकों की संख्या लगभग डेढ़ सौ है। इनके अतिरिक्त लगभग डेढ़-दो दर्जन पुस्तकें दूसरों के नाम से या दूसरों के लिए लिखी हैं। अखबारों और साहित्यिक पत्र-पत्रिकाओं में जो अनेक रचनाएं छपीं, वे अलग हैं।

२. प्राध्यापक, हिन्दी विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय—सं०

अथ से इति तक सारा मैटर तैयार कर देते थे। रचनाओ का सशोधन इतनी दक्षता से करते थे कि साधारण रचना भी रोचक बन जाती थी। प्रूफ के सशोधन मे भी उतने ही पटु थे। मेज पर गड्ड-के-गड्ड प्रूफ पडे रहेगे, जहा लेखनी हाथ मे ली कि मेज साफ!

कविताए असख्य कठस्थ थी। जी चाहे व्रजभाषा की सुन लीजिए, खडी बोली की, उर्दू की, बगला की, सस्कृत की, चाहे जो फरमाइस कीजिए। 'प्रियप्रवास' और 'भारत-भारती', 'वीर-पचरत्न' और 'त्रिशूल-तरग', जयद्रथ-वध' और 'रग मे भग'—ये काव्यग्रथ जिन दिनो प्रकाशित हुए थे, शर्माजी इनके अनेक पद्य उठते-बैठते और चलते-फिरते भी गुनगुनाया करते थे। लाला भगवानदीनजी ने उनकी पीठ ठोकते हुए कहा था—'वीर-पचरत्न' की रचना करते समय मुझे उतना आह्लाद नही हुआ था, जितना तुम्हारे मुख से उसे सुनकर हो रहा है। तुम अपनी ओजस्विनी पाठ-शैली से पद्यो मे जान डाल देते हो।'

'प्रिय-प्रवास' और भारत-भारती' के भी कई सर्ग कठाग्र थे। जिस रस की कविता सुनाते थे, अपनी भाव-भगी और स्वर-लहरी से उस रस का रूप खडा कर देते थे। लौकिक व्यवहार का कोई ऐसा प्रसग नही, जिसके अनुकूल सस्कृत के श्लोक और उर्दू के शेर उन्हे याद न हो। हर मौके पर फिट होने वाली सूक्तिया सुन लीजिए, किस्से और लटके-लतीफे सुन लीजिए।

उर्दू का 'अलिफ-बे' भी नही जानते थे, मगर उर्दू शब्दो का उच्चारण इतना चुस्त-दुरुस्त होता कि पूरे मौलाना जान पडते। आरा मे उन्होने 'मनोरजन-नाटक-मडली' स्थापित की थी। उसके द्वारा 'सत्य हरिश्चन्द्र,' 'मयूरध्वज' आदि कई नाटक अभिनीत हुए थे। 'सत्य हरिश्चन्द्र' मे उन्होने डोम का स्वाग धारण किया था और 'मयूरध्वज' मे भगवान श्रीकृष्ण का। उनका अभिनय-कौशल जिसने देखा है, वही कह सकता है कि वे कैसे स्वाभाविक अभिनेता थे। एक बार 'नागरी-निरादर' नामक प्रहसन खेला गया, जिसमे वे मौलाना के वेश मे रगमच पर उतरे थे। उनकी जबानदानी ने बडे-बडे मौलवियो को भी हैरत मे डाल दिया। 'पारिजात' के सचालक पडित रामदहिन मिश्रजी उनको मौलाना की भूमिका मे देखकर हसते-हसते लोट गये थे। तारीफ यह कि नाटक के रिहर्सल (अभ्यास) मे वे प्राय अपना पार्ट अदा नही करते थे, किन्तु रगशाला मे जब उनका जौहर खुलता था, दर्शक मुग्ध और स्तब्ध हो जाते थे। अभिनय का अभ्यास कराते समय वे स्त्री-पात्रियो को भी बडे ठिकाने से भाव-भगिमा सिखाते थे, गानो का तर्ज भी वही ठीक करते थे। वेशभूषा की सजावट खुद ही करके अभिनेताओ को रगमच पर भेजते थे।

नाटक खेलने और देखने के वे बडे शौकीन थे। कलकत्ता मे रोज नाटक देखते थे। स्टार-थिएटर मे 'कृष्णार्जुन' और मनमोहन थिएटर मे 'सीता' लगातार

साल-भर देखते रहे, कभी नागा न किया। ऑफिस से आने के बाद का वही बधा प्रोग्राम था। निबट-नहाकर नाटक देखने चले, जेबो मे मूगफली और सूखे मेवे भर लिये। रास्ते मे कही मीठे बिस्कुट पर मन चल गया, कही कचालू रसीला चखने लगे, कही ईख की गडेरिया चूसने लग गये, कही छिले कसेरू और सिंघाडे जेब मे भर लिये। जब नाटकाभिनय के बीच मे अवकाश हुआ, नमकीन तिकोने समोसे की तलाश करने लगे, और ऊपर से पानी की जगह सतरे का शरबत तो चाहिए ही! पैसे को ठीकरा कर देने मे तनिक भी हिचक नही!

कलकत्ता-प्रवास मे मैने देखा, किसी-किसी महीने मे पाच-सात सौ रुपये कमा लेते थे। कविराजो के सूची-पत्रो के हिन्दी-अनुवाद से काफी रकम आती थी। मगर अटी मे छदाम का नाम नही। न अभाव कभी दूर हुआ और न उन्हे कभी खला। भला अभाव अखरता ही क्यो, जब मित्रो और परिचितो के पैसे भी उनके अपने ही पैसे थे। मित्रो के साथ अपने-पराये पैसे का भेद नही रखते थे। ट्राम-टैक्सी के भाडे मे, सिनेमा-थिएटर के टिकट मे, कभी मित्रो के आर्थिक सहयोग की प्रतीक्षा नही करते थे। घर से जेब भरकर निकलेंगे और लौटेंगे खाली हाथ! आपस मे लेन-देन का हिसाब-किताब रखते ही न थे। रुपये-पैसे, चाहे मित्र के हो या उनके अपने, खर्च मे कुछ भी शील-सकोच नही। न अपना जुगाना जानते थे, न मित्र का झूसना। जब तक पाकेट गरम है, गगा की अखड धारा बहती रहेगी।

लगभग १९१७ की बात है। पडितजी आगरा मे 'धर्माभ्युदय' के सम्पादक थे और मै आरा के एक स्कूल मे हिन्दी-शिक्षक था। मेरे मन मे आगरा का 'ताजमहल' देखने की उत्कट लालसा थी। मगर अटी मे दाम नही था कि लालसा पूरी हो। मैने पडितजी को पत्र लिखा। उन्होने स्नेहपूर्ण आश्वासन देते हुए वचन दिया कि तुम्हे बुलाने का प्रयत्न कर रहा हू। ईश्वर की कृपा से 'धर्माभ्युदय' के अध्यक्ष सेठ लक्ष्मीचन्दजी की 'जैन-लाइब्रेरी' सुधारने के लिए उन्होने राह-खर्च भेजकर मुझे साग्रह बुलाया। मैंने वहा जाकर लगभग एक महीने मे उस अस्त-व्यस्त दशा मे पडी हुई सर्वांग सुन्दर लाइब्रेरी को भली-भाति सुधार दिया—अक्षरानुक्रम और विषयानुक्रम से खूब वढिया सख्याबद्ध ग्रन्थ-सूची तैयार करके पुस्तके सजा दी। तब तक दिल्ली काग्रेस का समय आ पहुचा। उस तैतीसवी बैठक के सभापति माननीय मालवीयजी थे। फिर मै, पडितजी और उक्त सेठजी के सहृदय सुपुत्रो के साथ दिल्ली गया। वहा 'हिन्दी-समाचार' के कार्यालय मे स्वर्गीय पडित शिवनारायण द्विवेदी (सम्पादक) के यहा हम लोग ठहरे। वही 'पाटलिपुत्र' के प्रधान सम्पादक विनोद-मूर्ति श्री सोनासिंह चौधरी और उसके सहकारी सम्पादक पडित रामानन्द द्विवेदी भी उतरे थे। दिल्ली से हम लोग उक्त चौधरीजी और द्विवेदीजी के साथ व्रजभूमि के दर्शन को चले।

पडितजी और चौधरीजी का मेल ढोल-मजीरे का मेल था। रास्ते-भर खूब विनोद-विलास रहा। दिल्ली से मथुरा तक 'रसखान' के 'सवैयो' की खूब छूट रही। मथुरा मे पडे के घर पहुचने पर कपडे उतारते-उतारते पडितजी वहा भी 'प्रियप्रवास' का पारायण करने लग गये—

'मधुकर ! सुन तेरी श्यामता है न वेसी।
अति अनुपम जैसी श्याम के गात की है॥
पर जब नयनो से देख लेती तुझे हू।
छवि उर खिच जाती श्यामली मूर्त्ति की है॥'

चौधरीजी की बात आज तक नही भूलती। पडितजी के यह पद्य कहते ही वे कह उठे—'यार ईश्वरी ! तुम्हारे मुह से ऐसे मीठे स्वर मे कोई कविता सुनकर जी करता है कि तुम्हारा गला काट लू। अगर मूछ मुडाकर रासमडल मे शामिल हो जाओ, तो कितने ही कृष्णोपासक कठी-माला तोडकर तुम्हारे पीछे पड जाये।'

मगर पडितजी कब चूकने वाले थे—एक नम्बर के हाजिरजवाब ! छूटते ही बोल उठे—'अगर आप 'कुब्जा' बनने को राजी हो, तो मै 'कृष्ण' बन सकता हू, क्योकि आपका शरीर स्वभावत वक्र है और मेरा गला स्वभावत मुरली-मधुर !' इस पर बडी हसी हुई। आह, कैसे थे वे दिन !

दूसरे दिन विश्राम-घाट पर जब पडितजी ने अपने रसीले गले से 'साटी लिये उगिलावत माटी' वाला सवैया छेडा, तो यमुना के तीर पर खडे-खडे चौधरीजी झूमने लग गये। उनकी वह मुग्धा दृष्टि—उनकी वह रसानुभूतिमयी तन्मयता अचिन्त्य तृप्ति से भरी जान पडी। उस समय का एक-एक दृश्य अनूठा था !

फिर उसी दिन जब एक्के पर वृन्दावन की यात्रा हुई, तो रास्ते भर यही चर्चा होती गयी, कि 'माखनचोरजी' भी अव्वल दर्जे के दिल्लगीबाज थे—उनकी निष्कलक छेडखानियो मे जो माधुर्य है, वह आजकल के भुस-भरे सूखे दिमागो मे तब तक नही आ सकता, जब तक उतना ही काफी दूध-माखन खाने को न मिले। रास्ते मे जो वृन्दावन के कुज-झाड आदि मिलते जाते थे, उन पर भी तरह-तरह की एक-से-एक सरस उक्तिया जडी जाती थी और सबमे भगवान् श्रीकृष्ण के उस आनन्दामृतमय बाल्यकाल की सुखद स्मृतियो की छाप लगी होती थी। पहले-पहल वही, पडितजी के ही मुख से, मैंने यह श्लोक सुना था—

'अनेकजन्मार्जितपापचौर चौराग्रगण्य पुरुष नमामि॥'

यमुना की दिव्य रेत पर—'प्रेम-महाविद्यालय' के सामने—कुछ देर साहित्यिक बैठक हुई। उक्त चौधरीजी की इच्छा के अनुसार 'श्रीकृष्ण की वशी'

पर कवित्त-सवैया-दोहे कहे जाने लगे। चौधरीजी भी एक नम्बर के कथक्कड ही थे—मौके-मौके की चीज उन्हे खूब याद थी। कुछ दोहे मेरी नोट-बुक मे पडितजी की कलम से ही लिखे मौजूद है—

'सुर-कुल-हिय कुल-कानि-तरु काटी बसी-तान।
सिथिल अग चचल खसै, बेधित मन्मथ बान॥
याते सुरपति कोप करि तनिक न लायो बार।
ब्रज-महि ऊपर सात दिन, बरसत मूसलधार॥
जब-जब तरनि-सुताप से, व्याकुल ब्रज चहु ओर।
तब-तब बसी-तान से, घिरि आवत घनघोर॥
बदन सुधाकर सर बिमल, लोचन कज नवीन।
हरि मुख बसी लसत जनु, हरित रग के मीन॥
सुधा पान किय अमर-गन, तबहु असुर दुख दीन।
जब बसी-धुनि पान किय, सुर-दुर्लभ पद लीन॥
जैसे राखत जतन करि, घर सम्पति धन सूम।
तैसी बसी को हरी, जुगवत है मुख चूम॥
तनु तमाल तरु फूल पर, बिम्बाफल गहि कीर।
तापर बसी विहगवर, बोलत अमृत बीर॥'

पडितजी के ही लेखानुसार ये दोहे 'दाउदनगर' (गया) निवासी बाबूलाल वैश्य-रचित 'वशी-प्रताप-शतक' के है। इन दोहो का सस्वर पाठ करते समय पडितजी की मुखश्री की जो छटा थी, वह अब तक मेरी स्मृति की आखो मे झलक रही है।

न जाने अवसर-अवसर पर कहने के लिए कितनी चीजे वे याद किये रहते थे। वृन्दावन के तट से दूर हटी हुई यमुना को देखकर कहने लगे—'आखिर यमुना ठहरी निठुर, यमराज की ही बहन तो, किस क्रूरता से वृन्दावन की शोभा की हत्या कर डाली है! इस काले हृदयवाली को अपनी श्रीहीनता की भी नही सूझी—दूर हटकर व्रजयात्रियो से बीचवाली रेत की खाक छनवाती है। अहा! कालिन्दी-कूल पर वृन्दावन की वह कैसी छवि रही होगी!' यह कहकर 'प्रिय-प्रवास' के छन्द की सधी लय से यह श्लोक कहने लगे—

'वृन्दारण्ये तपनतनया-तीर-वानीर-कुञ्जे
गुञ्जन्मञ्जु-भ्रमर-पटली-काकली-केलिभाजि।
आभीराणा मधुर-मुरली-नाद-समोहिताना
मध्ये क्रीडन्नवतु नियत, नन्दगोपालबाल॥'

इसी प्रकार वृन्दावन मे लखनऊ के शाहजी का सगमरमर-मन्दिर, रगजी का किलानुमा विशाल मन्दिर, वशीवट, केलिकुञ्ज आदि के दर्शन करते समय पडितजी जिस सहृदयता और भावुकता से भगवान् कृष्ण-सम्बन्धी श्लोक और छन्द-कवितादि कहते जाते थे, वह उनकी पुलकावली-पूर्ण भावभगी और श्रीकृष्णानुराग की मस्ती मे झूमने की प्रकृति अविस्मरणीय है।

स्मरण आता है वह श्लोक जिसे पडितजी ने वृन्दावन से प्रस्थान करते समय चौधरीजी को मधुर स्वर मे सुनाया था और आगरा लौटकर मेरी नोट-बुक मे खुद लिख दिया था। इसी श्लोक को एक बार पडितजी ने कलकत्ता मे 'सेनापति'-सम्पादक प० रामगोविन्द त्रिवेदी वेदान्तशास्त्री को, उनके समाधिस्थ 'भारती'-प्रेस मे सुनाया था, तो वे प्रशसात्मक स्वर मे कहने लगे कि 'भारतधर्म-महा-मण्डल' (काशी) के स्वामी दयानन्द बी० ए० के सिवा किसी के कण्ठ से आज तक ऐसे ललित स्वर मे कोई श्लोक सुनने मे नही आया—

'दोर्भ्या दोर्भ्या व्रजन्त व्रजसदनजनाह्वानत. प्रोल्लसन्त
मन्द-मन्द हसन्त मृदुमधुरवचो मेति मेति ब्रुवन्तम्।
गोपालीपाणितालीतरलितवलयध्वानमुग्धान्तराल
वन्दे त देवमिन्दीवरविमलदलश्यामल नन्दबालम्॥'

प्रथम काशी-प्रवास

सन् १९१३ मे मैट्रिक पास करते ही मै मुगलसराय चला गया था। वहा मेरी दूसरी शादी के बडे साले रेलवे-गार्ड थे। उनके एक मित्र पडित बदरी द्विवेदी राजघाट (काशी) स्टेशन पर टिकट-चेकर थे, जिनके बडे भाई पडित शिवप्रसाद द्विवेदी बनारस की दीवानी अदालत मे मुनसरिम थे। इन्ही मुनसरिम साहब की कोशिश-सिफारिश से मै उस कचहरी मे हिन्दी-नकलनवीस नियुक्त हुआ। उस समय कोई हिन्दी लिखने वाला क्लर्क नही था।

नियुक्ति से पहले मेरी योग्यता-परीक्षा हुई। बाबू गौरीशकरप्रसाद वकील ने मेरी जाच की। मेरी लिखावट उनको शुद्ध और सुन्दर जची। मैने इण्ट्रेस क्लास (सन् १९०९) तक उर्दू-फारसी पढी थी। सन् १९१० मे इण्ट्रेस ही मैट्रिक हो गया। तब मैं एकाएक सस्कृत-हिन्दी पढने लगा। इसलिए उर्दू भी फारसी लिपि मे खुशखत ही लिखता था। खुशखत होने के कारण मैं उक्त वकील साहब का तो स्नेहभाजन हुआ ही, ऐडिशनल मुन्सिफ बाबू रघुवरदयाल का भी कृपापात्र हुआ। मुन्सिफ साहब आगरा-निवासी थे। उनके दफ्तर मे एक सज्जन श्री राधाकृष्णजी थे। वह गोवर्धन सराय मुहल्ले के रहने वाले थे।

गोवर्धन सराय मे ही प्रसादजी का घर है। वही सज्जन प्रेरक बने। हिन्दी का प्रेमी तो मैं था ही, स्कूल मे पढते समय से ही आरा की नागरी-प्रचारिणी-सभा मे प्राय जाया करता। अदालत की नौकरी से छुट्टी मिलने पर काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा मे भी जाने लगा। अखबार पढने का शौक खूब था। वकील साहब भी 'सभा' के कोई पदाधिकारी थे। वह मुझे नागराक्षर मे लिखने के लिए कुछ काम दिया करते थे। उसके लिए पैसे भी दिलवाते। दफ्तर मे भी रोज की बाहरी आमदनी से कुछ हिस्सा मिलता ही था। उन दिनो कचहरी (अरदली-बाजार) से कम्पनी बाग (ना० प्र० सभा) तक या बेनिया-बाग (गोवर्धन सराय) तक की सवारी एक-डेढ आना एक्का-भाडा लगता था। मै दोनो जगहो का चक्कर काटा करता। जान-पहचान तो किसी से थी नही। दूर से ही बाबू श्यामसुन्दरदास को 'सभा' मे देख लेता और कभी 'प्रसादजी' को भी उनके घर जाकर। अपना परिचय मैं कैसे देता? सकोच के मारे साहस न होता था।

मै रहता था खजूरी मुहल्ले मे—कचहरी से थोडी ही दूर—उपर्युक्त मुनसरिम साहब के घर पर। मेरे बडे साले ने व्यवस्था करा दी थी। वहा पडित अम्बिकाप्रसाद वैद्य भी रहते थे। वह मिर्जापुर के निवासी थे। वह प्राय भारतेन्दु-सखा प्रेमघनजी की चर्चा किया करते थे। वह साहित्यिक न होने पर भी साहित्यानुरागी होने के कारण प्रसादजी को भी जानते थे। मुनसरिम साहब विश्वविख्यात ज्योतिषाचार्य पडित सुधाकर द्विवेदी के गोतिया दामाद थे। इसलिए वैद्यजी कभी-कभी ज्योतिषीजी के घर से हिन्दी-पत्र-पत्रिकाएं लाया करते थे। उन्हे मैं रातो-रात पढ डालता था। 'सभा' के वाचनालय मे थोडी ही देर ठहरने का समय मिलता था, क्योकि बासा बहुत दूर था, अत पढने की भूख नही मिटती थी।

मै आरा की नागरी-प्रचारिणी-सभा मे ही 'इन्दु' देख चुका था। सम्भवत· वह सन् १९१० मे ही निकला था। उन दिनो उसकी बडी प्रसिद्धि थी। काशी मे रहते समय 'इन्दु'-कार्यालय देखने की बडी उत्कण्ठा हुई। 'सभा' के वाचनालय मे एक पाठक से परिचय हुआ। उनका नाम अब याद नही। वही पथ-प्रदर्शक बने। उस समय मन मे विचित्र कुतूहल था। दर्शनोत्कण्ठा के सिवा कोई कामना न थी। पूर्वोक्त श्री राधाकृष्ण की प्रेरणा से 'प्रसादजी' का घर देख चुका था। किसी दिन 'सभा' की ओर न जाकर 'प्रसादजी' के घर की ही परिक्रमा कर आता था। उस समय पडित रूपनारायण पाण्डेयजी भी 'प्रसादजी' के यहा रहते थे। वह भारत-धर्म-महामण्डल की मासिक पत्रिका 'निगमागम चन्द्रिका' का सम्पादन करते थे। उनको भी पहले-पहल वही देखा।

प० बदरीनाथ भट्ट

अपनी पहली साहित्यिक यात्रा मे ही मुझे भट्टजी के दर्शन हुए थे। अखिल भारतीय हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन का पचम अधिवेशन १९१४ मे लखनऊ मे होने जा रहा था। आरा-नागरी-प्रचारिणी सभा का प्रतिनिधि दल बडे उत्साह से प्रस्थित हुआ। दल का सघटन बडा सुन्दर था। बाबू जयबहादुर बैकर, सभा के जन्म-दाताओ मे एक प्रमुख व्यक्ति, सभा के तात्कालिक सभापति, बाबू ब्रजनन्दन सहाय, 'सौन्दर्योपासक' और 'लालचीन' नामक उपन्यास के लेखक, महाकवि मैथिल-कोकिल विद्यापति को बगला-साहित्य से हिन्दी-साहित्य मे लाने वाले प्रथम व्यक्ति, सभा के मत्री, प्रोफेसर बदरीनाथ वर्मा, बी० एन० कॉलेज (पटना) के अध्यापक, बिहार-विद्यापीठ के प्राण और बिहार मे राष्ट्रीय आन्दोलन के निस्पृह सेवक, मनोरजन-मूर्ति पडित ईश्वरीप्रसाद शर्मा, मेरे पूज्य साहित्य-गुरु और भट्टजी के घनिष्ठ मित्र, बाबू अवधविहारी शरण, 'मेगस्थनीज का भारत-विवरण' नामक पुस्तक के लेखक, बाबू शुकदेव सिंह, सभा के पेटेण्ट पुस्तकालय अध्यक्ष और मडली के सगठनकर्त्ता, बाबू कृष्णजी सहाय, बाबू शिवशकरप्रसाद गुप्त, बाबू नित्यानन्द गुप्त, सभा के अन्यतम पदाधिकारी, और मैं—उस समय आरा के एक हाईस्कूल मे हिन्दी-शिक्षक।

मडली 'चली सुभग कविता-सरिता सो' और मार्ग मे, काशी मे, 'मिलेउ महानद सोन सुहावन' बाबू जयरामदास गुप्त, 'उपन्यास-बहार' के सम्पादक और शुद्ध बनारसी रग के पक्के रगसाज। बडा आनन्द रहा। रास्ते के स्टेशनो पर साहित्यानुरागियो के दल मिलते गये। 'यथा नदीना बहवोऽम्बुवेगा समुद्रमेवाभि-मुखा द्रवन्ति'—सभी ओर की नदिया उमडकर आनन्द-सागर की ओर चली जा रही थी। वास्तव मे वह साहित्य-सम्मेलन आनन्द-सागर ही था।

उसके बाद और भी कई अधिवेशन देखने मे आये, पर वह छटा न रही। उसके दूसरे ही साल सम्मेलन-केन्द्र प्रयाग मे छठा अधिवेशन हुआ, जिसके सभापति वही बाबू श्यामसुन्दरदासजी थे, जो लखनऊवाले अधिवेशन के सफल कर्णधार थे, पर वह बात न रही—यद्यपि इस(छठे अधिवेशन)मे भी पूज्य आचार्य द्विवेदीजी पधारे थे, भारतेन्दु-सखा कविवर 'प्रेमघन' जी भी उपस्थित थे जिनकी त्रिकुटी (भ्रूमध्य) पर लाल-हरे-पीले-नीले बिन्दुओ की अपूर्व शोभा थी, हास्यरसावतार पडित जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी ने 'अनुप्रासेर अट्टहास' के उत्तर मे 'अनुप्रास का अन्वेषण' शीर्षक सरस निबन्ध सुनाकर सबको लोटन-कबूतर बना दिया था।

लखनऊ के पचम सम्मेलन का आतिथ्य बहुतो को याद रह गया। स्वनाम-

धन्य बाबू श्यामसुन्दरदासजी का प्रबन्ध-कौशल देखने ही योग्य था। कालीचरण हाई स्कूल के प्रशस्त आगन मे सुसज्जित पडाल बना था। बाबू साहब ही उन दिनो उसके हेडमास्टर थे, पडाल के मच पर लब्धकीर्ति साहित्यसेवीगण शोभायमान थे—कविवर पडित श्रीधर पाठक (सभापति), 'पूर्ण' जी, टडनजी, 'हरिऔध' जी, पडित अमृतलाल चक्रवर्ती, स्वामी सत्यदेव, पडित जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी, श्री हरिश्चन्द्र वेदालकार प्रभृति।

उस अधिवेशन मे प० सत्यनारायणजी कविरत्न भी पधारे थे, उनका देहाती बाना और कविता-पाठ की सुरीली शैली अब तक भूली नही है। भट्टजी ने उनसे एकान्त मित्रमडली मे बिरहा गवाया था—अहीरो का अलग, धोबियो का अलग। धोबी और धोबिन का सवाल-जवाब अत्यन्त सरल साहित्यिक!

लखनऊ-सम्मेलन मे 'पूर्ण' जी की चमत्कारपूर्ण कविताओ ने खूब रसरग बरसाया। उस अवसर पर भट्टजी के प्रासगिक विनोदो ने हसाते-हसाते लोट-पोट कर दिया। मच के नीचे एक दूसरी ही दुनिया थी।

लखनऊ-सम्मेलन मे प्रयाग के कविवर प० माधव शुक्ल की नाटक-मडली आयी थी। उसमे प० बालकृष्ण भट्ट के ज्येष्ठ सुपुत्र प० महादेव भट्ट ने 'सत्य हरिश्चन्द्र' नाटक मे 'पाप' का अद्भुत अभिनय दिखाया था। उस समय भी भट्टजी ने अपने समयानुकूल विनोदो से दर्शको को खूब हसाया था।

लखनऊ से हमारी मडली अयोध्या होती हुई आरा आयी। अयोध्या मे सखी-सम्प्रदाय के आचार्य श्रीभगवानप्रसादजी के दर्शन और सत्सग का सौभाग्य प्राप्त हुआ। हनुमन्निवास मे रूपकला-कुज उनका निवास-स्थान था। भक्त-प्रवर की वह प्रेम-मधुर झाकी बडी प्रभावशालिनी थी।

भट्टजी से गुरुवर ईश्वरीप्रसादजी की बडी घनी मैत्री थी, इसीलिए मुझ पर भी भट्टजी का बडा स्नेह था। शर्माजी ने आरा से मासिक 'मनोरजन' निकाला था, जिसमे भट्टजी प्राय लिखा करते थे। 'मनोरजन' के ग्राहको को वार्षिक उपहार देने के लिए भट्टजी ने अपनी लिखी 'मनोरजन' नामक पुस्तक की सैकडो प्रतिया मुफ्त ही भेज दी थी। पडित मन्नन द्विवेदी गजपुरी भी 'मनोरजन' मे बराबर लिखते थे। यह गुट गोलमालकारिणी सभा का समर्थक था।

प० ईश्वरीप्रसाद शर्माजी जब आगरा मे मासिक 'धर्माभ्युदय' के सम्पादक थे, मैं भी वहा एक-डेढ महीने तक रहा था। भट्टजी प्राय प्रतिदिन गोकुलपुरा से बेलनगज आते थे। प्रेस मे घटो बैठकबाजी होती थी। वर्तमान 'आगरा-पच'-सम्पादक और आगरा-नागरी-प्रचारिणी सभा के मत्री श्रीमहेन्द्रजी भी उस साहित्यिक बैठक मे रहा करते थे। एक बार कविवर बाबू मैथिलीशरण गुप्त भी आगरा आये थे। ताजमहल के आगन मे शर्माजी, भट्टजी और गुप्तजी का एक

साथ फोटो लिया गया था। शर्माजी के मरने के बाद जब कभी भट्टजी से भेट हुई, उस फोटो का हाल मुझसे पूछा करते थे।

उसी साल दिल्ली मे इकतीसवी या तैतीसवी काग्रेस हुई थी, जिसमे पहले-पहल किसान-प्रतिनिधियो का नि शुल्क प्रवेश हुआ था, और जिसके सभापति थे महामना मालवीयजी महाराज। उन दिनो बिक्री के टिकट पर ही प्रतिनिधियो का प्रवेश होता था, चुनाव का झमेला न था। आगरा-दल के साथ मै भी यू० पी० के ब्लॉक मे बैठा था और महेन्द्रजी भी। भट्टजी का विनोद वहा भी अपना रग बरसा रहा था। महामना मालवीयजी गोवध और हिन्दू-मुस्लिम एकता के प्रश्न की चर्चा करते हुए अपने अन्तिम भाषण मे स्वय रो पडे। भट्टजी बोल उठे—'हमारे मालवीयजी महाराज ने अपने आसुओ पर गजब का कब्जा कर रहा है, यदि इनका कण्ठ गद्गद और स्वर भरा न होता, तो लोग यही समझते कि इनके हाथ मे जो रूमाल है, उसमे पिपरमिंट लगा है।' सब लोग हसने लगे। ब्लॉक गूज उठा।

मैं गया था आगरा-दल के साथ, पर ठहरा था 'पाटलिपुत्र' सम्पादक बाबू सोनासिह चौधरी के साथ 'हिन्दी-प्रचारक' कार्यालय मे, जिसके सम्पादक थे प० शिवनारायण द्विवेदी। 'हिन्दी-प्रचारक' साप्ताहिक था, पर उस अवसर पर उसके दैनिक सस्करण भी निकल रहे थे। बाबू सोनासिह चौधरी भी बडे विनोदी थे। प० ईश्वरीप्रसादजी के साथ भट्टजी और विद्यार्थीजी दो बार चौधरीजी के यहा आये, क्योकि चौधरीजी को अपने रुग्ण शरीर के कारण कही आने-जाने मे बडी कठिनाई होती थी। भट्टजी उनको 'स्थावर देवता' कहते थे।

दिल्ली से मैं अकेला चौधरीजी के साथ मथुरा-वृन्दावन चला गया, और जब आगरा लौटा, तब भट्टजी शायद बम्बई या कही बाहर चले गये थे। फिर उनसे लखनऊ मे ही भेट हुई, जहा वे विश्वविद्यालय मे हिन्दी के प्रोफेसर थे, और मैं 'माधुरी' के सम्पादकीय विभाग मे काम करता था। वे विश्वविद्यालय से लौटकर प्रतिदिन सध्या समय 'माधुरी' कार्यालय मे पहुच जाते थे। श्रीदुलारेलाल भार्गव के साथ बडे मजे की चुहलबाजी होती थी, जिसका रस लेकर प० कृष्णबिहारी मिश्र रईसी हसी हसा करते थे। भार्गवजी और भट्टजी मे अन्तरग मित्र की भाति बातें होती थीं, और उनकी सरसता तब और भी बढ जाती थी, जब लखनऊ विश्वविद्यालय के प्रसिद्ध अर्थशास्त्री प्रोफेसर दयाशकर दुबे पहुच जाते थे। दुबे जी भी प्रायः नित्य ही आते थे। कभी-कभी प्रोफेसर आद्यादत्त ठाकुर भी उस विनोद-गोष्ठी को सजीव बना जाते थे। किसी-किसी दिन पाडेयजी (प० रूप-नारायणजी, 'माधुरी-सपादक')के उपस्थित रहने पर अट्टहास का समा बध जाता था।

जिस दिन हिन्दू-मुस्लिम-दगा शुरू हुआ, उस दिन अमीनाबाद पार्क मे शाम को भट्टजी भी हम लोगो के साथ ही बैठे थे। चिराग-बत्ती के बाद ही दगे का हुल्लड मचा और उसके कुछ ही देर पहले पाडेयजी हम लोगो से विदा होकर घर की ओर बढे थे। शायद पार्क मे प्रोफेसर दुबेजी बैठे ही थे। प० शान्तिप्रिय द्विवेदी के साथ भट्टजी विनोद-भरी बाते कर ही रहे थे कि हो-हल्ला शुरू हुआ। अपनी साइकिल लेकर भट्टजी हसते हुए ही भागे और शान्तिप्रियजी के साथ मै जूते छोड भागा। दगे के बाद भेट होने पर खूब हसी हुई, और बराबर ही यह चर्चा हसाती रही। दगे के सम्बन्ध मे मतवाला'[1] मे मेरा लेख पढकर भट्टजी लाटूश रोड के अपने मकान मे इतना अधिक हसे कि आखो मे आसू आ गये।

कविवर माधव शुक्ल

कविवर प० माधव शुक्ल से मेरा सर्वप्रथम परिचय लखनऊ मे हुआ था। अखिल भारतवर्षीय हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन का पचम अधिवेशन प० श्रीधर पाठक के सभापतित्व मे वहा के कालीचरण हाईस्कूल मे हुआ था, यह १९१४ की घटना है। उस अवसर पर यहा प्रयाग की हिन्दी-नाट्य-परिषद् ने 'सत्य हरिश्चन्द्र' नाटक का अभिनय किया था। उसमे शुक्लजी ही राजा हरिश्चन्द्र थे। स्वनामधन्य प० बालकृष्ण भट्ट के ज्येष्ठ सुपुत्र प० महादेव भट्ट ने 'पाप' का स्वाग धारण किया था। यह प्रसग उस नाटक मे नया जोडा गया था। भट्टजी का अभिनय बडा ही स्वाभाविक, प्रभावशाली और विनोदपूर्ण हुआ था। डोम का स्वाग धारण किया था श्री मुद्रिकाप्रसाद ने, जो मेरे जिले (शाहाबाद) के निवासी थे, पर इलाहाबाद मे बैक की नौकरी करते थे।

नाटक बड़ी सफलता के साथ खेला गया। शुक्लजी ने अपने नाट्य-कौशल से दर्शकवृन्द को मुग्ध कर दिया। उस समय मेरे साहित्य-गुरु प० ईश्वरीप्रसाद शर्मा भी वहा गये हुए थे। उन्होंने शुक्लजी के अभिनय से उत्साहित होकर अपने नगर (आरा) मे लौटते ही 'मनोरजन-नाटक-मण्डली' सगठित कर 'सत्य हरिश्चन्द्र' का अभिनय उसी शैली पर किया।

शुक्लजी ने वहा हम लोगो से कहा था कि हिन्दी प्रचार तथा साहित्यानुराग-वृद्धि के लिए नाटक ही अमोघ साधन है। वास्तव मे जिसने वहा नाटक देखा, वह हिन्दी का लोहा मान गया। शुक्लजी का अभिनय इतना चित्ताकर्षक होता था कि दर्शक अपने हृदय पर अमिट छाप लेकर घर लौटते थे।

---

१. 'मतवाला', २० सितम्बर, १९२४—सं०

फिर उसके बाद दूसरे ही साल छठे साहित्य-सम्मेलन मे, जो लाला राम-प्रसाद के बाग मे, प्रयाग मे, बाबू श्यामसुन्दरदास के सभापतित्व मे हुआ था, शुक्लजी के लिखे हुए 'महाभारत' (पूर्वार्द्ध) नाटक का अभिनय हुआ। उसके दर्शको मे भारतेन्दु-सखा प० बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' और आचार्य द्विवेदी जी भी थे। शुक्लजी ने भीम की भूमिका मे अपना ओजस्वी अभिनय दिखाया। दुर्योधन थे प० रासबिहारी शुक्ल और कर्ण प० वेणीप्रसाद शुक्ल और धृतराष्ट्र थे प० महादेव भट्ट। इन तीनो का अभिनय ऐसा हुआ कि न भूतो न भविष्यति।

भीम के रूप मे शुक्लजी को जिसने देखा है, वही उनके विशाल व्यक्तित्व और तेजस्वी स्वरूप की कल्पना आज भी कर सकता है। आज तक मैंने वैसा मर्मस्पर्शी दृश्य नही देखा था। हिन्दी-ससार मे वैसा 'हरिश्चन्द्र' और वैसा 'भीम' आज तक कही भी किसी रगमच पर दृष्टिगत न हुआ। शुक्लजी का तगडा शरीर, प्रकाण्ड डीलडौल, मेघगम्भीर वाणी और उद्भट वीरत्व हिन्दी-ससार मे आज भी दुर्लभ है।

शुक्लजी से मै इतना प्रभावित हुआ कि लखनऊ और प्रयाग के परिचय के बाद उनसे प्राय पत्र-व्यवहार करने लगा। असहयोग-आन्दोलन के आरम्भिक युग मे आरा से 'मारवाडी-सुधार' नामक सचित्र मासिक पत्र निकला, जिसका मैं ही सम्पादक था। उसमे शुक्लजी की सचित्र जीवनी प्रकाशित हुई थी, जिसके लिए मुझे बहुत दौड-धूप करनी पडी थी, क्योकि शुक्लजी अपनी सचित्र जीवनी छपवाना पसन्द नही करते थे। यह पत्र कलकत्ता के बालकृष्ण प्रेस मे छपता था, जहा से १९२३ मे 'मतवाला' निकला था। वह प्रेस बालकृष्ण भट्ट के नाम पर या उनकी स्मृति-रक्षा के विचार से स्थापित हुआ था। इसलिए शुक्लजी कभी-कभी उस प्रेस मे जाते थे, क्योकि भट्टजी मे उनकी बडी श्रद्धा-भक्ति थी। इसके सिवा प्रेस के मालिक बाबू महादेवप्रसाद सेठ और उनके अभिन्न मित्र मुशी नवजादिक-लाल श्रीवास्तव से शुक्लजी की बडी घनिष्ठता थी। मै भी उसी प्रेस मे रहता था। हम लोग भी प्राय शुक्लजी के पास मिलने-जुलने जाया करते थे। वे कॉटन-स्ट्रीट मे रहते थे—शायद मकान न० ९३ में।

बडी-बडी कठिनाइयो के बाद उन्होने अपनी जीवनी की सामग्री दी और चित्र भी बडे सकोच से ही दिया। जीवनी छपने पर जब उन्हे वह अक मैंने दिया, तो वे बहुत सकुचाये और नम्रता के साथ ग्लानि प्रकट करने लगे। ऐसे वे निर-भिमान और विनयी थे। अहकार तो उनमे लेशमात्र भी न था। बात-बात मे मुसकान की माधुरी। जैसी मीठी मुसकान, वैसा ही प्रचड अट्टहास। उनके चेहरे पर विषाद की रेखा कभी देखने मे न आयी, जब देखिए चिरप्रसन्न!

कलकत्ता मे उनके द्वारा स्थापित 'हिन्दी-नाट्य-परिषद्' के कई अभिनयो और

उत्सवो तथा प्रीतिभोजो मे सम्मिलित होने का सौभाग्य मुझे प्राप्त हुआ था, क्योकि वे तो इतनी कृपा रखते थे कि कभी-कभी 'रिहर्सल' देखने के लिए भी सप्रेम बुला लेते थे। जब किसी नाटक का अभ्यास-क्रम चलने लगता था तो कह देते थे कि अमुक दिन अवश्य देख जाइए। कलकत्ता के रगमचो पर उनके अनेक अभिनय देखने के सुअवसर मिले थे।

कलकत्ता से जब मै काशी चला आया तब एक बार शुक्लजी वहां आये और उन्होने पहले ही सूचना दे दी कि मिलकर जो पूछना हो सो पूछिए, लिखकर भेजना पार नही लगेगा। बात यह थी कि मै 'माधुरी' मे हिन्दी की नाटक-मण्डलियो पर एक लेखमाला[1] लिख रहा था, जिसके लिए प्रयाग और कलकत्ता की नाट्य- परिषदो का विवरणात्मक इतिहास शुक्लजी से मागा था। काशी मे मिलने पर उन्होने लेखमाला को बहुत पसद किया और दोनो परिषदो का इतिहास लिखने के लिए आवश्यक बाते भी नोट करा दी। 'माधुरी' मे वह लेख उसी समय छपा भी था। हिन्दी की साहित्यिक नाटक-मण्डलियो पर वह लेखमाला पढकर उन्होने मुझे बहुत उत्साहित किया था।

सन् १९२० ई० मे अखिल भारतीय हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन का एकादश अधिवेशन (कलकत्ता), डॉक्टर भगवानदास के सभापतित्व मे हुआ था। मैं उन दिनो वही था। शुक्लजी ने सम्मेलन मे हिन्दी की महिमा का गान करते हुए जो मगलाचरण किया था, उसकी स्मृति आज भी शरीर को रोमाचित कर देती है। जिस सम्मेलन मे वे उपस्थित रहते थे, उसमे मगलाचरण उनके सिवा दूसरा नही कर सकता था। सारे पडाल को गुजानेवाला वज्र-गम्भीर नाद किसके कण्ठ मे था कि उनका स्थान ग्रहण करता ? कलकत्ता मे जब पजाब-केसरी लाला लाजपत राय की अध्यक्षता मे हिन्दू-महासभा का अधिवेशन (१९२४ मे) हुआ था, तब शुक्लजी का मगल-गान सुनकर व्याख्यानवाचस्पति प० दीनदयालु शर्मा ने उनकी पीठ सहलाते हुए उसी समय मंच पर कहा था—'सचमुच तुम राष्ट्रभाषा-कानन-केसरी हो !' शुक्लजी जिस सभा के मच से दहाडते थे, बडे-से-बडे पडाल मे सन्नाटा छा जाता था।

अखिल भारतीय हिन्दी-साहित्य सम्मेलन का बीसवां अधिवेशन भी कलकत्ता मे ही हुआ था। रत्नाकरजी उसके सभापति थे। यह १९३० की बात है। उस समय मैं सुलतानगज (भागलपुर) से निकलने वाली 'गगा' मासिक पत्रिका का सम्पादक था और वही से कलकत्ता गया था। उसी अवसर पर हिन्दी रगमच की स्थापना के लिए एक योजना बनी थी। उसमे शुक्लजी, श्री ललितकुमार सिंह

---

१. शिवपूजन-रचनावली,' खण्ड-३ मे सकलित—स०

'नटवर'[1] आदि का सहयोग प्राप्त हुआ था। किन्तु योजना कार्यान्वित न हो सकी। डेढ़-दो साल बाद जब काशी मे शुक्लजी के दर्शन हुए, तो उक्त योजना के सम्बन्ध मे उन्होने हसकर कहा—'ऐसी योजना केवल कागजी घोडे दौडाने से सफल नही हो सकती, इसके लिए पर्याप्त कोष चाहिए और व्यापारिक दृष्टि से हिन्दी-रगमच को सचालित करने वाला कोई उदार धनी भी चाहिए, जो शुद्ध साहित्य के प्रचार का महत्त्व समझता हो।'

शुक्लजी वीर रसात्मक अभिनय की कला मे अद्वितीय थे। वे केवल स्वाग भरने वाले अभिनेता न थे। उनका सिद्धात भी वैसा ही आदर्शपूर्ण था, जैसा उनका अभिनय। जिस समय उनका एकमात्र जामाता छत से गिरकर मर गया था, वे राष्ट्रीय आन्दोलन के कारण जेल मे थे। उनके शोक-सतप्त परिवार की कारुणिक दशा देखकर जब उनसे यह प्रस्ताव किया गया कि क्षमा-याचना करके शोक-विह्वल परिवार को सात्वना देने चलिए, तब उन्होने स्पष्ट स्वर मे कहा था—'मैं हरिश्चन्द्र और महाराणा प्रताप का अभिनय करने वाला व्यक्ति हू, ऐसे भीषण आघात से विचलित होकर क्षमा-प्रार्थना करना असम्भव है।' इसी एक वाक्य मे शुक्लजी का उज्ज्वल चरित्र और आदर्श जीवन चमक रहा है। वे सच्चे वीर पुरुष थे। मैंने पौरुष को साकार और सजीव उसी पुरुषसिंह मे देखा।

हास्यरसावतार पं० जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी

चतुर्वेदीजी के प्रथम दर्शन का सौभाग्य भी मुझे लखनऊ मे ही प्राप्त हुआ था, अखिल भारतीय हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के पाचवे महाधिवेशन मे। चतुर्वेदीजी सम्मेलन के प्रत्येक वार्षिक अधिवेशन मे अवश्य जाते थे। प्रत्येक अधिवेशन मे सभापति-निर्वाचन का प्रस्ताव सर्वप्रथम वे ही उपस्थित करते थे। सभापति के नाम का अर्थ विश्लेषण करने मे उनका साहित्यिक विनोद सुनने के लिए सभी प्रतिनिधि ऐसे उत्कण्ठित रहते थे कि मच पर उनके जाते ही करतल-ध्वनि होने लगती थी। वे बाबू श्यामसुन्दरदासजी के अतिथि थे, जो उन दिनो वहा कालीचरण

---

१. मूलत मुजफ्फरपुर-निवासी मुसलमान हिन्दी साहित्य-सेवी लतीफ हुसेन जो शुद्धि के पश्चात हिन्दू—ठाकुर ललित कुमार सिंह 'नटवर'—हुए थे। (स०) 'प० अमृतलाल चक्रवर्त्ती के सभापतित्व मे अ० भा० हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के अवसर पर कवि सम्मेलन मे आपकी कृष्णभक्तिमयी कविता सुनकर प० किशोरीलालजी गोस्वामी ने जब आपको 'रहीम' कहकर वाह-वाही दी, तो प० जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी ने छूटते ही कहा था कि मैं तो इन्हे पहले ही 'रसखान' की पदवी दे चुका हू।'

हाईस्कूल के प्रधानाध्यापक थे और उसी स्कूल के प्रागण मे सम्मेलन हुआ था। पर वे बिहार के प्रतिनिधि-निवास मे सभापति पाठकजी, श्यामसुन्दरदासजी, कविवर राय देवीप्रसाद 'पूर्ण' और मिश्रबन्धुओ को साथ लेकर आये, तथा बिहारी प्रतिनिधियो का उन्होने सबसे परिचय कराया। बिहार पर भी उनका अगाध स्नेह था।

उस सम्मेलन के पहले ही दिन लखनऊ के उर्दू-प्रेमियो ने एक सभा करके हिन्दी की खिल्ली उडाई थी। चौबेजी, व्रजवल्लभजी और पडित बदरीनाथ भट्ट के उद्योग से दूसरे ही दिन अधिवेशन के बाद रात मे सम्मेलन की एक विशेष बैठक हुई, जिनमे कविवर 'पूर्णजी' ने उर्दू-भाषा की प्रत्येक बात का मुहतोड जवाब अपनी तत्क्षण रचित कविताओ मे दिया। उनके आशुकवित्व का विलक्षण चमत्कार देख सभी प्रतिनिधि विस्मयानन्द से पुलकित हो उठे। लखनऊ-सम्मेलन के कार्य-विवरण मे वह प्रसग सविस्तार प्रकाशित है।

उसी पाचवे सम्मेलन मे महात्मा मुशीरामजी के सुपुत्र श्री हरिश्चन्द्रजी ने छठे सम्मेलन के लिए लाहौर का निमन्त्रण दिया था। किन्तु अखबारी सूचनाओ के अनुसार वे राजा महेन्द्रप्रतापसिह के निजी सचिव होकर विदेश चले गये, इसलिए छठा सम्मेलन लाहौर मे न होकर सम्मेलन के प्रधान केन्द्र प्रयाग मे ही हुआ। मै उसमे भी गया था। आचार्य श्यामसुन्दरदासजी उसके अध्यक्ष थे। लाला रामप्रसाद के बाग मे बडा शानदार उत्सव हुआ। भारतेन्दु-सखा पडित बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन उसमे पधारे थे। वह भारतेन्दुजी की साक्षात् प्रतिमूर्ति ही थे। वेशभूषा भी हरिश्चन्द्री थी। बुढापे मे भी उनकी दमकती मुखश्री और उनके रईसी ठाठ-बाट पर प्रतिनिधियो की टकटकी बध गयी। सम्पादकाचार्य प० महावीरप्रसाद द्विवेदी भी प्रथम दिन आये थे। वह जीवन-भर कभी किसी अन्य सम्मेलन मे नही गये। सम्मेलन के सभापतित्व को वे बराबर ठुकराते ही रहे। उनके शुभागमन से प्रसन्न होकर सब लोग यही कह रहे थे कि श्यामसुन्दरदासजी के सभापति होने से ही द्विवेदीजी इस अधिवेशन मे सम्मिलित हुए है। दोनो आचार्यों की साहित्यिक स्पर्धा उस युग मे बहुत प्रसिद्ध थी और ऊचे स्तर के साहित्यिक मडल मे वह चर्चा का विषय भी बनी रहती थी। किन्तु द्विवेदीजी जहा सुदृढ स्वाभिमानी थे, वही वह सच्चे हिन्दी सेवक के प्रति सम्मान प्रदर्शन करने के अपने सिद्धान्त मे भी अटल थे। उन्होने सभापति को उन्मुक्त हृदय से जो आशीर्वाद दिया उसमे श्यामसुन्दरदासजी की हिन्दी-सेवा पर अजस्र पुष्पवृष्टि कर डाली। उस समय सभापति के सजल नयनो को देखकर प्रतिनिधि भी भाव-विभोर हो उठे थे।

हिन्दी-ससार को मालूम है कि कानपुर मे जब राजर्षि पुरुषोत्तमदास टण्डन

के सभापतित्व मे महासम्मेलन का अधिवेशन हुआ था तब पहले द्विवेदीजी से ही सभापति होने के लिए आग्रह किया गया था, किन्तु जूही (कानपुर) मे बहुत दिनो तक रह चुकने के कारण उन्होने यह कहकर अनिच्छा प्रकट कर दी कि मै आज तक सभापति नही हुआ तो अब अपने ही घर मे सभापति बन बैठना मेरे लिए सम्भव नही हो सकता। फिर जब चारो ओर से आग्रह का अत्यधिक दबाव पडा तब स्वागताध्यक्ष होने को तैयार हो गये। उनका वह स्वागत-भाषण पढने ही योग्य है। केवल टण्डनजी की अध्यक्षता के कारण ही वह स्वागताध्यक्ष भी हुए, क्योकि टडनजी की निस्पृह सेवा के लिए उनके हृदय मे काफी आदरभाव था, नही तो सम्मेलन से वे सदैव उदासीन और तटस्थ ही बने रहे।

उसी छठे सम्मेलन मे चतुर्वेदीजी ने बगभाषा के 'अनुप्रासेर अट्टहास' नामक सनसनीदार लेख की गर्वोक्तियो के जवाब मे 'अनुप्रास अन्वेषण' नामक निबन्ध पढा था। चमकता हुआ फीतेदार काला जूता, चुस्त पाजामा, रेशमी अगरखा, वसन्ती साफा, सामने की जेब मे चेनदार घडी चिरप्रसन्न मुखडे पर मन्द-मन्द हास्य-रेखा लिये जब चौबेजी मच की ओर चले तब तालियो की गडगडाहट से पडाल गूज गया। निबन्ध-पाठ के बीच-बीच भी हर्षध्वनि होती रही। अधिवेशन भर तो उल्लासपूर्ण वातावरण बना ही रहा, प्रतिनिधि लोग रास्ते मे भी उसी की चर्चा करके आनन्द उठाते रहे। अखबारो मे भी उसकी चर्चा खूब ही हुई। अत चौबेजी के पास उसकी माग भी आने लगी। वह सम्मेलन की लेखमाला मे तो छपा ही, चौबेजी ने भी उसको पुस्तकाकार मे स्वय प्रकाशित कर दिया। उसकी ललित-मधुर शब्द-योजना और व्यग्य-विनोदपूर्ण छटा देखने ही योग्य है।

उनकी शायद ही कोई रचना ऐसी हो जो पढते समय निर्विकार हास्य न उत्पन्न करती हो। आप 'भारत की वर्तमान दशा' और 'स्वदेशी आन्दोलन' नामक उनकी पुस्तके पढिए। उनमे भी हास्य के पुट मिलेगे। व्यग्य विनोद उनके सहज-स्वभाव का मुख्य अग था। बोलचाल मे भी वे पते की बात कह जाते थे। भाषा-विवाद मे भी वह बहुत सोच-समझकर पडते थे। अपने पक्ष की प्रौढता के लिए पहले से ही पुष्टिकर प्रमाण सगृहीत कर रखते थे। उनकी युक्तिया तर्कसगत होती थी। मजाक-पसन्द होने पर भी वे हमेशा इस बात का खयाल रखते थे कि उसमे कटुता का लेशमात्र भी प्रवेश न हो। नामार्थ-विश्लेषण मे भी वे साहित्यिक सौन्दर्य ही प्रदर्शित करते थे, जैसे महामना मालवीयजी के शुभ नाम का अक्षरार्थ इस तरह किया था—'मद न मोह न' और लाला भगवानदीन का 'लाला भगवा न दीन'। उनके इस प्रकार के अर्थ-विवेचन पर वे लोग भी हसे बिना न रहते थे, जिनके नाम के टुकडे से मनोरजक अर्थ निकाले जाते थे। इसीलिए उनकी चमत्कारपूर्ण उक्तिया साहित्य-रस के चिर-स्पर्श से हृदयग्राहिणी प्रतीत

होती थी ।

दिन-रात के अपने साथी सकलनारायणजी को भी 'समस्तनारायणजी' कहकर उन्हे हसा देते थे । लोगो को हसाने मे ही उनको सुख मिलता था । किन्तु उनके द्वारा उत्पादित हास्य सर्वदा साहित्यिक सूझ और रागद्वेषरहित आनन्द से ही सवलित होता था ।

कलकत्ता-स्थित उनके निजी मकान (सीताराम घोष स्ट्रीट) मे महा-महोपाध्याय प० सकलनारायण शर्मा उनके साथ ही रहते थे । वे कलकत्ता विश्वविद्यालय मे सस्कृत के व्याख्याता और सिद्ध वैयाकरण थे । दोनो विद्वान जब साथ मिल बैठते तब प्राय भाषा और साहित्य के विपय मे ही वार्तालाप करते थे। यह नित्य का प्रसग था । दोनो की मैत्री आदर्श थी । दोनो ही बडी सूक्ष्मदर्शिता से भाषा के प्रचलित रूप का परिष्कार किया करते थे । 'मतवाला' मडल मे रहते समय मैं प्राय उन लोगो के दर्शनार्थ जाता था ।

चतुर्वेदीजी कलकत्ता मे रहकर चमडे की दलाली करते थे । अपनी घोडागाडी (बग्घी) पर शेयर-मार्केट जाते थे । उस समय चूडीदार पाजामा, अचकन और गोल फैल्ट कैप उनका पहनावा था। असहयोग-आन्दोलन छिडा तो स्वदेशी वेशभूषा अपना ली । गाधी-टोपी पर उनकी एक हास्य-रसात्मक कविता साप्ताहिक 'मौजी' (कलकत्ता) मे छपी थी, जिसमे अन्यान्य टोपियो से उसकी श्रेष्ठता और पवित्रता दरसायी गयी थी । मारवाडी-समाज मे भी उनकी बड़ी प्रतिष्ठा थी । वह बडे धडल्ले से मारवाडी भाषा भी बोलते थे । बगला बोलने का अभ्यास भी मज गया था । उन भाषाओ मे भी वे शुद्धाशुद्ध का विचार किया करते थे । जो लोग उनके इस विचार से पूर्व-परिचित होते थे, वे लोग उनके साथ बातचीत करते समय सावधान रहते थे । अब कौन ऐसा है जो भाषा के स्वरूप को निखारते रहने मे प्रतिक्षण सजग होकर अनुरक्त रहेगा !

उनका मझोले कद का गौरवर्ण शरीर सब तरह की पोशाको मे खूब फबता था । उनके सौम्य रूप मे उनके मनःप्रसाद से और भी भव्यता झलकती थी । ललाट का चन्दन-तिलक, स्वच्छ सघन दन्तावलि, श्वेत यज्ञोपवीत, मनहर वाणी, सुपुष्ट शरीर आदि उनके स्वस्थ जीवन के दर्पण थे । कलकत्ता-स्थित एक नाटक-मडली के रगमच पर वे हास्य-रुदन का अभिनय करने लगे तो विविध प्रकार की हसी और रुलाई के प्रदर्शन से दर्शको को लोट-पोट कर दिया । अभिनेता के रूप मे भी उनका रूप-सौन्दर्य दर्शनीय ही था ।

चतुर्वेदीजी अखिल भारतीय हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के सभापति हुए थे । सम्भवतः वह बारहवा अधिवेशन था और लाहौर मे हुआ था । उन्होने अपने भाषण मे भी भाषा की प्रचलित अशुद्धियो पर हिन्दी-संसार का ध्यान आकृष्ट

किया था। जैसे—'सपादक, सरस्वती' लिखना अशुद्ध ओर 'सरस्वती-सपादक' लिखना ही शुद्ध बतलाया था। और भी कितने ही उदाहरण उस भाषण मे द्रष्टव्य है।

उस समय मै आरा मे रहता था। जिस गाडी से वे लाहौर जा रहे थे, आधी रात मे वह आरा स्टेशन पर पहुची। आरा की नागरी-प्रचारिणी सभा के पुस्तकालय प्रबन्धक श्री शुकदेवसिह और मैने पुष्पमालाए पहनाई। उन्होने हसते हुए कहा, 'तुम लोग जाडे की रात मे आए हो और इसी कडी सर्दी मे घर भी लौटोगे, इसलिए जाडे की सौगात लेते जाओ।' यह कहकर उन्होने मुश्क-अम्बर (कस्तूरी का इत्र) के दो फाहे दिये और अपने भाषण की दो छपी प्रतिया भी दी। हिन्दी-प्रेमियो और हिन्दी-हितैषियो से वे प्राय यही पूछा करते थे, 'हिन्दी मे चिट्ठी और चिट्ठी का पता लिखते हो ? किस हिन्दी-पत्रिका के ग्राहक हो ? कौन हिन्दी-पत्र खरीदकर पढते हो ? साल-भर मे कितने रुपये की हिन्दी-पुस्तके खरीदते हो ? अब तक कौन-कौन-सी पुस्तके पढ चुके हो ?' सचमुच हिन्दो पर उनकी अथाह ममता थी।

पं० अमृतलाल चक्रवर्त्ती

चक्रवर्त्तीजी के प्रथम दर्शन का सौभाग्य भी लखनऊ मे ही प्राप्त हुआ था, अखिल भारतीय हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के पाचवे अधिवेशन मे। चक्रवर्त्तीजी ने एक किसी प्रस्ताव पर भाषण करते हुए स्त्री-शिक्षा की वर्तमान पद्धति का विरोध किया था। जब स्त्रियो मे सम्मेलन-परीक्षा के प्रचार के लिए, उत्तीर्ण महिलाओ को पदक-पुरस्कार आदि देकर उत्साहित करने का प्रसग आया, तब परम विनोदी पडित बदरीनाथ भट्ट ने एक पुर्जे पर यह लिखकर चुपके से मच की ओर बढा दिया कि प्रथम श्रेणी मे उत्तीर्ण होनेवाली देवी को चक्रवर्त्तीजी एक रजत-पदक देंगे। टडनजी ने मुसकराते हुए पुर्जा पढ़कर ज्योही घोषणा की, चक्रवर्त्तीजी तमतमाकर उठ पडे और बडे ओजस्वी शब्दो मे बोले—'सचमुच जो देवी अपने ही घर मे अपने ही भाई या पति से साहित्य की शिक्षा पाकर परीक्षोत्तीर्ण होगी, उसे मै रजत-पदक ही नही, दरिद्र ब्राह्मण होते हुए भी, रत्न-खचित स्वर्णपदक दूगा।' इस पर खूब हसी हुई, सारा पडाल गूज गया।

जब मै 'मतवाला' मडल (कलकत्ता) मे था, वे हिन्दी-पुस्तक-एजेन्सी के स्वामी श्रीवैजनाथजी केडिया के वणिक् प्रेस मे रहते और वही से प्रकाशित साप्ताहिक 'सनातनधर्म' का सम्पादन करते थे। उसी प्रेस मे काम करने वाले मेरे एक मित्र श्रीरमेशचन्द्र त्रिपाठी थे, जो कुछ दिनो बाद मेरे साथ 'उपन्यास-

तरग' के सम्पादक हुए और यह सचित्र मासिक पत्र भी वही से निकला था। इन्ही त्रिपाठीजी के द्वारा उनसे परिचय हुआ। फिर तो वे ऐसे सरल और सहृदय निकले कि आत्मीयता का आलोक फैलाकर शीघ्र ही मेरे मन से सकोच का अधकार दूर कर दिया। उनके सत्सग से लाभ उठाने का अच्छा अवसर मिला।

वे कितनी सादगी से रहते थे—देखकर श्रद्धा तो होती थी, पर करुण पीडा भी कुछ कम नही। वृन्दावन के सोलहवे साहित्य-सम्मेलन के सभापति तो चुन लिये गये, पर पास पैसे नही कि वहा जाने योग्य कपडे बनवाए! जमीन मे बिछी हुई एक पुरानी दरी पर फटी सीतलपाटी सोने-बैठने के लिए और न जाने कब का पुराना एक कम्बल ओढने के लिए! ओढन-डासन का यह हाल, छाता-जूते का इससे भी गया-बीता हाल! सिर्फ दो ही कुर्ते और दो धोतिया, जिन्होने साबुन के सिवा धोबी का मुह कभी न देखा! मैने 'मतवाला' सम्पादक श्रीमहादेवप्रसादजी सेठ से सारा हाल कहा, मुशी नवजादिक लालजी श्रीवास्तव से भी। दोनो सज्जन स्वय उनके पास पहुचे, बहुत आग्रह किया कि वृन्दावन जाने के योग्य कपडे सिलवाये और खरीदे जाये। पर वे तो रोने लग गये। वे तो ईश्वर से भी अपनी गरीबी पर दया की भीख मागने वाले जीव नही थे, फिर मनुष्य की सहानुभूति उन्हे क्यो न विकल करती। रोते-ही-रोते कहने लगे—'मैं बिना कोई काम किये किसी प्रकार की आर्थिक सहायता किसी से भी नही ले सकता। बस इसी दशा मे किसी तरह वृन्दावन चला जाऊगा।' आखिर वृन्दावन से लौटने के बाद कोई साहित्यिक काम करा लेने का आश्वासन देने पर मार्गव्यय और वस्त्रादि का मूल्य लेने को तैयार हो गये। मैंने एक प्रश्नावली तैयार कर उनकी जीवनी लिखने के लिए उनसे सामग्री भी प्राप्त कर ली। वह जीवनी 'सरस्वती' मे छपी, जब श्रीबख्शीजी उसके सम्पादक थे।

बगाल के 'नावरा' गाव (जिला चौबीस परगना) मे, सवत् १६२० मे, उनका जन्म हुआ था। 'श्रीमद्भगवद्गीता' और 'गीतगोविन्द' उनके सबसे प्रिय ग्रथ थे। दोनो ही करीब-करीब कठस्थ थे। हिन्दी-गद्य मे दोनो ही की टीका भी लिखी है। प्राय बातचीत के प्रत्येक प्रसग पर बडी ओजस्विता से गीता के श्लोक कहा करते। गीतगोविन्द के ललित पदो का पारायण भी बड़े प्रेम से किया करते। बडे विनोद-रसिक भी थे। मेरे मित्र रमेशचन्द्रजी शृगार-रस से विरक्त रहा करते थे, अत एक दिन उनसे कहने लगे—'देखो त्रिपाठी, जयदेव की इन पक्तियो मे कैसा मनोरम चित्र अकित है—'चन्दनचर्चितनीलकलेवरपीतवसनवनमाली, केलिचलन्मणिकुण्डलमण्डितगण्डयुगस्मितशाली'—अर्थ समझते हो?' फिर, रमेशजी को सकुचाते देख हसकर बोले—'तुम कैसे युवक हो, जी?' रमेशजी ने

बात का रुख पलटते हुए पूछा—'अच्छा, यह तो कहिए, अपनी लिखी पुस्तको मे आपको सबसे ज्यादा कौन पसन्द है ?' कहने लगे—'मुझे तो 'सती सुखदेई' उपन्यास और 'देश की बात' के सिवा अपनी कोई पुस्तक पसन्द नही है। पसन्द अगर सचमुच पूछते हो तो अपने लिखे कुछ सम्पादकीय अग्रलेख ही है, मगर अब उन्हे पुस्तक-रूप मे छापेगा कौन ?'

आचार्य श्यामसुन्दरदास

आचार्य श्यामसुन्दरदासजी के प्रथम दर्शन का सौभाग्य भी मुझे लखनऊ के पचम अधिवेशन मे ही प्राप्त हुआ था। उस सम्मेलन मे पडित अमृतलाल चक्रवर्ती, पडित बिनावकराय साठे, राय देवीप्रसाद 'पूर्ण', स्वामी सत्यदेव परिव्राजक, पडित सुखराम चौबे 'गुणाकर' श्री हरिश्चन्द्र वेदालकार आदि के भाषण बडे मनोरजक हुए थे। चक्रवर्त्तीजी ने स्त्री-शिक्षा पर बोलते हुए खूब हसाया था। वयोवृद्ध साठेजी ने भी अपने लिए 'सट्ठा तब पट्ठा' कहकर बहुत हसाया था। कविवर 'पूर्ण' जी ने उर्दू के गढ मे रहनेवाले हिन्दी के विरोधियो को अपनी तत्काल रची हुई मनोहर कविताए सुनाकर मुहतोड जवाब दिया था। उनका आशुकवित्व देखकर लोग चकित रह गये थे। स्वामी सत्यदेवजी का भाषण अत्यन्त ओजस्वी था। 'गुणाकर' जी ने अपने भाषण के एक प्रसग मे कहा था—'मैं 'सागर' का निवासी हू, पर वह सागर नही, जिसमे सीपी होती है, बल्कि वह 'सागर', जो 'सी० पी०' (मध्यप्रदेश) मे है।'

जिन दिनो 'मतवाला' निकल रहा था, सौभाग्यवश उन्ही दिनो बाबू श्यामसुन्दरदासजी अपने पुत्र के विवाह के निमित्त कलकत्ता पधारे थे। चोरबगान के एक मकान मे बारात ठहरी थी। 'मतवाला'-सपादक बाबू महादेवप्रसाद सेठ भी श्यामसुन्दरदासजी के सजातीय (खत्री) थे। इसलिए 'मतवाला'-मडल के सभी सदस्य बाबूसाहब के स्वागतार्थ बारात के जनवासे मे गये थे। पडित ईश्वरीप्रसादजी भी थे। मुशी नवजादिकलाल श्रीवास्तव ने यह बात छेड दी कि लखनऊ-सम्मेलन मे आप ही के मुख से 'पैरोडी' शब्द सुनकर ईश्वरीप्रसादजी 'मतवाला' मे प्राय: उस तर्ज की कविता दिया करते है। इस पर बाबूसाहब बहुत हसे और शर्माजी की पीठ ठोककर कहने लगे—'एकाध चटपटी चीज सुनाओ, भाई !' यही उनके शब्द हैं। शर्माजी ने तुलसीदास के वर्षा-वर्णन की विडम्बना सुनाई। फिर तो बाबूसाहब ने उनसे और भी कई अन्य हास्य-रसात्मक पद्य सुने—लेखक-प्रकाशक-सवाद, सम्पादकजी, लेख की माग आदि रचनाए सुनकर खूब खुलकर हसे और 'मतवाला' की भी बहुत तारीफ की।

बाबूसाहब बहुत गभीर प्रकृति के पुरुष थे, तब भी साहित्यिक मनोविनोद से उन्हे कोई घृणा न थी। एक बार मै, जब काशी मे साहित्यिक पाक्षिक 'जागरण' का सम्पादक था, लेख और सम्मति के लिए बाबूसाहब की सेवा मे पहुचा। आचार्य रामचन्द्र शुक्लजी और पडित केदारनाथ पाठक वहा बैठे थे। शुक्लजी वैसे गभीर विचार के होते हुए भी बडे विनोदप्रिय व्यक्ति थे। पाठकजी को लोग 'चलता-फिरता पुस्तकालय' और 'साहित्यिक सस्मरणो के भडारी' कहा करते थे। वे काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा के पुस्तकालय के अध्यक्ष थे। मैंने देखा कि आचार्य द्विवेदीजी के विषय मे पाठकजी विनोद-भरी बाते सुना रहे है और दोनो आचार्य हस-हसकर आनन्द ले रहे है।

वह छठा सम्मेलन प्रयाग मे, राय रामप्रसाद साहब के बाग में हुआ था। श्यामसुन्दरदासजी ही सभापति थे। एकदम काला कोट-पैंट, गोल काली फैल्ट कैप, तितलीनुमा बूटेदार नेकटाई, तगडा शरीर, भव्य डीलडौल के कारण प्रभावशाली व्यक्तित्व—सब तरह से बाबूसाहब का रूप आकर्षक था। भारतेन्दु-सखा पडित बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' उस सम्मेलन मे पधारे थे और आचार्य द्विवेदीजी भी। प्रेमघनजी की भौंहो के बीच मे पचरगी बिन्दी सबका ध्यान बरबस खीच रही थी। उनका हरिश्चन्द्री ठाट देखकर अनुमान होता था कि स्वय भारतेन्दुजी ही सम्मेलन मे आ गये है। उनकी आकृति-प्रकृति से वस्तुत भारतेन्दु का ही आभास मिलता था। आचार्य द्विवेदीजी की घनी मूछो और घनी भौहो के ऊपर प्रशस्त ललाट तेजस्विता से चमक रहा था। चमरौधा जूते और बगलबन्दी पर पडिताऊ गोल टोपी में भारतीय सस्कृति की झलक थी। दूसरे दिन बन्द गले के कोट और ऊनी लैसवाली किश्तीनुमा टोपी मे आधुनिकता के भी दर्शन हुए।

श्रीद्विवेदी-अभिनन्दन-ग्रथ के प्रकाशन के समय लगभग डेढ-दो साल तक मुझे पुराकृत पुण्यवश बाबूसाहब के निकट सपर्क का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। काशी के यशोधन कलाविद् श्रीमान् रायसाहब (रायकृष्णदासजी) और बाबूसाहब के सतत सलग्न रहने से ही वह अद्वितीय ग्रथ तैयार हो सका था। मैं ग्रथ की पूरी प्रेस-कॉपी लेकर बाबूसाहब की चिट्ठी के साथ जब इडियन प्रेस मे गया, तब कही जान पडा कि इडियन प्रेसवाले उनकी बात की कितनी कद्र करते है। मै वहा प्रेस के ही अन्दर अतिथिशाला मे (१९३३ में) महीनो रहा और यह देखकर बहुत प्रभावित हुआ कि बाबूसाहब की एक-एक बात पर ध्यान देने मे प्रेस के सभी लोग आशातीत तत्परता दिखा रहे है। एक बार थोडी देर और मामूली भूल हो जाने पर उन्होने ऐसी कडी चेतावनी दी कि फिर कभी वैसा प्रसग ही न आया।

उनका अनुशासन बहुत ही कठोर था। काम मे साधारण-सी चूक या अनावश्यक विलम्ब होने पर बिलकुल बेलौस होकर ऐसी डाट बताते थे कि उनका

रुख देखकर मन मे भय-विस्मय होने लगता था। ग्रथ-सपादन के सबध मे दिये हुए उनके आरभिक आदेश और सुझाव बडे महत्त्व के थे। प्रयाग से मुझे प्रति सप्ताह काशी आकर उन्हे दिखाना पडता था कि सप्ताह-भर मे कितना काम हुआ है। उनकी आज्ञा से ही मेरे लिए साप्ताहिक रेलवे 'पास' लिया गया था। वे लेखो और सस्मरणो को बडी कडाई से जाचते और खरी सलाह देते थे। इस विषय मे मुरौवत-मुलाहजा छूकर भी नही। समय के इतने पाबन्द थे कि एक बार सयोगवश सात के बदले साढे सात बजे मेरे पहुचने पर वे दूसरे काम मे लग गये, निराश लौटना पडा।

'सभा' की स्वर्ण जयन्ती के समय उनके अन्तिम दर्शन का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। उस समय उनका जरा-जर्जर शरीर देखकर बहुत दु ख हुआ। सिर काप रहा था। चेहरे पर झुर्रिया पड गयी थी। मै हाथ जोडे सामने खडा था। उन्होने घूरकर पहचाना—कधे पर स्नेह-वरद हाथ रखकर कहा, 'अच्छी तरह हो न ? मै तो बुढापे से लाचार हो गया, अब चन्द रोज का मेहमान हू।' उनके करुण-कातर शब्द सुनकर बडी पीडा हुई। दो आदमियो ने बाजू मे हाथ लगाकर उन्हे कुर्सी पर बैठाया। उस पुरुषसिह की यह दशा देखकर बहुत दु ख हुआ। उन्होने हिन्दी की सेवा मे अपने-आपको खपा डाला। पारिवारिक विपत्तियो से भी उनका स्वास्थ्य बहुत लच गया था।

उनकी आर्थिक अवस्था भी बहुत अच्छी न थी। एक बार उन्होने स्पष्ट कहा था कि रायबहादुरी गले मे ढोल आ पडी है—ढलती उम्र मे यह बला आ गयी। उस समय इडियन प्रेस ने उनके लिए एक मोटर भेज दी थी। उन्ही दिनो द्विवेदी-अभिनन्दन-ग्रथ की तैयारी हो रही थी। एक बार उस 'कार' मे बैठते-बैठते कहने लगे, 'न जाने यह 'कोढ मे खाज' कहा से आ गई। हमारे लिए यह मोटर आफत ही है, जब इसे आना चाहिए था, तब तो आयी ही नही।' किन्तु यह विरक्ति केवल बाह्याडम्बर के प्रति थी। उनके मन मे कभी धन की हाय न समा सकी।

आरा सेवा समिति

मै सन् १९१८ ई० मे आरा नगर के एक हाई-स्कूल मे हिन्दी-शिक्षक था। उसी टाउन-स्कूल के छात्रो की सेवा-समिति बनी थी। सन् १९१६ ई० मे गगा मे जो भयंकर बाढ आयी थी, उसमे छात्र-स्वयसेवको ने बडे परिश्रम और उत्साह से बाढ-पीडित जनता की सेवा की थी। उस समय के साप्ताहिक 'पाटलिपुत्र' मे उस सेवा-कार्य का (मेरा लिखा) पूरा विवरण छपा था। उसे देखकर बिहार-प्रान्तीय-सेवा-समिति की ओर से सोनपुर (हरिहर क्षेत्र) के मेले मे आरा-सेवा-समिति की बुलाहट हुई। वह सेवा-समिति ब्रह्मपुर (शाहाबाद) के शिवरात्रि के

मेले मे हर साल जाती थी। उसके सभापति बाबू हरिनारायणसिंह (शाहपुर पट्टी-निवासी) अत्यन्त उत्साही सगठनकर्त्ता व्यक्ति थे। उन्होने सन् १६१७ मे सोनपुर नही जाने दिया। उनका विचार था कि वहा जाने के लिए पूरी तैयारी करनी होगी, क्योकि समस्त प्रान्त की प्रमुख सेवा-समितिया वहा एकत्रित होगी। अत साल-भर उन्होंने स्वयसेवको को सेवा-प्रणाली की शिक्षा दी। वे उन दिनो डुमराव-राज्य (शाहाबाद) के असिस्टेट मैनेजर थे। अत राज्य की ओर से सहायता लेकर उन्होने स्वयसेवको के लिए नयी वर्दिया बनवा दी। सन् १६१८ ई० मे आरा-सेवा-समिति सोनपुर के मेले मे गई। मै उस समिति का मत्री था। अत स्वय-सेवक-दल के साथ मै ही वहा भेजा गया।

सोनपुर के मेले मे बिहार-सेवा-समिति का जो कैम्प था उसमे पहुचने पर मुजफ्फरपुर की सेवा-समिति के कप्तान श्री ललितकुमार सिह 'नटवर', श्री मथुराप्रसाद दीक्षित और श्रीरामधारीप्रसाद 'विशारद'[1] मे भेट हुई। वे लोग सेवा समिति-कार्यालय मे व्यवस्था-सबधी कार्यों का सचालन कर रहे थे और मेरे पूर्व-परिचित भी थे। मुझे और मेरे विद्यार्थियो को यह जानकर बडी प्रसन्नता हुई कि आरा-सेवा-समिति को महेन्द्र बाबू के नायकत्व मे श्रीहरिहरनाथ के मदिर मे सेवाकार्य करना होगा। उपर्युक्त ब्रह्मपुर के विशाल शिवमदिर मे कई साल बडी सफलता के साथ जन-सेवा करने के जो अवसर मिल चुके थे, उनका स्मरण करके स्वयसेवक बडे उल्लास से कर्तव्य-पालन के लिए उद्यत हो गये। जब स्वय-सेवक-दल चला और आगे-आगे महेन्द्र बाबू कच्छा कसकर लाठी लिये चलने लगे तो सारा नवयुवक-दल उनकी स्फूर्ति और उमग देखकर दग रह गया। अधिकाश स्वयसेवक उन्हे ठीक पहचानते न थे। उनकी तेजस्विता से प्रभावित होकर वे लोग आपस मे कानाफूसी करने लगे। उस समय तक चम्पारन मे महात्मा गाधी के विजय-शख के बज उठने से बिहार मे राष्ट्रीय जागरण का सुप्रभात हो चला था और नवयुवको में गाधीजी के दाहिने हाथ पूज्य राजेन्द्र बाबू का शुभ नाम भली भाति उजागर था। जब स्वयंसेवकों को मालूम हो गया कि अपने बुढ़ापे से उठती जवानी को भी मात करनेवाले महेन्द्र बाबू हम लोगो के आदर्श नेता राजेन्द्र बाबू के बडे भाई है, तब वे सब-के-सब अधिकाधिक श्रद्धा के साथ उनके आज्ञाकारी बन गये।

श्रीहरिहरनाथजी के मदिर मे जैसी भीड होती है, वैसी इस देश के बहुत कम

---

१ बिहार-प्रादेशिक-हिन्दी-साहित्य सम्मेलन के जन्मदाताओ मे प्रमुख, स्व० रामधारीप्रसाद हिन्दी के अनन्य भक्त एव काग्रेस के जाने-माने नेता थे।—स०

मदिरो मे होती होगी। ब्रह्मपुर के उक्त मदिर के अभ्यास की यहा अग्निपरीक्षा होने लगी। पर जब महेन्द्र बाबू दोनो मुट्ठियो मे लाठी पकडकर गभीर हुकार के साथ अपार भीड को छतियाने लगे तब तो स्वयसेवको मे अदम्य उत्साह की लहर दौड गई। वे केवल आज्ञा देकर सेवा करानेवाले नायक न थे। वे सेवा का छोटा-से-छोटा काम सबसे पहले स्वय करने लगते थे और तब अपने साथ के स्वयसेवको को सहयोग के लिए उत्साहित करते थे। स्त्रियो और बूढो की रक्षा तथा सहायता पर उनका विशेष ध्यान था। उनके मुख से 'माताजी' और 'बाबूजी' तथा 'भैयाजी' का सबोधन सुनकर दर्शनार्थी भी धन्य-धन्य करते थे, स्वयसेवक तो चकित थे ही—वे लोग तो उनसे लोक-सेवा का पाठ ही पढ रहे थे। कुछ लोग उस भीड मे उनको पहचानने वाले भी आ जाते थे। वे लोग भी कुछ क्षण एक ओर ठिठककर विस्मय-विस्फारित नेत्रो से उन्हे देखते और चुपचाप अलग से ही हाथ जोडकर प्रणाम करते थे। सेवाकार्य मे उनकी तन्मयता विलक्षण थी। वे सेवा करते समय सचमुच अपना आपा खो बैठते थे। तन-मन-प्राण की सुधि बिसारकर सेवा मे जुट जाते थे। थकावट कभी उनके पास फटकने नही पाती थी। सेवा की अपनी सच्ची लगन से वे दूसरे लोगो के हृदय मे भी सेवा-भावना जगा देते थे। उनके समान वयोवृद्ध का साहस देखकर नवयुवक भी सकुचित और लज्जित हो जाते थे।

बिहार के गया-निवासी श्रीजानकीशरण से हिन्दी-प्रेमी परिचित होगे। वे प्रयाग-सेवा-समिति की मुख पत्रिका 'सेवा' के सम्पादक तो थे ही, उस सेवा-समिति के एक नायक भी थे। भारत की सेवा-समितियो मे प्रयाग की सेवा-समिति प्राय: सर्वश्रेष्ठ मानी जाती रही है। उसके प्रधान नायक पडित श्रीराम वाजपेयी को भी मैं त्रिवेणी सगम पर माघ मेले मे काम करते-कराते देख चुका हू। वाजपेयीजी भारत-प्रसिद्ध स्वयसेवक-नायक थे। श्रीजानकीशरणजी भी लाखो की भीड का नियत्रण करने की व्यवस्था मे अत्यन्त कुशल थे। दोनों ही सेवा-कार्य की सुव्यवस्था और उसके निरीक्षण तथा नियत्रण का सुप्रबन्ध करने मे दर्शनीय कौशल का परिचय देते थे। उनके साधन भी पर्याप्त थे। प्रयाग-सेवा-समिति के सभापति पूज्य महामना मालवीयजी का वरद हस्त उनके सिर पर था। पर महेन्द्रबाबू के पास उनका अपना जीवट ही एकमात्र साधन था। वे नायक बनाये जाने पर भी कप्तानी नहीं, सचालन या निर्देशन भी नही, केवल सेवाकर्म मे स्वयमेव तत्पर होकर ही अपनी निष्ठा की पराकाष्ठा दिखा देते थे। सेवावृत्ति में जो तल्लीनता थी वही स्वयसेवको को प्रेरणा और आशा देती थी। उनकी वाणी तो केवल उत्साहवर्द्धक हुकार के रूप मे उनकी उद्दीप्त ओजस्विता ही व्यक्त करती थी, वास्तव मे उनका क्रियाशील आचरण ही उनके अनुगत स्वयसेवकों को सेवा-मार्ग पर अडिग डटे रहने की उत्तेजना देता था। महात्माओ के कथनानुसार

जो अपने आचरण से दूसरो को आकृष्ट करके कर्तव्यारूढ बनाता है वही वास्तविक महापुरुष है। अत महेन्द्रबाबू निस्सदेह आदर्श महापुरुष थे।

दो दिन मदिर मे सेवाकार्य करने के बाद सेवा का क्षेत्र बदल गया। अब विराट और सघन मेले के विभिन्न भागो मे काम होने लगा। इस काम मे लगातार तीन दिनो तक लगे रहने के बाद महेन्द्रबाबू छपरा चले गये। भीड भी धीरे-धीरे छटने लगी। मनुष्यो के मेले से अधिक पशुओ के मेले मे काम करना कठिन था। वहा हिम्मत-बहादुर और निर्भय व्यक्ति ही धैर्य से काम कर सकता था। रात मे वहा काम करना और भी खतरनाक था। मगर महेन्द्रबाबू अपनी निर्भीकता से स्वयसेवको मे अपूर्व उत्साह पैदा कर देते थे। भूले-भटको और घायलो को सेवा-समिति के शिविर और अस्पताल मे भेजने मे तथा कैम्प मे लौटने पर उन सबकी खोज-खबर लेने मे उनकी खास दिलचस्पी थी। पुलिस-कैम्प के सभी अफसर उनके परिचित-से जान पडते थे। पशुओ के मेले मे भी उनके परिचित जमीदार और धनी-मानी व्यक्ति मिल जाते थे तथा उन्हे कुछ देर रोकना चाहते थे, पर वे सबकी अनसुनी करके सेवापथ पर ही अग्रसर होते जाते थे। मनुष्यो की भीड मे भी उनके सुपरिचित लोग मिलते थे, पर वे अपने मुख्य कार्य से रचमात्र भी असावधान नही होते थे। अनेक परिचितो और इष्टमित्रो को अनदेखी करके अपने लक्ष्य की ओर ही बढते जाना उनकी सेवा-भावना की तीव्रता प्रकट करता था।

मन्दिर से अपराह्न मे लौटते समय साधुओ की जमात के पास एक हलवाई की दूकान मे अचानक आग लगी दीख पडी। महेन्द्रबाबू ने स्वयसेवको को तुरत तगडी ललकार दी। पुलिस भी पहुची और उसके अफसर उन्हे कष्ट न करने के लिए कहते ही रह गये, पर वे तो उछल-उछलकर लाठी से आग पीटने की धुन मे थे, और सच कहा जाय तो उन्ही की तत्परता से आग फैलने न पायी। स्वय-सेवको ने उन्ही के साहस से अनुप्राणित होकर पुलिस-सिपाहियो को भी अपने जत्थे की बहादुरी से लजा दिया। वहा पानी की कमी थी, पर धूल की कमी न थी। उनकी सूझ तो देखिए कि सबसे पहले वे आग पर धूल ही उछालने लगे और उनकी देखादेखी स्वयसेवक-समूह भी उसी काम मे पिल पडा। उनकी लाठी टूट गयी तो एक मकान की छाजन से बास खीचकर आग का फैलाव रोकने लगे। स्वदेश के धन-जन की रक्षा के लिए आत्मोत्सर्ग की भावना-लहरो मे डूब जाना उन्ही का काम था। सेवा की राह पर पग धरते ही वे सुध-बुध भूल जाते थे। सेवा के नाम पर कोई साधारणतर काम करने मे भी उन्हे हिचक न थी।

सेवाकार्य की निश्चित अवधि पूरी होने पर जब कैम्प मे आते थे तब भी विश्राम नही करते थे। स्वयसेवको के खाने-पीने और सोने की जगहो में घूम-

घूमकर देखते चलते थे कि कहा कैसी व्यवस्था है। भोजन बनानेवालो के काम मे सम्मिलित होकर सहायता देना, स्वयसेवको की पक्ति मे भोजन परोसना, किसी का बिस्तर इधर-उधर बिखरा पडा हो तो उसे समेटकर यथास्थान रखना, यहा तक कि जूठी पत्तलें भी उठाकर फेंक देना, फिर झट कार्यालय की कुर्सी पर बैठकर प्रबन्ध-सम्बन्धी सुझाव देना, इतने पर भी कभी थकावट का अनुभव न करना—वह तितली-जैसी फुर्ती देखकर अनुमान करना भी कठिन था कि उनके शरीर मे शक्ति की बिजली कितनी है, फिर लोकसेवा की उनकी अगाध श्रद्धा की थाह पाना तो और भी कठिन था।

पाच दिनो तक उनके नायकत्व मे सेवाकार्य करने के बाद स्वयसेवक जब आरा लौटने लगे तब तमाम रास्ते मे महेन्द्रबाबू की ही चर्चा करते आये। अब उन लोगो के दिमाग मे यह बात घर कर गयी कि सेवा के नाते कोई काम न छोटा है और न घृणित। वे लोग सबसे अधिक प्रभावित हुए महेन्द्रबाबू के स्वभाव और व्यवहार की मिठास तथा स्वयसेवको के प्रति उनकी आत्मीयता से। स्वयसेवको की सुख-सुविधा का ध्यान रखने मे वे ऐसा घरेलू स्नेह का प्रदर्शन करते थे कि स्वयसेवक अनायास उनके वशंवद बन जाते थे। अगर कही सफाई का काम करने का अवसर आता था तो वे स्वयसेवकों को आदेश देने से पहले स्वय ही वह काम चटपट करने लगते थे। उनके जीवन मे मौखिक शिक्षा से क्रियात्मक शिक्षा का विशेष महत्त्व था। वस्तुतः वे सच्चे सेवाव्रती थे।

कुमार देवेन्द्रप्रसाद जैन

हिन्दी-ससार मे ऐसा कोई प्रेमी मनुष्य नही होगा, जो आरा-निवासी कुमार देवेन्द्रप्रसाद जैन की हिन्दी सेवा से सुपरिचित न हो। उनके पिता और पितामह आरा नगर के प्रतिष्ठित धनाढ्य महाजन थे। उनकी अवस्था जब तीन मास की थी, तभी उनके प्रखर प्रतिभाशाली पिता पटना में गगा-गर्भ में जल-समाधि-मग्न हो गये थे। पितृहीन शिशु को लेकर दु.खिनी माता मायके चली आयीं। उनके मामा बाबू नन्दूलाल आरा के बडे भारी जमीदार और रईस थे।

आरा-जिला-स्कूल से इट्रेंस पास करके वे १९१० मे सेंट्रल-हिन्दू-कॉलिज (बनारस) में दाखिल हुए। कुमार के बाल्य-सहचर तथा मेरे श्रद्धास्पद गुरुवर प० ईश्वरीप्रसाद शर्मा भी काशी मे कुमार के कॉलिज-सहपाठी रहे। उसी समय देवेन्द्रप्रसाद ने विश्व-प्रेम संघ स्थापित करके अनेक कॉलिज छात्रों को उसका सदस्य बनाया था। कॉलिज के प्रसिद्ध प्रिंसिपल जॉर्ज सिडनी अरण्डेल साहब कुमार को बहुत मानते और प्यार करते थे। उनकी लिखी हुई 'द वे ऑफ

सर्विस' नामक पुस्तिका का 'सेवाधर्म' (१९२१) नाम से मेरे द्वारा किया हुआ हिन्दी-अनुवाद प्रकाशित करके कुमार ने उन्ही के चरणो मे समर्पित कर अपनी अगाध गुरुभक्ति का परिचय दिया।

कुमार देवेन्द्रप्रसाद ने 'सेन्ट्रल-जैन-पब्लिशिंग-हाउस' स्थापित किया था। इस सस्था की ओर से उन्होने 'जैन-धर्म-ग्रथमाला' (अगरेजी मे) प्रकाशित की जिसके ग्रथो की अनुपम छपाई और सुघराई देखने ही योग्य थी। जैनधर्म-सम्बन्धी ग्रथो मे हरदोई (उत्तर प्रदेश) के बैरिस्टर श्री चम्पतराय जैन का लिखा हुआ 'द की ऑफ नॉलेज' नामक ग्रथ सबसे बडा और दस रुपये मूल्य का था।

देवेन्द्रप्रसाद ने १९१०-११ मे ही हिन्दी की तीन पुस्तके प्रकाशित की थी—स्वरचित 'ऐतिहासिक स्त्रिया' और 'अध्यापिका जानकीबाई की जीवनी' तथा अग्रवाल-कुल-कमलिनी साध्वीश्री पडिता चदाबाई (जैन महिलारत्न) द्वारा लिखित 'उपदेशरत्नमाला'। ये तीनो पुस्तके उन्होने हिन्दी-माता के चरणो मे पहले-पहल बडी श्रद्धा के साथ अर्पित की थी। फिर १९१५ मे 'प्रेममदिर' की स्थापना हुई, जिसके द्वारा 'प्रेमकली', 'प्रेमपुष्पाजलि', 'त्रिवेणी' (तीनो मेरे ही द्वारा सपादित) आदि अनूठी पुस्तके प्रकाशित हुई। 'प्रेमोपहार पुस्तकमाला', 'त्रिलोक-मोहिनी-माला' और 'कन्या विद्यावलम्बिनी-पुस्तकमाला', 'शातिधर्म', 'मैत्री-धर्म', 'सौभाग्य-रत्नमाला', 'उपदेशरत्नमाला', 'रसाल-वन' आदि परम नेत्ररजक पुस्तके 'प्रेममदिर' से निकली।

कुमार देवेन्द्रप्रसाद का रूप जितना रमणीय था, उनके वचन उतने ही मन-मोहक थे। सुन्दर-सुन्दर चित्रो, पुस्तको, प्राचीन पदार्थों और महात्मा-वाक्यो का सग्रह करने मे बडे शौकीन और सुजान थे। उन्हे बडी-बडी अच्छी लाइब्रेरियो, हरी-भरी फुलवारियो और खुले मैदानो मे जाने पर हार्दिक प्रसन्नता होती थी। इडियन प्रेस (प्रयाग) मे (जहा उनकी पुस्तके छपती थी) पहुचते ही वे प्रफुल्लित हो जाते थे। सध्या समय एकान्त मे बैठकर साहित्यिक चर्चा करके वे सन्तोष अनुभव करते थे। उन्हे फलाहार से बडा प्रेम था। देहरादून से सेब और प्रयाग से अमरूद का पार्सल प्रति सप्ताह उनके पास पहुचता ही रहता था। अन्न तो बहुत कम खाते थे, किन्तु खा चुकने के बाद ताजे फल की टोकरी की खूब खबर लेते थे। एक बार एक साल तक उन्होने मिष्ठान्न खाना बिलकुल त्याज्य कर दिया था। पूछने पर उन्होने कहा था कि एक अभीष्ट कार्य की सिद्धि के लिए ऐसा व्रत लिया है। सचमुच सकल्प पूर्ण होने पर ही उन्होंने मधुर पदार्थ का रसास्वादन किया और उसी समय चिट्ठी के बहुत-से कागज(लेटर-पेपर)छपवाये, जिन पर उठे हुए अक्षरो मे लिखवाया—'सकल्पमात्रेण मदीयसिद्धि.'।

चिट्ठी लिखने का उन्हे असाध्य रोग हो गया था। सैकडो तरह के सुन्दर-सुन्दर लेटर-पेपर और लिफाफे अपने पास रखते थे। स्वास्तिक आदि चिह्न

बनवाकर विलायत से लेटरपेपर-लिफाफे मगवाते थे। सोने और चादी के एक-से-एक सुन्दर 'सेफ्टी पिन' उनके पास सदा मौजूद रहते थे। उन्हे 'वाटरमैन' या 'स्वान' के सिवा कलम-दवात से लिखना कभी रुचता ही न था। मै तो उनके आरा रहने पर बराबर प्रेममदिर मे जाया करता था। किन्तु जब कभी जाता था, तब उन्हे पुस्तको और पत्रो से घिरा हुआ और कुछ लिखने या पढने मे नितान्त निमग्न पाता था।

वे कभी शहर मे घूमने नही निकलते थे। निकलते भी थे तो मनोरजन-कार्यालय मे, जैन-सिद्धान्त-भवन मे, डाकखाने मे, या मेरे गरीबखाने तक जाते थे। उन्हें जब तक डाक नही मिलती थी, तब तक अधीर रहते थे। जब चिट्ठरसा को देखते थे, तब प्रफुल्लित हो उठते थे। चिट्ठियो का उत्तर देने मे कभी विलम्ब नही करते थे। रात को दो-तीन बजे तक जाग-जागकर चिट्ठियो का जवाब लिखते रहते थे। उनकी चिट्ठी की भाषा बडी ओजस्विनी, सक्षिप्त, किन्तु भावपूर्ण और सरस होती थी। वे धारा बाधकर अगरेजी लिखते और बोलते थे। उनकी प्रकाशित हिन्दी और अगरेजी की कुल पुस्तको की सख्या पचास के लगभग है। रोज उन्हे अपनी प्रकाशित पुस्तको के पचासो पार्सल तैयार करने पडते थे। वे स्वय पार्सल बाधते थे, लेबिल लिखते थे और साटते थे, वी० पी० का फार्म भरते और रजिस्टर पर चढाते थे। काम पूरा करने की धुन मे वे खाना-पीना तक भूल जाते थे।

वे अपनी सभी वस्तुए अच्छी तरह सजाकर रखते थे। यहा तक कि अधेरे मे भी वे जिस वस्तु को लेना चाहते थे, उसी पर उनका हाथ पडता था। जब मै उनके साथ प्रयाग के क्रिश्चियन कॉलेज के फिलाडेलफिया-होस्टल मे रहता था, तब उन्होने एक अजीब काम कर दिखाया। मै तो चकित हो गया। रात को दो बजे वे उठे और दियासलाई ढूढने लगे। मैने याद दिलायी कि सलाई चौके से लौटकर नहीं आयी। पर वे अंधेरे में ही उठ बैठे और टेबल-कुर्सी से जा लगे। बीस-पचीस चिट्ठिया अधेरे मे ही रगडकर रख दी, कार्ड-लिफाफो पर पता भी लिख मारा। फिर कुछ किताबो का पैकेट भी बाधा। सब पर टिकट लगाकर एक ओर सजा दिया। मैं कहता जाता था कि अधेरे मे सब परिश्रम निष्फल जायेगा। किन्तु प्रात काल होते ही मै दुरुस्तगी देखकर दग रह गया।

उनकी दूसरी शादी १९२१ मे प्रेमलता देवी से हुई थी। (प्रथम पत्नी का देहान्त चार वर्ष पूर्व ही हो चुका था।) द्वितीय पत्नी के नाम से ही 'प्रेममदिर' का प्रकाशन-कार्य करना उनको अभीष्ट था। किन्तु कौन जानता था कि प्रेम-मदिर का गगनचुम्बी कलश एकाएक अनभ्र वज्रपात से चूर्ण हो जायेगा?

'योऽर्थोऽसंभावनीयस्तमपि घटयते क्रूरधर्मा विधाता!'

शादी के कुछ ही दिन बाद, होली से एक सप्ताह पूर्व (मार्च, १९२१) वे कलकत्ता मे शीतला रोग से पीडित होकर काल-कवलित हो गये। सयोग और मित्रता का सार कुछ ऐसा था कि मै भी उससे कुछ ही पहले कलकत्ता आ गया था। वे कलकत्ता जाने के समय मुझसे स्वय मिले थे। किन्तु मुझ गरीब को क्या मालूम कि यही अतिम भेट है। मै पूज्यवाद प० ईश्वरीप्रसादजी के साथ उनसे मिलने गया तो देखा कि वे शीतला-रोग की वेदना से मूर्च्छित हुए जाते है। जीवन मे वैसा रोमाचकारी, हृदयद्रावक और भयकर दृश्य मैने कभी नही देखा था। मृत्यु-शय्या पर वे तडप रहे थे। कुमार के कमनीय कलेवर को मृत्यु-राक्षसी बडी भयकरता और निर्दयता से लीलती जाती थी। उधर कलकत्ता के बडतल्ला मुहल्ले मे हजारो बिजली-बत्तियो का दीपक बल उठा और इधर हिन्दी-ससार तथा जैन-समाज का एक देदीप्यमान दीपक बुझ गया !

आचार्य चन्द्रशेखर शास्त्री

बिहार प्रदेश के शाहाबाद जिले मे 'ब्रह्मपुर' बहुत प्रसिद्ध स्थान है। वहा फाल्गुनी और वैशाखी शिवरात्रि के अवसर पर बहुत बडा मेला होता है। शिवजी का वैसा विशाल और प्रशस्त मन्दिर बिहार मे शायद ही कही हो। कहते है कि महाकवि तुलसीदास वहा आये थे। वहा से एक-डेढ कोस दक्षिण जो 'रघुनाथपुर' नामक गाव है, उसका नामकरण गोस्वामी तुलसीदास ने ही किया था। यह रघुनाथपुर पूर्वी रेलवे का एक स्टेशन है।

उपर्युक्त ब्रह्मपुर से लगभग एक कोस उत्तर 'निमेज' नाम का एक बडा गाव है। शास्त्रीजी उसी गाव के निवासी थे। पर उन्ही के कथनानुसार वह अपने बालपन मे ही जो घर से निकले तो फिर गाव मे कभी बसेरा न लिया। सयोग-वश यदा-कदा गाव आते-जाते थे, किन्तु रहे जीवन-भर बाहर ही। कहा करते थे, 'बचपन मे मुझे घुडसवारी का बडा शौक था। गधा और खसी पर चढकर अभ्यास करता था। खेतो मे चरते हुए लद्दू टट्टुओ पर चढकर घूमता चलता था। तब धूप और वर्षा की भी कुछ परवाह न थी। बचपन का यह अभ्यास सयाना होने पर घुडसवारी मे बडा काम आया।'

एक बार पडित सकलनारायण शर्मा (महामहोपाध्याय) से बातचीत करते समय शास्त्रीजी ने उपर्युक्त बाते बतलायी थी। शर्माजी ने भी अपने बचपन का किस्सा सुनाते हुए कहा था, 'मै तो उठती जवानी तक सैलानी रहा, बचपन में नम्बरी नटखट और रेख-उठान तक हुडदगी।'

किन्तु बचपन के ये दोनो घुमक्कड़ आगे के जीवन मे सस्कृत के उद्भट विद्वान् हुए। हिन्दी-जगत् मे भी दोनो का यश अमर है।

शास्त्रीजी जब बालक थे, तभी उनके मन मे विद्यानुराग जाग उठा। वह डुमराव (शाहाबाद) जाकर वहा के राजा की सस्कृत-पाठशाला मे पढने लगे। ऐसे प्रतिभाशाली निकले कि दूसरे विद्यार्थी उनसे बडी ईर्ष्या करने लगे। पर सहनशीलता उनके स्वभाव की मुख्य विशेषता थी। धैर्य के साथ उन्होने काशी जाने की योग्यता अर्जित कर ली।

काशी मे उन्होने क्वीन्स कॉलेज मे नाम लिखाया। कॉलेज के प्रिंसिपल वेनिस साहब ने उनकी लगन और श्रद्धा से सन्तुष्ट होकर कई अग्रेज और जर्मन छात्रो को सस्कृत सिखाने का काम सौप दिया। शास्त्रीजी कहा करते थे कि वेनिस साहब तो सस्कृत के अनन्य अनुरागी थे ही, सस्कृत सीखने वाले अग्रेज और फ्रेच तथा जर्मन छात्रो मे जो तत्परता थी वह भारतीय छात्रो मे भी नही थी। यूरोपवालो के सस्कृत-प्रेम की प्रशसा वह प्राय किया करते थे। जिन विदेशी छात्रो को वह सस्कृत पढाते थे उन लोगो ने वेनिस साहब से शास्त्रीजो की अद्भुत मेधाशक्ति की बडी प्रशसा की। वेनिस साहब भी उन्हे प्रत्येक कक्षा मे सर्वोच्च स्थान पाते देखकर बहुत प्रभावित हुए थे। उनसे शास्त्रीजी को प्रोत्साहन तो मिलता था, पर वह कभी उनसे अपने अभावो की चर्चा नही करते थे। उन्हे जो छात्रवृत्ति और सस्कृत पढाने का पारिश्रमिक मिलता था उसी से अपना निर्वाह कर लेते थे। डुमराव अथवा काशी मे पढते समय कभी घर से कोई सहायता न मागी। स्वावलम्बन ही उनका आजीवन व्रत रहा। जब वह अपने अभावो और कष्टो की कहानी सुनाने लगते थे, तब उनकी विद्वता और तपस्या देखकर उनके प्रति अनायास ही श्रद्धा उत्पन्न होती थी।

छात्रावस्था मे उन्हे कई बार भूखो रह जाना पडा। जाडे मे भी धोती की जगह अगोछा-मात्र लपेटे, नगे बदन, कम्बल ओढे रह जाते। पर किसी दशा मे उन्होंने कभी किसी के आगे हाथ नही पसारा। एक बार तो पैसा न रहने पर अपने गाव से पैदल ही काशी की ओर चल पडे थे। अभावो और कठिनाइयो को वह ईश्वर की देन कहा करते थे। हर हालत मे सदैव प्रसन्न रहना उनका सहज स्वभाव था। दरिद्रता को वह अपनी जीवनसगिनी कहते थे, जिसका वरण उन्होने स्वेच्छापूर्वक किया था।

जहा तक मुझे याद है, लगभग बावन वर्ष की उम्र मे भूकम्प के साल उनका देहान्त हुआ, तो हिन्दी-ससार के प्रतिष्ठित विद्वानो और पत्र-पत्रिकाओ ने मुक्तकठ से उनका गुणगान किया था। उनके विषय मे लोकमत का उतना ऊचा धरातल देखकर ही समझ मे आया कि वह देश की कितनी बडी विभूति थे। परन्तु यह ससार कभी युगपुरुष को जीते-जी नही पहचानता।

शास्त्रीजी के काशी के सहपाठियो मे स्वनामधन्य पडित रामावतार शर्मा (महामहोपाध्याय) भी थे। महामहोपाध्याय गगाधर शास्त्री के दोनो ही पट्टशिष्य

थे। दोनो ही अपने युग की गौरववृद्धि कर गए। शर्माजी को भी, उनके निधन के बाद ही, बडे-से-बडे विद्वानो ने कपिल-कणाद के तुल्य कहा। यही इस ससार की रीति चली आ रही है। शर्माजी और शास्त्रीजी ने बिहार की धरती पर जन्म लेकर उसे धन्य बनाया, पर उसने दोनो अनमोल लालो को ठीक-ठीक नही पहचाना। मृत्यु के उपरान्त ही पिंडदान की तरह कीर्तिगान करने की भी परम्परागत प्रथा है। शास्त्रीजी सच्चे त्यागी-तपस्वी थे, यह बात अगर दुनिया निगोडी उनके उठ जाने से पहले समझ पाती, तो शायद उसकी असलियत की पोल खुल जाती।

शास्त्रीजी के सर्वप्रथम दर्शन का सौभाग्य मुझे प्रयाग मे प्राप्त हुआ था। 'विद्यार्थी' के सम्पादक पडित रामजीलाल शर्मा के घर पर बैठे वह कुछ लिख रहे थे। उस समय वह 'शारदा' नामक सस्कृत-मासिक पत्रिका के सम्पादक थे। 'समाज' नाम का एक हिन्दी-मासिक पत्र भी निकालते थे। मेरे साथ मेरे मित्र कुमार देवेन्द्रप्रसाद जैन भी थे। जैनजी ने अपने प्रेम-मन्दिर (आरा) से 'प्रेमकली' 'प्रेम-पुष्पाजलि', 'त्रिवेणी', 'सेवाधर्म' आदि सुन्दर पुस्तके प्रकाशित की थी। वे पुस्तके वहा के इडियन प्रेस मे बडे आकर्षक ढग से छपी थी, उन पर शास्त्रीजी की सम्मति की आवश्यकता थी। शास्त्रीजी उन पुस्तको को देखकर हसते-हसते कहने लगे, 'आज बीसवी शताब्दी के उष काल मे चारो ओर प्रेम-पुष्पो की सुगन्ध बडे वेग से फैल रही है—जान पडता है कि मध्याह्न होते-होते यह मादक गन्ध नयी पीढी को मदान्ध बना देगी—आपको साहित्य-सेवा करने का अनुराग ईश्वर ने दिया है, तो रामायण-महाभारत आदि को हिन्दी-प्रेमियो तक पहुचाने का प्रयत्न कीजिए।'

जैनजी उनका मुह ताकने लगे। वह (शास्त्रीजी) दो टूक बात कहने मे बड़े निर्भीक थे। स्पष्टवादिता भी उनकी एक विशेषता थी। वह जैनजी को हतोत्साह देखकर भी कहते ही रहे, 'मनुष्य को प्रेम सिखाने की आवश्यकता नही है, वह सासारिक प्रेम मे अत्यन्त निपुण है, उसे परमार्थ और परमात्मा के प्रेम की ओर प्रेरित करने की आवश्यकता है।'

जैनजी ने मन्द स्वर मे निवेदन किया कि यही सम्मति लिखकर देने की कृपा कीजिए। पर उन्होंने फिर कहा, 'अनुचित प्रोत्साहन देने के लिए सम्मति प्रदान करना मेरी प्रकृति के विरुद्ध है। मेरा मत है कि सबसे पहले अपने देश के प्राचीन साहित्य का उद्धार और प्रचार होना चाहिए तथा उसी के आधार पर नये साहित्य की सृष्टि करनी चाहिए, फिर कूपमडूकता के दोषारोपण से बचने के लिए अन्यत्र के साहित्य को अपनाना चाहिए। प्रेम और सेवा पर जो साहित्य आपने (जैनजी ने) प्रकाशित किया है, उसमे अधिकाश विदेशी सामग्री है। क्या आपको पता है कि भारतीय साहित्य मे प्रेम और सेवा पर जो सामग्री मिल सकती है, वह

अन्यत्र कही नही ?'

जैनजी मौन हो रहे। तब शास्त्रीजी ने मेरा परिचय पूछा। वह यह जानकर बडे प्रसन्न हुए कि मै भी उन्ही के जिले (शाहाबाद) का निवासी हू। उन्होने यह उपदेश दिया कि हिन्दी-लेखक बनना चाहते हो, तो सस्कृत खूब पढो। मैने जब कहा कि सस्कृत की प्रथमा परीक्षा पास कर चुका हू, तब बडे जोर से हसकर मेरी पीठ ठोकते हुए बोले कि तुम बडे भोले जान पडते हो। अरे, मै तो साहित्याचार्य होने पर भी यही समझता हू कि अभी सस्कृत-महासागर को दूर से ही तरगित देख रहा हू, उसमे प्रवेश करना तो दूर, उसके तट तक भी नही पहुचा हू।'

उनकी यह बात सुनकर मेरा चेहरा उतर गया। मैने कहा कि मै सस्कृत पढना चाहता हू। बोले, 'तुम्हारे ठाट-बाट से सस्कृत पढने के लक्षण नही प्रकट होते। तुम बाल सवारे और पान खाये हुए हो, तुम्हारे जूते चमकते है, सुनहली कमानी का चश्मा है—ये सब लक्षण सस्कृत सीखने के नही है। अग्रेजी-फारसी की तरह सस्कृत नही सीखी जा सकती, उसके लिए कठोर साधना की आवश्यकता है—सस्कृत के विद्यार्थी को ब्रह्मचारी और सयमी होना चाहिए, वह ऋषियो और त्यागी-तपस्वियो की भाषा है। विलासियो से देववाणी की पटरी नही बैठती।'

उनके वे मार्मिक शब्द आज भी मेरे कानो मे गूज रहे है। मै हतप्रभ हो गया। पहाड के पास पहुचकर ऊट अपनी ऊचाई भूल गया।

पडित रामजीलाल शर्मा आर्यसमाजी थे। वह पहले इडियन प्रेस मे 'सरस्वती' विभाग का काम करते थे। फिर स्वतन्त्र रूप से प्रेस खोलकर 'विद्यार्थी' निकालने लगे और स्वावलम्बी बनकर अपने अध्यवसाय के बल से बहुत उन्नति कर गए। अपने देश के विद्यार्थियो के लिए उन्होने प्रचुर सत्साहित्य प्रकाशित किया। शास्त्रीजी के बाद वह भी हम दोनो को सीख देने लगे। उन्होने दयानन्द सरस्वती के आदर्श जीवन से शिक्षा ग्रहण करने की सलाह दी। शास्त्रीजी सनातनधर्मी थे। उनकी स्वाभाविक विनोदप्रियता हुलसी। बोले, 'तुम लोग मेरे मित्र शर्माजी की बात मानकर स्वामीजी के आदर्श से अवश्य पाठ सीखो, क्योकि इन्होने भी स्वामी के सिद्धान्तो के अनुसार कोट-पतलून धारण किया है और एक यवनी युवती की शुद्धि करके उससे विवाह किया है तथा एक अक्षतयोनि विधवा का पुनर्विवाह कराने के लिए अपने परिवार के एक युवक को प्रेरणा देकर उत्साहित कर रहे है। तुम लोगो की वेशभूषा से इनको पता लग गया कि तुम लोग विवाहित हो, नही तो ये अपना रसायन सिद्ध करने के लिए ठोक-पीटकर वैद्यराज बना लेते। आजकल इन्होने यही धन्धा उठाया है कि मनचले नवयुवको को देखकर विधवा-विवाह के लिए उन पर डोरा डालते रहते है।'

वे दोनो मित्र हसने लगे और हम दोनो मित्र वहा से चल पडे। जैनजी उस समय यमुना के पुल के पास वाले ईसाई-मिशनरी कॉलेज मे पढ रहे थे। उन दिनो

उस अमेरिकन मिशन कॉलेज मे विद्यार्थियो को इतनी स्वतन्त्रता प्राप्त थी कि जैनजी फिलाडेल्फिया-होस्टेल मे पुस्तक-प्रकाशन-सम्बन्धी सारा कार्य स्वच्छन्दता-पूर्वक करते रहते थे। वह अपनी धुन के बडे पक्के थे। उन्होने इडियन प्रेस के बूढे मालिक बाबू चिन्तामणि घोष के ज्येष्ठ सुपुत्र पोदी बाबू द्वारा पडित रामजीलाल शर्मा को पत्र लिखवाया कि शास्त्रीजी की सम्मति प्राप्त कराने मे सहायक हो। और भी अनेक सूत्रो का सहारा लिया। किन्तु शास्त्रीजी पर उनके ऐसे धुनी की भी कोई कला न लही।

शास्त्रीजी की सेवा मे दूसरी बार उपस्थित होने की घटना पटना मे हुई। घटना इसलिए कि इस बार भी अपने एक साहित्यिक मित्र के आग्रह से उनके पास गया। मित्र महाशय ने अखिल भारतीय हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के मगलाप्रसाद-पारितोषिक की प्रतियोगिता मे अपनी एक पुस्तक भेजी थी, जो जाचने के लिए शास्त्रीजी के पास आयी थी। उन दिनो रेलवे लाइन के पास शास्त्रीजी अपने ओझाबन्धु आश्रम मे रहते थे। सादगी और सफाई से सचमुच वह आश्रमतुल्य ही था।

मेरे मित्र को देखते ही वह ताड गए। उनकी प्रशसा का पुल बाधने लगे। वह भी शास्त्रीजी का भाव भाप गए। दोनो को आपस मे भले निपटते देख मैं मन-ही-मन हसकर चुप रहा। शास्त्रीजी उनकी ओर इशारा करके मुझसे कहने लगे, 'इनके साथ तुम्हारे आने की कोई आवश्यकता न थी। इनको मैं खूब पहचानता हू। इन्होने पहले कभी मेरी कुटिया को कृतार्थ नही किया था, आज मेरी झोपडी पवित्र हुई—भगवान् ही इनका मनोरथ सफल करेंगे।'

इसके बाद शास्त्रीजी ने मुझे अलग ले जाकर चेतावनी दी कि फिर कभी ऐसी मूर्खता न करना—मै कभी किसी की सिफारिश नही सुनता। मगलाप्रसाद-पारितोषिक की मर्यादा तुम नही समझते। चाटुकार को उसी के अनुरूप पुरस्कार मिलता है। तुम अपने मित्र को समझा दो कि अपने भाग्य पर भरोसा करे, अपनी योग्यता पर नही।

मेरे मित्र ने रास्ते मे एकान्त की बात पूछी और मैने कह भी दी। वह विद्वान् तो थे ही, शास्त्रीजी के कथन का औचित्य समझ पश्चाताप करने लगे।

तीसरी बार शास्त्रीजी 'मतवाला'-मडल (कलकत्ता) मे स्वय पधारे। नगे बदन, कम्बल ओढे प्रात काल पहुचे। अपनी लिखी हुई पुस्तक 'दरिद्रकथा' की पाडुलिपि भी साथ ले गए थे। उसे स्वय छपवाना चाहते थे। एक कलकतिया प्रकाशक ने उसे प्रकाशित करने का उन्हे वचन दिया था, पर उसने विवशता प्रकट कर दी। शास्त्रीजी कहने लगे, 'आज भोर होते ही एक कृपण का मुह देखा था, इसलिए जहा आशा पूरी होनेवाली थी, वहा मैं नकार का शिकार हो गया और वही पर मैने उस नकारने वाले तथा शिकार होनेवाले अपने आपको नमस्कार

किया, क्योकि मुझ जैसे निरीह को नकार सुनानेवाला तो नमन के योग्य है ही, उसके समान नगण्य के नकार का शिकार होनेवाला मै भी नमस्य ही हू, इसी कारण मैंने वहा 'शिवपचाशर-स्तोत्र' के दो श्लोक उसके सामने ही सुनाकर अपनी ग्लानि व्यक्त कर दी—

नागेन्द्रहाराय त्रिलोचनाय
भस्मागरागाय महेश्वराय ।
नित्याय शुद्धाय दिगम्बराय
तस्मै **नकाराय** नम शिवाय ॥

शिवाय गौरीवदनाब्जवृन्दसूर्य्याय दक्षाध्वरनाशकाय ।
श्रीनीलकण्ठाय वृषध्वजाय तस्मै **शिकाराय** नम शिवाय ॥

अब इस 'दरिद्र-कथा' को 'चन्द्रशेखराय' सकल्प करके स्वय ही प्रकाशित करने का दृढ निश्चय किया हे। चाहता हू कि इस छोटी-सी पुस्तक को एक ही सप्ताह मे छपवाकर उस धन-मदान्ध प्रकाशक के पास पठवा दू—वह भी एक दरिद्र ब्राह्मण का साहस देख ले ।'

सचमुच उन्होने पुस्तक की पाच प्रतिया उस प्रकाशक के पास यह लिखकर भिजवाईं, 'आपके नकार को दूर से ही नमस्कार ।'

जब मै काशी मे रहता था, तब शास्त्रीजी भी वही थे। वाल्मीकीय रामायण का हिन्दी-अनुवाद कर रहे थे। वहा के एक प्रकाशक ने उसे सात खण्डो मे निकाला था। उन्होने श्रीमद्भागवत और महाभारत का भी हिन्दी-अनुवाद किया था, परन्तु पूरा न कर सके। रामायण की तरह महाभारत मे भी मूल के साथ अनुवाद छपा था। महाभारत को मासिक खडो के रूप मे स्वय प्रकाशित करते थे। मै भी उसका ग्राहक था। उनके निधन के बाद उनके ज्येष्ठ सुपुत्र पडित प्रफुल्लचन्द्र ओझा 'मुक्त' जी भी महाभारत को उसी रूप मे फिर कुछ दिनो तक निकालते रहे। वह काफी पूजीवाला काम था। शास्त्रीजी ने अपने गृहस्थी को साधन-सम्पन्न बनाने के उद्देश्य से कभी द्रव्य-सग्रह पर ध्यान ही नही दिया। त्यागी तो उनके सदृश हिन्दी-जगत् मे कम ही हुए। त्याग और तप ही उनका असली बाना था।

एक बार उन्हे रोग-शैया पर देखने के लिए स्वामी सत्यदेव परिव्राजक आये और चुपके से कुछ गिन्निया उनके सिरहाने तकिये के नीचे रख गए। शास्त्रीजी को पता चला तो तुरन्त स्वामीजी के पास सधन्यवाद लौटा दी। अपने अभावो की पूर्ति के लिए उन्होने कभी किसी मित्र की भी आर्थिक सहायता न चाही और न ली। ऐसी बात वह सोचते तक न थे। प्रयाग मे जब अखिल भारतीय हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के साहित्य-मत्री थे, तब अपने दूरस्थ आवासगृह से सम्मेलन-

कार्यालय तक आने-जाने के लिए कभी इक्का-भाडा नही लेते थे। राजर्षि टडनजी उनको भाई मानते-कहते थे, पर टडनजी के आग्रह से भी वह अपने सिद्धान्त को लचने नही देते थे। वह अपनी स्थिति को प्रभु की देन समझ सदा उससे सन्तुष्ट ही रहे। आजीवन परिस्थितियो से सहर्ष सघर्ष करते रह गए। कठिनाइयो से जूझते समय भी उनके चेहरे पर कभी विषाद की रेखा नही दीख पडी। काशी मे चौखम्भा के पास मोतीकटरा मे उनके निवास-स्थान पर एक रात मै मिलने गया तो वह किरासन तेल की ढिबरी जलाकर बटलोई माज रहे थे। मुझे देखकर हसते-हसते पूछने लगे, 'तुमने कभी यह सुकर्म किया है या नही ? सद्गृहस्थ को पारिवारिक सेवा मे सकोच न होना चाहिए, गुरुचरणो के समीप रहकर सस्कृत पढे बिना यह सेवा-प्रणाली अभ्यस्त नही हो सकती। तुम्हारे हिन्दी वाले आज-कल स्त्रियो की बडी दुर्दशा कर रहे है—पत्र-पत्रिकाओ मे भाति-भाति की भावभगी से भरे चित्र छप रहे है, कोई खडी है, कोई बैठी है, कोई सोयी है, कोई हसती है, कोई प्रतीक्षा करती है, कोई वीणा बजाती है, कोई अभिसार करती है—क्या यह चित्रो का रीतिकाल है या भगवद्गीता के मिथ्या-प्रचार का मूर्तरूप है ?'

शास्त्रीजी के सरस विनोद बडे आनन्ददायक होते थे। बाते करते समय दूसरो को 'मालिक' और अपने को 'भगवान्' शब्द से अभिहित करते थे, 'कहिए मालिक, आज 'भगवान्' का एक काम कर दीजिएगा !'

पडित सकलनारायण शर्मा और पडित ईश्वरीप्रसाद शर्मा के बाद शास्त्रीजी ही खगविलास प्रेस (पटना) की साप्ताहिक पत्रिका 'शिक्षा' के सम्पादक हुए थे। उनकी 'भरतचरित' नामक पुस्तक उसी प्रेस से प्रकाशित हुई थी। उस प्रेस के स्वामी और 'शिक्षा' के सचालक रायबहादुर रामरणविजय सिह (बबुआजी) उनका बडा सम्मान करते थे। उनकी निस्पृहता और चिरप्रसन्नता सबसे बरबस उनका आदर कराती थी। वह सच्चे अर्थ मे एक मस्तमौला फकीर थे। नितान्त निरभिमान होते हुए भी सदा स्वाभिमान एव सन्तोष के साथ दुर्दिन को झेलते रहना उनका जन्मजात गुण था। उनकी निर्भीकता और स्पष्टवादिता किसी के खिचे रहने की परवाह नही करती थी। अभावो के दरेरे उनके धैर्य को कभी डिगा न सके। एक बार महाशक्ति प्रेस (काशी) मे प्रसिद्ध कथाकार कौशिकजी से बाते करते समय उन्होने हसकर कहा था कि कठिनाइया-कामिनिया अपने पादमजीर की रुनझुन मुझे सुनाती रहती है, तो कौशिकजी मौन होकर उनका उल्लसित मुखडा घूरने लगे और चले जाने पर इस वाक्य को दुहराते हुए झूमने लगे।

जब मै प्रयाग के इडियन प्रेस की अतिथिशाला मे रहकर काशी नागरी प्रचारिणी सभा की ओर से द्विवेदी अभिनन्दन-ग्रन्थ छपवाता था, शास्त्रीजी से

उस ग्रन्थ के लिए एक लेख मागने गया। उन्होने पूज्य आचार्य (द्विवेदीजी) की साहित्य-सेवा और सस्कृतज्ञता तथा उनकी पुस्तक 'कालिदास' की निरकुशता पर अपने प्रशसात्मक और समीक्षात्मक विचार व्यक्त करते हुए एक सस्मरणात्मक लेख लिखने का वचन दिया। मैने लेख लेने के लिए फिर आने का समय पूछा तो हसकर बोले कि अपनी श्रद्धाजलि लेकर मै ही स्वय आऊगा और सचमुच दूसरे ही दिन आये भी। लेख उनका छोटा ही था—'द्विवेदीजी की एकनिष्ठ साधना'—पर उसे देखकर 'सरस्वती'-सम्पादक पडित देवीदत्त शुक्ल कहने लगे कि भग मे जैसे केसर की भीनी-भीनी सुगध बोलती है, वैसे ही शास्त्रीजी के लेख के शीर्षक मे उनकी 'एकनिष्ठ' साधना बोल रही है। अब जान पडता है वैसी साधना का युग लद गया!

श्री गणेशशकर विद्यार्थी

सन् १९१८ ई० मे दिल्ली की तैंतीसवी काग्रेस हुई थी। लोकमान्य तिलक सभापति चुने गये थे। किन्तु उनके विलायत चले जाने से महामना मालवीयजी सभापति हुए। स्वागताध्यक्ष थे हकीम अजमल खा। मै उन दिनो 'आरा' (बिहार) के टाउन-स्कूल मे हिन्दी-शिक्षक था। पूज्य प० ईश्वरीप्रसादजी शर्मा आगरा से निकलनेवाले सचित्र मासिक पत्र 'धर्माभ्युदय' के सम्पादक थे। उन्ही की सलाह से मै 'आरा'- नागरी-प्रचारिणी सभा के पुस्तकालय को दुरुस्त कर रहा था। उनका बडा आग्रह था कि एक बार इधर आकर 'ताजमहल' जरूर देख जाओ। मै सुअवसर की ताक मे था। दशहरे की छुट्टी से पहले ही उनका कृपा-पत्र आया कि जल्दी-से-जल्दी आगरा आओ, 'धर्माभ्युदय' के मालिक सेठ लक्ष्मीचन्द-जी की सरस्वती-लाइब्रेरी को ठीक करना है। मै तो ऐसे सुयोग की ताक मे था ही, पत्र पाने के कुछ ही दिनो बाद आगरा चला गया।

एक रोज विद्यार्थीजी का पत्र शर्माजी के पास आया कि दिल्ली की काग्रेस मे जरूर चलिए, भेट होने पर बाते होगी।

पत्र पाते ही शर्माजी ने मुझे वही रोक रखा। मै भी काग्रेस मे दिल्ली गया। आगरा के बेलनगज मुहल्ले के नवयुवको की एक खासी टोली थी। सेठजी के एक लड़के फूलचन्दजी भी थे। किन्तु हम लोग बाबू सोनासिह चौधरी (अस्तगत 'पाटलिपुत्र' के सम्पादक) के यहा जाकर ठहरे। चौधरीजी के साथ उनके सहकारी प० रामानन्द द्विवेदी भी थे। वहा साहित्यिक मण्डली भी जुटती थी।

पडित शिवनारायण द्विवेदी उन दिनो दिल्ली से निकलनेवाले साप्ताहिक 'हिन्दी-समाचार' के सम्पादक थे। काले कश्मीरे का कोट-पैण्ट डाटे प्राय: पहुचा करते, क्योकि चौधरीजी उन्ही के अतिथि थे। 'समाचार'-कार्यालय के पास ही

एक मकान मे डेरा-डण्डा था। द्विवेदीजी बडे सहृदय और एक अच्छे कहानी-लेखक होने के कारण बडे भावुक भी थे। चौधरीजी एक नम्बर के मसखरा थे। शर्माजी भी लटके-लतीफे छोडने मे बडे उस्ताद थे।

जिस समय झालरा पाटन के प० गिरिधर शर्मा 'नवरत्न' रुईदार पाजामा और लम्बी रुईदार अचकन पहने हुए चौधरीजी के पास पहुचे, खास साहित्य-सम्मेलन हो गया। 'नवरत्न' जी का डीलडौल और भडकीला पहनावा थोडी देर के लिए मनोरजन का साधन बन गया। उन्होने ही कहा कि विद्यार्थीजी भी मिले थे। बस शर्माजी निकल पडे विद्यार्थीजी की तलाश मे। 'जिन ढूढा तिन पाइया।' किले के मैदान मे काग्रेस का पण्डाल था। हम लोग लपके चले जा रहे थे। पीछे से शर्माजी के कन्धे पर किसी ने हाथ रखा—'कहा दौडे जा रहे हो जी ?'

शर्माजी ने पीछे मुडकर देखा। दोनो गले मिले। मैने देखा, मोटे दल के शीशे वाले चश्मे मे से दो तेजस्विनी आखे झाक रही है। पतले-पतले होठ, चमकीले दात, गोल सफेद फैल्ट कैप, लम्बा ओवरकोट। बात-बात मे मस्ती-भरी ठहाके की हसी। तेज जबान, चुस्त भाषा, शब्द-शब्द पर जोर! कभी ललाट मे सोचावट की सिकुडन, कभी जोश से तमतमाया हुआ चेहरा। मुह से निकले हुए प्रत्येक शब्द पर हृदय के बल की गहरी छाप। राजनीतिक चर्चा का सिलसिला चलने पर कभी झुझलाहट, कभी तीव्रता, कभी गभीरता, कभी दातो से होठ चापकर मुष्टिबद्ध भुजा को हथेली पर पटक-पटककर अपनी निश्चयात्मिका बुद्धि का प्रदर्शन! मै मुग्ध हो-होकर देखता जाता था। कैसा प्रभावशाली था वह प्रथम दर्शन!

दूसरी बार। शायद १६२१ या २२ ई० की बात है। मै 'आरा' से निकलने वाले सचित्र मासिक पत्र 'मारवाडी-सुधार' का सम्पादक था। उसकी सहायता के निमित्त मै कानपुर मे धनी-धोरी मारवाडियो से मिलने गया। 'प्रताप'-कार्यालय मे उतरा। फीलखाना मुहल्ले मे फीलखाने के समान ही मकान! अन्दर जाने पर नये रगरूट सम्पादक को किसी ने पहचाना नही, पर थोडी देर बाद भिषग्रत्न प० शिवनारायण मिश्रजी पहुचे, तो मैने अपनी पूर्व-सूचना का हवाला देकर परिचय दिया। बडे तपाक से मिले। सुहृद की तरह पेश आये। सुबह का वक्त था। नहाने-धोने के लिए सम्पादकीय कमरे से बाहर पिछवाडे की छत पर आया, तो यह देखकर बडा आश्चर्य हुआ कि ऐसे खडहर मे से 'प्रताप'-जैसा प्रभावशाली पत्र किस तरह निकलता है! एक टूटे-फूटे मकान के अन्दर रहकर देश की इतनी बडी सेवा करना महापुरुष का ही काम हो सकता है।

मै काशी, प्रयाग, बम्बई और कलकत्ता मे अखबारो के सजीले ऑफिसो को देख चुका था, जहा बिजली की रोशनी, पखे और टेलीफोन की माया फैली हुई थी।

किन्तु 'प्रताप'-कार्यालय किसी गरीब किसान की झोपडी-सा प्रतीत हुआ । न कही कोई सजावट, न कही कुछ भडकीलापन । जान पडा—जनता की सेवा करने की धुन मे किसी को बाहरी आडम्बर की चिन्ता ही नही है । पत्र को सर्वा गसुन्दर और सर्वोपयोगी बनाने की इतनी सच्ची लगन, और जिस मकान से पत्र निकलता है उसकी भग्नावस्था पर कुछ ध्यान ही नही ! इस परमहसी ठाट मे कितनी ऊची महापुरुषता झलकती थी, मै समझ ही न सका ।

थोडी ही देर बाद खद्दर की गाधी-टोपी और खद्दर का कोट पहने तथा कन्धे से खद्दर का थैला लटकाये एक सज्जन ने कमरे मे प्रवेश किया । मिश्रजी बोले, 'आपही पालीवालजी[१] है—'प्रताप' के वर्तमान सम्पादक ।' मैंने उठकर अभिवादन किया । बडी सहृदयता से मिले । कई नामी-गरामी सम्पादको के पास पहुचकर मै ठोकर खा चुका था । कितने ही सम्पादक तो जरा बोलते भी न थे, स्वागत-सत्कार की क्या कथा ! किन्तु पालीवालजी का बन्धुत्व, उनकी उदारता और सरलता देखकर मैने बहुत बडा सबक सीखा । 'प्रताप'-कार्यालय जन्मभूमि की भाति सुखकर प्रतीत हुआ । बिलकुल घर का-सा बर्ताव, जरा भी तकल्लुफ नही ।

पालीवालजी ने बडे स्नेह के साथ मुझे अपने पास बिठाकर उन मारवाडी नवयुवको और हिन्दी-प्रेमी सेठो के नाम लिखवाये, जिनसे मिलकर मै सफलता पा सकता था । मुझे ठीक याद है, पहला नाम था बाबू नवलकिशोर भरतिया का, जिनसे मिलकर सचमुच मै बडा सतुष्ट हुआ ।

कुछ देर बाद 'नवीन' जी और 'कौशिक' जी एक साथ ही कार्यालय मे दाखिल हुए । परिचय हुआ । कहकहा मच गया । 'नवीन' जी कुर्सी पर झूम-झूमकर गाने लगे[२] । कविता बडी हृदयग्राहिणी थी । स्वर मे बडा ओज था । भाव-भगी उसे सजीव बना रही थी । और वह दिन कौन-सा था ? ठीक उसी दिन श्रद्धेय विद्यार्थीजी लखनऊ-जेल से शायद नैनी-जेल मे जाने के लिए करीब ३-४ बजे शाम की गाडी से कानपुर होकर गुजरनेवाले थे । हसते-खेलते सब लोग स्टेशन पहुचे । थोडी देर मे गाडी आयी । एक डिब्बे की खिडकी से दिव्य झाकी मिली । चश्मा वही था, लेकिन फैल्ट-कैप की जगह गाधी-टोपी और ओवरकोट की जगह खद्दर

---

१. प० श्रीकृष्णदत्त पालीवाल ।

२. 'हमने आपका सर्वप्रथम दर्शन सन् १९२१ ई० मे, कानपुर के 'प्रताप'-कार्यालय मे किया था । उसके बाद जब-जब आप मिले, आपकी सहृदयना से स्नेह-तन्तु दृढ होता गया । आप मे सदा उमडती रहने वाली एक अजीब मस्ती थी ।'

के कुर्ते ने ले ली थी। दाढी एक नयी विशेषता थी। चेहरे पर वैसी ही हसी, बोल-चाल मे वही वेफिक्री, मिलने-जुलने मे वही बन्धुत्व। सबसे हस-हसकर मिले। इस दुबारे दर्शन का स्मारक-चिह्न वह प्लेटफार्म-टिकट आज भी मेरे सग्रहालय मे सुरक्षित है।

तीसरी बार लखनऊ मे दर्शन हुए। मैं 'माधुरी' के सम्पादकीय विभाग मे काम करता था। उस समय श्रीदुलारेलालजी भार्गव के गगा-पुस्तकमाला-कार्यालय (अमीनाबाद-पार्क) मे ही उसका ऑफिस था। उस ऑफिस के पास ही काग्रेस-कमेटी का दफ्तर था। मै प० शान्तिप्रिय द्विवेदी के साथ ऑफिस से निकलकर पार्क के इर्द-गिर्द सडको पर टहल रहा था। इतने मे तागे पर जाते हुए विद्यार्थीजी के दर्शन का अचानक सौभाग्य प्राप्त हुआ। हम लोगो के अभि-वादन करते ही वे हसते हुए तागे से उतर पडे। हम दोनो के कधो पर अपनी भुजाए रखकर बीच मे हो लिये और हाल-चाल पूछते हुए आगे बढे। जब आगे-पीछे से कोई गाडी या मोटर की आवाज आती, तब हम लोगो को बाहुपाश मे समेटकर किनारे कर लेते। चहल-कदमी करते हुए शरबत की एक दूकान पर पहुचे। आखिर शरबत पीने के बाद जब मैं जेब से पैसे निकालकर अपनी बेवकूफी और तगदिली का इजहार करने लगा, तब बडे जोर का ठहाका लगाकर बोले—'वाह शिवपूजनजी! आप झूठ-मूठ अपने को ईश्वरीजी का शिष्य बताते है—उनमे तो इतना तकल्लुफ नही है। आपको 'माधुरी' वाले कितना देते है? आप कितना बचाकर घर भेजते है?' यह कहते हुए उन्होने अपनी जेब से रुपया निकालकर शरबतवाले की ओर फेक दिया। इसके बाद बोले—'मै आज रहूगा, कल फिर मुलाकात और बातचीत होगी, एक जरूरी काम से जा रहा हू।' हम-लोगो ने नतमस्तक होकर करबद्ध प्रणाम किया। उन्होने हम लोगो की पीठ थपथपाते हुए कहा—'खूब जी लगाकर साहित्य-सेवा करते जाइए, पुरस्कार या प्रशसा की आशा कभी न कीजिएगा। हा, कभी आयेगा समय ···।' कहते हुए ही तागे पर सवार हुए और चल दिये।

दूसरे दिन मै अकेला ही जा मिला। तागे पर साथ-साथ स्टेशन ले गये। बातो के सिलसिले मे कहने लगे—'आप 'टॉड—राजस्थान' की घटनाओ के आधार पर बालको और नवयुवको के लिए रोचक कहानिया लिखिए। प्रकाश-पुस्तकालय (कानपुर) से मैं प्रकाशित करा दूगा। आपकी भाषा मुझे पसन्द है। जन्माष्टमी करीब है। 'प्रताप' का एक सुन्दर अक निकालने का इरादा है। एक सप्ताह मे कुछ लिख भेजिए।' मैंने नम्रतापूर्वक आदेश को शिरोधार्य किया। तागा स्टेशन पहुचा। गाडी आयी। वे मेरा कधा पकडकर झकझोरते हुए बोले—'मैं ईश्वरीजी को उलाहना भेजूगा कि शिवपूजनजी को ऐसा सकोची और निरीह क्यो बना रखा है।'

चौथी बार कलकत्ता मे दर्शन हुए। मै 'मतवाला' मण्डल मे दूसरी बार लखनऊ से लौटकर आया था। ६/३ बलराम-डे स्ट्रीट मे पूज्य प० ईश्वरीप्रसाद-जी शर्मा के साथ सपरिवार रहता था। शर्माजी के यहा उन दिनो 'दैनिक प्रताप' बराबर आता था। एक दिन कलकत्ता के पत्रो मे श्रद्धास्पद विद्यार्थीजी के शुभागमन की सूचना देखने मे आयी। शर्माजी ने शाम को उनसे मिलने का प्रोग्राम बनाया। मगर बीच ही मे घर बैठे विद्यार्थीजी आ मिले! शर्माजी से कहने लगे— 'प्रताप की सहायता के लिए अर्थ-सग्रह करने आया हू, भाई! दैनिक मे बडा खर्च है। इतने दिनो से कलकत्ता मे गोटी जमाये बैठे हो, कुछ दिलवाओ। लेकिन देने-लेने की बात तो पीछे होगी, पहले रसगुल्ले खिलाओ। देखता हू, 'दैनिक प्रताप' की पूरी फाइल तुम्हारे पास है। सब जुगाकर रखते जा रहे हो क्या?'

शर्माजी ने झट रुपया निकालकर मुझे दिया कि ट्राम से जाकर बागबाजार के रसगुल्ले ले आओ। विद्यार्थीजी ने मेरी हथेली पर से रुपया उठाकर अपनी जेब मे डालते हुए कहा—'इनको क्यो हैरान करोगे, मै रास्ते मे उधर खा लूगा।' अट्टहास से कमरा गूज उठा। फिर मेरे विषय मे पूछने लगे—'माधुरी' को क्यो छोड आये भाई? 'मतवाला' मे कौन-कौन हैं? उसे हिन्दी का विलायती 'पच' बनाओ। कभी-कभी वह बेतरह ढाल लेता है। गन्दे और टुच्चे मजाक से जनता की रुचि भ्रष्ट होती है, शुद्ध विनोद से साहित्य परिपुष्ट होता है। निर्दोष व्यग्य-विनोद से भी तो मतवालापन निबह सकता है? कभी-कभी वह सनककर कीचड उछाल देता है। हसी तो जरूर आती है, मगर साथ ही घृणा भी पैदा होती है।' मैंने हाथ-जोडकर कहा—'एक बार पधारकर 'मतवाला' मडल को भी कृतार्थ कीजिए। आज या कल, किसी समय जब अवकाश हो।' खेद प्रकट करते हुए बोले—'माफ करो भाई, फिर कभी आना पडा, तो कोशिश करूगा, इस बार तो बिलकुल समय नही है। और मुझे वहा ले जाकर क्या करोगे? मै कोई साहित्यिक थोडे हू, मै तो एक मामूली किसान हू, बस। किसान को दिल्लगी से क्या निस्बत, वह तो रोटी के लिए परेशान रहता है। मरभुक्खो को दिल्लगी नही सूझती, वह तो बाबुओ के दिल-बहलाव की चीज है। मैं बाबू नही हू, खेतिहर हू—खेतिहर—ठेठ किसान! क्यो शर्माजी?'

३

'मतवाला'-मंडल

कलकत्ता १९२१—

•

असहयोग आदोलन १९२० मे प्रारम्भ हुआ था जिसमे आरा टाउन-स्कूल की सरकारी नौकरी से इस्तीफा देकर शिवपूजनसहाय वही राष्ट्रीय विद्यालय मे अध्यापक हुए। अपने साहित्यप्रेमी छात्र हरद्वार प्रसाद जालान एव उनके कुछ स्वजातीय मित्रो द्वारा स्थापित 'मारवाडी-सुधार-समित' के मुखपत्र 'मारवाडी-सुधार' के प्रकाशन-सपादन के लिए मार्च, १९२१ मे अध्यापन-कार्य छोडकर कलकत्ता चले गये। अपने शिक्षक एव साहित्यिक गुरु प० ईश्वरीप्रसाद शर्मा के परामर्श से 'मारवाडी-सुधार' का मुद्रण महादेवप्रसाद सेठ के बालकृष्ण प्रेस मे कराने लगे। कुछ दिनो बाद सेठजी एव उनके अभिन्न मित्र मुशी नवजादिकलाल श्रीवास्तव के विशेष आग्रह पर उन लोगो के साथ ही प्रेस मे रहने लगे। वही ऊपर के तल्ले मे रामकृष्ण मिशन के सन्यासियो के साथ निरालाजी भी रहते थे। विवेकानद सोसाइटी (कलकत्ता) के विद्वान सन्यासी स्वामी माधवानदजी सोसाइटी के मासिक मुखपत्र 'समन्वय' के सपादन के लिए आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी के विशेष अभिस्ताव पर निरालाजी को समादरपूर्वक कलकत्ता ले आये थे। इस प्रकार महादेवप्रसाद सेठ, नवजादिकलाल, शिवपूजनसहाय और निराला के एक जगह जुट जाने से वह विलक्षण साहित्यिक सयोग घटित हुआ जिससे 'मतवाला' मडल का सूत्रपात हुआ। २६ अगस्त, १९२३ को 'मतवाला' का प्रथम अक प्रकाशित हुआ और इस प्रकार २३, शकरघोष लेन-स्थित बालकृष्ण प्रेस 'मतवाला' मडल का मुख्यालय एवं कलकत्ता का साहित्यिक केन्द्र बन गया। लगभग आठ महीनो तक

'मतवाला' का सपादन करने के पश्चात् कई कारणो से उसे छोड शिवजी अप्रैल, १९२४ मे अपने गाव होते हुए लखनऊ चले गये, जहा दुलारेलाल भार्गव के गगा-पुस्तकमाला-कार्यालय मे पुस्तको के सशोधन-सपादन करने के साथ-साथ 'माधुरी' के सपादन मे भी प० रूपनारायण पाडेय एव प० कृष्णबिहारी मिश्र के सहयोगी रहे। वहा से सितबर, १९२४ मे साम्प्रदायिक दगे मे भागकर काशी होते हुए गाव आये तथा कुछ दिनो तक वहा तथा आरा मे रहने के बाद जनवरी, १९२५ मे पुन 'मतवाला' मडल मे कलकत्ता वापस आ गये। इस बार फिर लगभग एक वर्ष कलकत्ता रहे जिस अवधि मे 'मौजी', 'गोलमाल', 'उपन्यास तरग', 'समन्वय' आदि पत्रो का सपादन किया तथा १९२६ के प्रारम्भ मे 'पुस्तक भडार' (लहेरियासराय, दरभगा) की साहित्यिक पुस्तको एव उसके 'बालक' नामक मासिक पत्र को ज्ञानमडल प्रेस मे छपवाने के लिए काशी चले गये। इस परिच्छेद मे मुख्यत पाच वर्षों के इस कलकत्ता-प्रवास के सस्मरण ही प्रस्तुत है।

•

'मारवाड़ी सुधार'

यूरोप का पहला महायुद्ध समाप्त होने के दो-ढाई साल बाद ही असहयोग की आधी आयी। आतक के थप्पड का जवाब उत्साह घूसे से देने लगा। सन् '२० की हलचल हरेक हृदय को झकझोरने लगी। देश की उमग देख दवग भी दग था!

मैं आरा के टाउन-स्कूल मे हिन्दी-शिक्षक था। विशेषत मैट्रिक के छात्रो मे वडी खलबली थी। हर घडी, हर तरफ से सुन पडनेवाले नारे और भी सनसनी पैदा करते थे। विद्यार्थियो की निर्भयता और पुलिस की बौखलाहट देखने ही योग्य थी—आश्चर्य तो होता ही था, हसी भी आती थी।

मैं हाईस्कूल से असहयोग करके नेशनल स्कूल मे चला गया। वहा जब तक राष्ट्रीय पाठ्य-पुस्तके न मिली, कॉलेज की तरह सिर्फ लेक्चर ही होते रहे। छात्रो मे भी लेक्चरबाजी की लत पैदा हो गई। प्रति रविवार को गावो मे जाने पर वह बड़े जोशीले व्याख्यान दिया करते।

स्कूल के मेरे होनहार छात्रों मे एक हरद्वारप्रसाद जालान भी थे। आगे चलकर वह हिन्दी के बडे उत्साही लेखक हुए। यदि वह जीते रहते तो नाटक और उपन्यास के क्षेत्र में उनकी कीर्तिलता लहलहाती रहती। उनका पहला

हास्यरसात्मक नाटक 'धरकट सूम' और पहला उपन्यास 'दिल्ली एक्सप्रेस' उन्ही दिनो छप चुका था। उनको पढाने के लिए जब मै उनके घर जाता था तब स्कूल की पाठ्य-पुस्तके अलग रखकर वह केवल साहित्यिक पुस्तके ही पढा करते थे। साथ ही, अपने मारवाडी-समाज को सुधारने की चिन्ता और चर्चा भी प्राय किया करते थे। उनके दो स्वजातीय बन्धु और भी थे—श्री नवरगलाल तुलस्यान और श्री दुर्गाप्रसाद पोद्दार। इन्ही तीन साथियो ने आरा नगर मे 'मारवाडी-सुधार-समिति' नामक सस्था कायम की। इसी सस्था का मासिक मुखपत्र हुआ 'मारवाडी-सुधार' और मैं बना उसका सम्पादक—नया रगरूट।

लेखक तो मैं सन् १९१० से ही बन गया था, पर सन् १९२१ से सम्पादक भी बन गया। नेशनल स्कूल को आखिरी सलाम कर मैं कलकत्ता पहुचा। उपर्युक्त श्री दुर्गाप्रसाद पोद्दार वहा किसी व्यवसाय सम्बन्ध से हरिसन रोड के एक मकान मे रहते थे। मैं उन्ही के साथ रहने लगा। पडित ईश्वरीप्रसाद शर्मा ने पत्र के छपने के लिए एक प्रेस ठीक किया। शर्माजी मेरे साहित्यिक गुरु थे। तात्कालिक कलकत्ता के सर्वश्रेष्ठ हिन्दी प्रकाशक श्री रामलाल वर्मा के बर्मन प्रेस मे काम करते थे। किन्तु 'मारवाडी-सुधार' की छपाई के लिए उन्होने 'बालकृष्ण प्रेस' से सब कुछ पहले ही तय कर लिया था। उस प्रेस के मालिक बाबू महादेवप्रसाद सेठ से उन्ही की मार्फत जान-पहचान हुई। सेठजी के साथी मुशी नवजादिकलाल श्रीवास्तव से भी वही परिचय हो गया। प्रेस का मकान (८३, शकर घोष लेन) विद्यासागर कॉलेज के पिछवाडे खुली जगह मे था। नीचे के हिस्से मे प्रेस था और ऊपर के तल्ले में रामकृष्ण मिशन के कुछ कर्मयोगियो का निवास। उन्ही सन्यासियो के साथ कविवर 'निराला' जी रहा करते थे। मै प्रेस मे रोज ही जाता था, पर सेठजी और मुशीजी के सिवा 'निराला' जी से परिचित न हुआ।

जिस दिन मै पत्र की पाठ्य-सामग्री का सम्पादन करके पहले-पहल प्रेस में ले गया, उस दिन सेठजी और मुशीजी ने बडे उत्साहवर्धक वाक्य कहे। पहले तो उन लोगो को सहसा विश्वास ही न हुआ कि छपनेवाली रचनाओ का सशोधन-सम्पादन स्वय मैने ही किया है। मुशीजी तो बार-बार उपर्युक्त शर्माजी का नाम लेते रहे। शर्माजी का तो मैं चेला ही था। उन्होने अपने परम प्रिय मासिक 'मनोरजन' के प्रकाशन-काल (१९१०-१२) मे भी मेरी साध-भरी सेवाओ को असीसा था। मेरे अक्षर भी उनके अक्षरो से मिलते-जुलते थे। सन्देह के कारणो मे एक यह भी था। सेठजी ने प्रेस मे ही रहने के लिए अनुरोध किया। मुशीजी ने कुछ लाभ-लोभ भी दिखाया। पर मित्रवर पोद्दारजी के आग्रह के आगे मेरी एक न चली। किन्तु सेठजी और मुशीजी ने उन्हे राजी कर लिया। तब भी हरिसन रोड से प्रेस चले आने मे लगभग तीन-चार महीने लग गए। प्रेस में रहने लगने पर दोनो सज्जनो का बन्धुत्व दिन-दिन बढने लगा। इसी बीच एक दिन श्री

निरालाजी के दर्शन का सौभाग्य प्राप्त हुआ।

मुशीजी की विनोदप्रियता का रस सेठजी खूब लेते थे। केदार महाराज रसोइया प्राय दोनो जून सेठजी के लिए भग का गोला तैयार कर देते थे। रसोई मे उनका हाथ बडा साफ था। मिर्जापुरी तो थे ही, भग वनाने मे भी बहुत सधा हाथ था। जब गोला जमाकर सेठजी कुर्सी पर बैठ तम्बाकू के कश खीचने लगते तब उनकी गम्भीर मुद्रा दर्शनीय होती। बोलते बहुत कम, और हसी की बात पर भी मुसकराकर ही रह जाते। लेकिन जिस दिन भग के रग मे बोलने और हसने लग जाते, उस दिन सचमुच तरग चाद चूमती।

निरालाजी ऊपर के तल्ले से प्राय कम ही नीचे उतरते। अगर बाहर निकलते भी, तो चुपचाप अपनी राह चले जाते, दाए-बाए देखते तक नही। नगे पैर, तलहथी पर सुरती मसलते हुए, ट्राम की सडक (कार्नवालिस स्ट्रीट) तक निकल जाते। कभी-कभी उसी दशा मे ठनठनिया और मछुआ बाजार तक बढ जाते, मानो चिन्तनशीलता की धारा मे स्वत बहे जा रहे हो। मौनावलम्बन से शान्त मुखाकृति कभी-कभी मन्द स्मित से विकसित हो उठती, क्षणभर मुखडा प्रसन्न दीखता, फिर गम्भीर-धीर-प्रशान्त!

जब मै प्रेस मे नही रहता था तब भी निरालाजी पर निगाह पडी थी, मगर अडी नही थी। मेरी अनाडी आखे अनुमान करती थी, कोई टोले-मुहल्ले का आदमी होगा। प्राय प्रेस मे आते-जाते रहने पर भी उनसे कभी साक्षात्कार का सौभाग्य प्राप्त नही हुआ। एक तो वह अनावश्यक किसी के पास बैठकर गपशप मे समय बिताते नही थे, दूसरे मै भी थोडी ही देर के लिए प्रेस मे जाता था—वह भी ऐसे समय, जब मस्तमौला सेठजी ही अकेले रहते थे, मुशीजी अपने काम पर चले जाते थे—भूतनाथ-कार्यालय की मैनेजरी करने। यह कारखाना मछुआ-बाजार मे तेल-साबुन-सेंट का था। इसके मालिक थे पटना-सिटी के सेठ किशोरीलाल चौधरी। इनके कारखाने और परिवार मे मुशीजी की बडी साख और धाक थी। इनके भतीजे बाबू कनकाप्रसाद चौधरी बडे उदाराशय हिन्दी-प्रेमी थे। कनका बाबू का जिक्र आगे आएगा।

जब मैं प्रेस मे रहने लगा, सेठजी और मुशीजी से निरालाजी का हाल मालूम हुआ। मुझे ऐसा भान हुआ कि अभी ये दोनो सज्जन भी उनसे भली-भाति परिचित नही है। कलकत्ता मे वह कुछ ही दिन पहले आये थे। रामकृष्ण-मिशन के एक विद्वान् सन्यासी स्वामी माधवानन्दजी एक ऐसे हिन्दी-लेखक की खोज मे निकले थे, जो बगला से हिन्दी मे अच्छा अनुवाद कर सकता हो, सस्कृत और अंग्रेजी का अच्छा जानकार हो और दार्शनिक मनोवृत्ति का भी हो। आचार्य द्विवेदीजी से उन्हे निरालाजी का पता मिला। माधवानन्दजी स्वय कहा करते थे—'द्विवेदीजी की कृपा से यह अमूल्य रत्न हमारे हाथ लग गया, सर्वश्रेष्ठ आचार्य

का परखा हुआ हीरा है।'

स्वामीजी बडे आदर से निरालाजी को साथ रखते थे। मिशन के सभी सन्यासी उनकी सेवा के लिए तत्पर रहते थे। उनकी स्वतन्त्रता मे किसी प्रकार की कोई बाधा नही थी। वास्तव मे बगाली विद्वान् ही साहित्यकार और कलाकार का उचित सम्मान करना जानते है। मिशन के सन्यासी सदा 'पडितजी' कहकर उनकी प्रतिष्ठा करते और उनका रुख देखते रहते। स्वामी वीरेश्वरानन्दजी तो उन्हे 'हिन्दी का रवीन्द्र' कहते नही हिचकते थे। वीतराग सन्यासी होने पर भी, एक बगाली विद्वान् के मुख से ऐसी बात सुन लेना आसान नही था। उन्हे चिन्तक और दार्शनिक तो सभी कहते थे। उन लोगो की दृष्टि मे उस समय हिन्दी-ससार मे उनकी उम्र का दूसरा कोई बहुश्रुत विद्वान् नही था। उन्हे पाकर वे लोग गर्व करते थे।

सेठजी और मुशीजी भी उन गुणग्राही सन्यासियो से निरालाजी की प्रशसा सुनकर ही उनकी ओर आकृष्ट हुए थे। जिस दिन दुतल्ले से उतरकर बाहर जाते हुए निरालाजी को अपने कमरे मे बुलाकर मुशीजी ने मुझसे परिचय कराया, उस दिन सेठजी ने जो भविष्यवाणी की थी वह हिन्दी-ससार मे सत्य सिद्ध हो चुकी है, उसे दुहराने की जरूरत नही है। सेठजी कुछ कम गुणग्राही न थे। प्रतिभा का वैसा अनन्य पुजारी मैंने फिर कही नही देखा। जिसकी कला परख लेते, उसके अधभक्त बन जाते। आगे चलकर इसके प्रमाण मिलेगे।

मुशीजी तो मजाकपसन्द आदमी थे। बात-बात मे उन्हे तफरीह सूझती थी। निरालाजी के सम्बन्ध मे उनकी कितनी ही निराली उक्तिया बडे मार्के की होती थी। प्रथम परिचय के दिन वह कहने लगे—'एक तो महाकवि बिहारीलाल की नायिका भौंहो मे हसती थी, दूसरे हमारे निरालाजी भौहो मे हसा करते हैं, बल्कि यह तो बिहारी की नायिका के भी कान कतर चुके है—इनकी पलके हसती है, बरौनिया हसती हैं, आखो के कोए हसते हैं। अजी, इनकी नसे हसती है।'

अब मुशीजी और सेठजी प्राय निरालाजी के सत्सग का आनन्द लेने लगे। धीरे-धीरे उनका मौन भग होने लगा। चर्चा केवल साहित्यिक ही होती थी। सेठजी छेडकर रसानुभव करने लगते, मुशीजी की सरस उक्तिया उत्तेजना भरती चलती। उस बातचीत मे निरालाजी के क्रान्तिकारी विचारो का परिचय मिलने लगा।

सेठजी का बालकृष्ण-प्रेस भारतेन्दु-युग के साहित्य-महारथी प० बालकृष्ण भट्ट की स्मृति मे स्थापित हुआ था। उसमे अधिकतर भूतनाथ-कार्यालय का ही काम हुआ करता था। मुशीजी की मित्रता सेठजी के लिए कल्पलता थी। सेठजी उनको अपना बडा भाई मानते थे—उनकी बहुतेरी बातें चुपचाप बर्दाश्त कर लिया करते थे। किन्तु ईश्वर की ऐसी इच्छा कि वह भाईचारा अन्त तक निभ

न सका।

बालकृष्ण प्रेस मे सेठजी और मुशीजी के पास कुछ साहित्यिक सज्जन बराबर आया करते थे, जिनमे मुख्य थे—पडित ईश्वरीप्रसाद शर्मा, पडित चन्द्रशेखर पाठक[१], पडित रामगोविन्द त्रिवेदी वेदान्तशास्त्री[२], बाबू बलदेवप्रसाद खरे[3] और बाबू कनकाप्रसाद चौधरी[४]। चौधरीजी साहित्यसेवी नही थे, पर साहित्यानुरागी और सत्सगी वडे पक्के थे। इनका कहना था कि बगला और हिन्दी का कोई ऐसा पुराना या नया उपन्यास अथवा कहानी-सग्रह नही है जिसको इन्होने न पढा हो। इनकी कहानियो का एक सग्रह मुशीजी ने प्रकाशित कराया था, जिसकी पाण्डुलिपि मुशीजी ने शोधी थी। बगला और हिन्दी के कथा-साहित्य को इनमे हजारो रुपये मिले होगे। ऐसे धनी आज भी कुछ होगे ही।

शर्माजी बाबू रामलाल वर्मा के यहा पूरी स्वतन्त्रता के साथ नौकरी करते थे। उनको वर्माजी नौकर नही, साहित्यिक मित्र समझते थे, अपने सगे छोटे भाई मुकुन्दलालजी से भी अधिक प्यार करते थे। वैसा बन्धुत्व व्यावसायिक सम्बन्ध मे कही न देखा। शर्माजी परम स्वच्छन्द और स्वाभिमानी व्यक्ति थे। उनका झुझलाना-तिनकना और वर्माजी का बडी मिठास से उनको मनाना मैने देखा था।

---

१ पाठकजी बिहारशरीफ (बिहार) के निवासी थे। कलकत्ता मे 'पाठक-कम्पनी उनकी प्रकाशन-सस्था थी। उन्होने अग्रेजी मे प्रसिद्ध उन्यास 'वैनिटीफेयर' का हिन्दी-अनुवाद 'मायापुरी' नाम से किया था। उनकी सचित्र जीवनी मैने 'मारवाडी-सुधार' मे छापी थी। ये भी 'मतवाला'-मण्डल के सदस्यो मे थे।

२ शास्त्रीजी के प्रेस मे, मेरी कहानियो का सग्रह 'महिला-महत्त्व' नाम से, पहले-पहल छपा था, जो आगे 'विभूति' नाम से निकला। मेरा 'देहाती दुनिया' उपन्यास भी पहले-पहल वही छपा, परन्तु प्रकाशित हुआ बरसो बाद पुस्तक-भण्डार (लहेरियासराय) से। शास्त्रीजी 'कूसी' (दिलदारनगर, गाजीपुर) के निवासी थे। 'वैदिक साहित्य' आपकी प्रसिद्ध पुस्तक है। ऋग्वेदसहिता का और विष्णुपुराण का हिन्दी-अनुवाद तथा 'दर्शन-परिचय' भी आपकी उत्तम पुस्तके है। 'गगा' (सुलतानगज, भागलपुर) के सम्पादकीय विभाग मे आपके साथ मैं भी एक वर्ष तक था। सम्पादन-कला के अच्छे मर्मज्ञ थे।

३. खरेजी हास्य-रस के अच्छे अभिनेता थे। उनके कई नाटक उसी समय प्रकाशित हुए थे।

४. 'भूतनाथ'-कार्यालय (तेल-साबुन-सेंट कारखाना) के अधिष्ठाता पटना सिटी-निवासी सेठ किशोरीलाल चौधरी के भतीजे।

वर्माजी बडे हसमुख, मिलनसार और मिठबोलिया थे। माहित्यिको की वडी कद्र करते थे। जैसा उनका रूप सुन्दर था वैसा ही हृदय भी। उस समय के कलकतिया पुस्तक-प्रकाशको मे उनके समान साहसी और उदारचेता दूसरा न था। उनके यहा शर्माजी के सिवा पडित कार्तिकेयचरण मुखोपाध्याय और पडित नरोत्तम व्यास[1] भी साहित्य-रचना करते थे। उपर्युक्त त्रिवेदीजी और मुशीजी भी उनके लिए पुस्तके लिखा करते थे, जिन्हे वे बडी सज-धज से प्रकाशित करते थे। पुस्तको की शुद्ध छपाई और बाहरी-भीतरी सजावट का उन्हे बडा शौक था। पुस्तको के अलकार-शृगार मे वह काफी पैसे खर्च करते थे। साहित्यिको को पुरस्कार से अधिक अपनी मृदु-मञ्जु-मधुर वाणी से ही तृप्त किया करते थे। पैसे के लिए साहित्यिक को असतुष्ट होने देना उन्हे पसन्द न था। चिरौरी करके कुछ कम भले ही दे, पर तिरस्कार किसी का कभी न किया। त्रिवेदीजी से उन्होने 'विष्णुपुराण' का गद्यानुवाद कराया। उनके पारिश्रमिक, मुद्रण, चित्रालकरणादि मे लगभग दस हजार रुपये उस समय खर्च हुए थे। ग्रथ पूरा छपकर तैयार हो गया था। त्रिवेदीजी ने बहुत दिनो तक घोर परिश्रम किया था। किन्तु वह ग्रथ अप्रकाशित ही रह गया। त्रिवेदीजी के अनवरत अनुशीलन और वर्माजी की द्रव्य-राशि से हिन्दी-साहित्य को जो लाभ पहुचता उससे वह वचित रह गया। वह हजार पन्ने की पोथी नियति-चक्र मे पिस गयी!

शर्माजी की आदत थी कि प्रेस मे पहुचते ही मुशीजी और सेठजी से पान और रसगुल्ले की फरमाइश कर देते थे। उनके आ जाने पर कोई काम नही किया जा सकता था, काम करने ही न देते थे। ठहरते तो थे कुछ ही देर, मगर उतने ही समय मे कागज-कलम-दवात-किताब इधर-उधर रख देते थे। बस, गप-शप और हसी-ठहाके के लिए ही वह आ जाते थे। उनकी सूरत देखते ही सेठजी हसकर कहते, 'बस, अब काम हो चुका!' मुशीजी से वह बराबर सुगन्धित तेल और साबुन मुफ्त वसूल किया करते। मगर सुप्रसिद्ध 'भूतनाथ तेल' की शीशिया खाली हो जाने पर लौटा देते थे। एक बार मुशीजी ने उनसे कहा कि हमारे कारखाने मे शीशियो की कमी नही है, इन्हे बेचकर पैसे क्यो नही उठा लेते? इस पर उन्होने छूटते ही कहा, 'मैं तेलिया ब्राह्मण नही हू!'

सेठजी इतिहास के बडे प्रेमी थे। इतिहास का जो नया ग्रथ निगाह मे आ जाता, झट खरीद लेते। अग्रेजी बुकसेलरो के यहा उनका स्थायी आर्डर पडा

---

१ व्यासजी श्रीरामलाल बर्मन के प्रकाशन-विभाग मे काम करते थे। हिन्दी मे उनकी कई पुस्तके निकली थी। नाट्यकला विषयक एक मासिक पत्र भी निकाला था। बाद मे बम्बई की किसी चलचित्र-सस्था मे चले गए थे।

रहता था, नया ग्रथ बाजार मे आते ही उन्हे सूचना मिल जाती थी। उनका इतिहास सम्बन्धी ज्ञान भी बहुत गम्भीर था। उन्होने एक इतिहास-ग्रथ लिखना शुरू किया था, परन्तु दो-चार ही परिच्छेद छेडकर रह गए। प्रेस के काम मे खटते खूब थे, मगर लिखने मे आलसी थे। स्वाध्याय मात्र उनका व्यसन था। इतिहास पर बाते करने लगते थे तो बडा आनन्द आता था। उनके लिखे अध्यायो को मैने देखा था। स्वामी भवानीदयाल सन्यासी ने दक्षिण अफ्रीका से अपनी लिखी एक ऐतिहासिक पुस्तक मेरे देखने के लिए भेजी थी। वह सन् सत्तावन के गदर पर थी। उसे अनेक प्रामाणिक ग्रथो के आधार पर उन्होने लिखा था। उसमे बडे मार्के के उद्धरण भी थे। सेठजी ने उसको देखकर कहा कि इसमे बहुत-सी असगतिया और असम्बद्ध बाते है। कई स्थलो की त्रुटियो का उन्होने सुधार करा दिया। स्वामीजी जब एक शिष्ट-मण्डल मे भारत आये तब उन्होने कलकत्ता पहुच सेठजी के सत्परामर्श के लिए बडा आभार और उपकार माना[1]।

शर्माजी और पाठकजी प्राय सेठजी से अग्रेजी के इतिहास-ग्रथ पढने के लिए ले जाते थे। पाठकजी से चौगुनी अधिक पुस्तके शर्माजी पढ जाते थे। जैसे वह लिखने मे तेज थे, वैसे पढने मे भी। न जाने कैसे कोई किताब देखते-देखते पढकर समाप्त कर देते थे। उनके एक मारवाडी मित्र बाबू महादेवप्रसाद झुनझुनवाला[2] थे। इनकी पुस्तको की एक दूकान बडतल्ला मुहल्ले मे थी—'भारत पुस्तक भण्डार'। शर्माजी की बैठकबाजी यहा भी हुआ करती थी। कलकत्ता मे इनके कई साहित्यिक अड्डे थे। उक्त दूकान से भी वह पढने के लिए नयी-नयी पुस्तके ले जाते थे। मुशीजी मजाक मे उन्हे 'दीमकदास' कहते थे, क्योकि वह चाहे तो रातभर मे बडी-से-बडी

---

१ 'सन् १९२५ ई० के दिसम्बर मे कलकत्ता पहुचकर, आप लोगो ने लार्ड रीडिंग से भेट करके अपना वक्तव्य पेश किया। उस समय मैं 'मतवाला'-मडल मे था। आपका शिष्टमडल ग्रैड होटल मे ठहरा था, इसलिए बराबर भेट होती रही।'

२. उनका 'भारत-पुस्तक-भण्डार' साहित्यसेवियो का स्वागत-सत्कार करने के लिए प्रसिद्ध था। उनके मस्तिष्क को पडित ईश्वरीप्रसाद 'प्रकाशन-योजनाओ का विशाल कारखाना' कहा करते थे। कलकत्ता के धनाढ्य मारवाडी समाज मे उनकी अच्छी साख और धाक थी। यदि उनकी असामयिक मृत्यु न होती, तो हिन्दी मे कई आकर-ग्रथ निकल गए होते। ससार भर के पुस्तकालयो और हिन्दी-पत्र-पत्रिकाओ का बृहदाकार इतिहास तैयार करने की योजना के लिए उन्होने बहुत-से साधनो का सग्रह किया था।

पुस्तक के भी आर-पार हो जाए। उनका दिमाग बिलकुल पलीता था बारूद का, और लेखनी भी उन्होंने गणेशजी की पायी थी। मगर उनकी पढाई और पाठकजी की पढाई मे अन्तर था। यह सिर्फ पढक्कू ही थे, पाठकजी बडे सग्रही थे। वह खास-खास अवतरणो को नोट करते जाते थे। इनकी एक नोटबुक मुशीजी के पास मैने देखी थी, जिसमे उपन्यास लिखने योग्य ऐतिहासिक घटनाओ के सुन्दर सकलन थे।

शर्माजी तो आरा-निवासी थे, पर पाठकजी बिहारशरीफ (जिला पटना) के मराठा ब्राह्मण थे। यह लाल रोली का टीका लगाते थे और कपडे-लत्ते के बडे शौकीन थे। वाराणसी घोष स्ट्रीट मे इनका अपना प्रकाशन-मन्दिर था। मेरी लिखी 'भीष्म' और 'अर्जुन' की जीवनिया इन्होने प्रकाशित की थी। पडित मदनमोहन भट्ट और पडित केशवराम भट्ट के परिवार की बहुत-सी बाते कहानियो की तरह सुनाया करते थे। इनकी सचित्र जीवनी मैने 'मारवाडी-सुधार' मे प्रकाशित की थी। बाद मे पछतावा होता रहा कि इनसे 'बिहारबन्धु' के भट्ट-परिवार का कुछ वृत्तान्त सग्रह न कर सका। कलकत्ता के पुराने पत्रकारो के सम्बन्ध मे भी अनेक रोचक प्रसग सुनाते थे। इत्रो की परख मे भी बडे दक्ष थे। देशी इत्रो का ही व्यवहार किया करते थे। उस्ताद गधी भी इनकी खरी पहचान से चकित हो जाते थे। शर्माजी को सिर्फ खाने का शौक था, इनको खाने और खिलाने दोनो का। मुशीजी इनको 'भोजन-विलासी' पदवी दिये हुए थे। इनके घर मे खाने-पीने की निहायत नफीस चीजे बनती थी। पत्थर की छोटी-बडी रग-बिरगी सुन्दर प्यालिया इनके यहा कितनी थी, इसका कोई अन्दाज नही मिलता था। थाली मे सभी चीजे प्यालियो मे ही आती थी। चटनी की सबसे छोटी प्याली अजीब खूबसूरत थी। फूल के एक-से-एक सुन्दर बर्तन इनके घर मे थे। हर साल धनतेरस के दिन अच्छे-से-अच्छे चुनीदा बर्तन खरीदते थे। बाजार मे कपडे खरीदने निकलते थे तो कलकत्ता जैसे शहर मे भी सहसा कोई कपडा इन्हे जचता न था। एक बार इनकी बिछावन की चादर देखकर सेठजी ने कहा था कि आपके घर मे तो डाका डालने की इच्छा होती है। इन्होने तुरन्त चादर उन्हे भेट कर दी। सेठजी के लाख आग्रह पर भी दाम न लिया। इस पर शर्माजी बडे जोर से अपना गजा सिर खुजलाने लगे। उह-आह भी करने लगे। पाठकजी ताड गए। शर्माजी को बहुत ही सुन्दर एक रूमाल नजर कर दिया।

त्रिवेदी शास्त्रीजी पहले तो लेखक बनकर कलकत्ता आए, पीछे प्रकाशक भी बन गए। उन्होने 'भारती प्रेस' खोलकर कई अच्छी पुस्तके निकाली थी। पडित मथुराप्रसाद दीक्षित का लिखा 'बाबू कुवरसिंह' का जीवन-चरित बडी शान से निकला। यह पुस्तक बडी खोज से लिखी गयी। इम्पीरियल लाइब्रेरी और कुवरसिंह की राजधानी (जगदीशपुर) तक दौड लगायी गयी। पूज्य राजेन्द्र बाबू

ने भूमिका लिखी। मैने परिशिष्ट मे परम्परागत किवदन्तियो का सचय किया। मेरी भी एक पुस्तक शास्त्रीजी ने छापी। कहानियो का सग्रह 'महिला महत्त्व' नाम से निकला, जो अब 'विभूति' नाम से प्रचलित है। मुशीजी का मौलिक उपन्यास 'शान्तिनिकेतन' भी वही से प्रकाशित हुआ। शास्त्रीजी ने भविष्य के लिए बडी-बडी साहित्यिक योजनाए बनायी थी। उनका प्रकाशन-व्यवसाय भी लाभप्रद रीति से चल निकला था। किन्तु वह स्वय केवल साहित्यिक ही थे, व्यवसाय-बुद्धि का अभाव था। उनकी दरियादिली ही रोजगार के लिए घातक हुई। पनपते या जमते हुए व्यापार के लिए शाहखर्ची ही खतरे की घटी है। सेठजी और मुशीजी ने उनको कई बार नेक सलाह दी, पर वह अपने उदार विचार से लाचार थे। अन्त मे पता लगा कि विशुद्ध लाभदर्शी लोगो ने उनके साहित्यिक सपनो को सफल न होने दिया। कई साल बाद बिहार की 'गगा' पत्रिका मे फिर मेरा-उनका साथ हुआ।

बाबू बलदेवप्रसाद खरे बडे रगी जीव थे। कलकत्ता छोडने के बाद मै फिर कभी उनसे मिल न सका। जहा तक याद है, एक बार शायद काशी मे वह मिले थे। वह बडे कुशल अभिनेता थे। कलकत्ता के कई प्रकाशको ने उनके लिखे पौराणिक और सामाजिक नाटक प्रकाशित किये थे। उन दिनो कलकत्ता मे कई हिन्दी-नाटको के अभिनय प्राय हुआ करते थे। हिन्दी-नाट्य-समिति के सचालक पूर्वोक्त बाबू रामलाल वर्मा थे। हिन्दी-नाट्य-परिषद् के प्राण थे पडित माधव शुक्ल, जो हिन्दी के अत्युच्च कोटि के अभिनेता थे। इन सस्थाओ मे आपसी होड भी खूब थी, पर उनमे द्वेष का लेश न था, केवल कला-प्रदर्शन की ही स्पर्द्धा थी। कई युवको की अभिनय-कला पुरस्कृत हुई थी। ऐसे युवको मे केवल 'केशव' का नाम याद है। स्त्री का स्वाग उसका सदा सफल रहा। काशी के यशस्वी अभिनेता बाबू केशवप्रसाद टण्डन भी उस समय कलकत्ता के हिन्दी-रगमच का गौरव बढा रहे थे। जहा तक याद है, वह शाहजहा, औरगजेब और चाणक्य की भूमिका मे बहुत सफल हुए थे। मैने काशी मे भी उनका अभिनय देखा। शुक्लजी के नाट्य-कौशल का तो कहना ही क्या! वह अपने समय मे हिन्दी-रगमच के सिंह थे।

खरेजी प्राय प्रहसनो मे ही अभिनय किया करते थे। एक बार उन्होने स्त्री का स्वाग धारण किया। सेठजी शाम की बूटी जम जाने पर कही बाहर नही जाते थे। खरेजी के विशेष आग्रह पर उन्हे नाटक देखने जाना पडा। किन्तु भग की तरग मे नाट्यशाला मे ही ऐसी हसी उमडी कि मुशीजी उन्हे नशे की दशा मे अकेला न छोड सके, प्रेस तक साथ गये। हसी उमडी खरेजी को नारी-वेश मे देखते ही। प्रौढावस्था मे पुरुष-कण्ठ कर्कश हो ही जाता है। पुरुष अपनी उठती जवानी मे ही स्त्री का पार्ट अच्छा कर सकता है। स्त्री का वेश रूपवान नवयुवक

को ही फबता है। उपर्युक्त केशव की स्वर-माधुरी मे रचमात्र भी अस्वाभाविकता का आभास नही मिलता था। उन दिनो पारसी और बगला थियेटरो मे स्वय स्त्रिया ही अभिनेत्री होती थी, इसलिए लोगो के कान भी प्रौढ कण्ठ का स्वर सुनने के अभ्यस्त नही थे। खरेजी मच पर ज्यो-ज्यो बोलते, सेठजी की हसी का पारा चढता जाता। मुशीजी को आखिर लाचार होकर उन्हे नाट्य-मन्दिर से बाहर ले जाकर प्रेस पहुचाना पडा। खरेजी को यह बात मालूम न होने पायी, बल्कि दूसरे दिन प्रेस मे उनके आने पर सेठजी ने उनके अभिनय की बडी प्रशसा की, जिसे सुनकर मुशीजी की हसी न रुकी तो वह अन्यत्र हट गए और मैं भी वहा से टल गया।

हिन्दी के नाटको की उस समय बडी धूम थी। लोगो मे अदम्य उत्साह था। अभिनय मे काफी भीड होती थी। कितने ही नवयुवको को नाट्यकला-निपुण देखकर आशा की जाती थी कि हिन्दी का रगमच कुछ दिनो मे बहुत उन्नत हो जाएगा। पारसी थियेटरो मे भी हिन्दी के सुन्दर नाटको के अभिनय होने लगे थे। इसकी चर्चा आगे होगी। बडा बाजार मे नाटको से काफी हलचल रहती थी। एक बार हास्यरसावतार पडित जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी भी रगमच पर उतरे थे। उन्होने रोने का पार्ट किया था। उनकी नाना प्रकार की रुलाई ने हसाते-हसाते लोगो को बे-दम कर दिया। कविवर 'निराला' जी को भी रगमच पर लाने की चेष्टा हुई थी पर उनको लोग राजी न कर सके। वह बहुत अच्छे अभिनेता थे। सेठजी के कमरे मे कई बार उन्होने अभिनय की भावभगी के साथ अपनी 'पचवटी' कविता सुनाई थी। बगला के अभिनय भी दिखलाये थे। उनकी अग-भगिमा देख मुग्ध होकर एक दिन पाठकजी ने कहा था—'आर्यों के शरीर की गठन का जैसा वर्णन प्राचीन ग्रन्थो मे मिलता है वैसा ही निरालाजी का तगडा और पुष्ट बदन है। इनकी आखे और अगुलिया देखकर अजन्ता-गुहा के चित्र याद आ जाते है। जान पडता है कि अजन्ता की कोई प्रस्तर-प्रतिमा सजीव होकर हिन्दी-जगत् मे चली आयी है। इनका मुख-विवर और चिबुक ठीक आर्यो के समान है। आर्य-जाति के वशधर की तरह मेधा भी इन्होने पायी है।' इसके कई साल बाद मैने कलकत्ता मे ही फिर निरालाजी को देखा।

कलकत्ता-प्रवास का मूल कारण था 'मारवाडी-सुधार' का सम्पादन और प्रकाशन। 'मतवाला'-सम्पादक बाबू महादेवप्रसाद सेठ के बालकृष्ण प्रेस मे 'मारवाडी-सुधार' को छपवाता था और कलकत्ता-निवासी मारवाडी लेखको से लेख-सग्रह भी करता था। श्री गगाप्रसाद भोतिका, श्री तुलसीराम सरावगी, श्री बसन्त-लाल मुरारका, श्री रामदेव चोखानी, श्री पद्मराज जैन, श्री रगलाल जाजोदिया,

श्री दुर्गाप्रसाद खेतान, श्री मातालाल लाठ, श्री रामकुमार गोयनका, श्री धर्मचन्द खेमका, श्री ईश्वरदास जालान, श्री कालीप्रसाद खेतान, श्री बैजनाथ केडिया, श्री दीनानाथ सिगतिया आदि उस समय मारवाडी-समाज के सुपरिचित लेखक और सुधारक तथा सार्वजनिक कार्यकर्ता थे। भोतिकाजी, सरावगीजी, मुरारकाजी और चोखानीजी सामाजिक और सार्वजनिक हित के कामो मे बहुत आगे रहते थे। इनमे प्रमुख अगुआ श्री पद्मराजजी जैन थे। वह बडे ओजस्वी वक्ता थे। उन्होने 'मारवाडी-सुधार' मे समाज-सुधार सम्बन्धी कई लेख लिखे थे। उपर्युक्त प्राय सभी सज्जनो के लेख 'मारवाडी-सुधार' मे छपे थे। श्री दुर्गाप्रसाद खेतान, श्री कालीप्रसाद खेतान और उनके सबसे बडे भाई श्री देवीप्रसाद खेतान 'मारवाडी-सुधार' के प्रमुख सहायको मे थे।

उन्ही दिनो स्वनामधन्य देशभक्त सेठ जमुनालाल बजाज की प्रेरणा और उदारता से अखिल भारतीय मारवाडी अग्रवाल महासभा की स्थापना हुई थी। श्री पद्मराजजी, रायबहादुर चोखानीजी, सरावगीजी, मुरारकाजी, भोतिकाजी, केडियाजी, जालानजी और खेतान-बन्धु उसके प्रमुख स्तम्भ, सचालक और उत्साही कार्यकर्ता थे। 'मारवाडी-सुधार' के सम्पादक के नाते उसके महाधिवेशनो मे मैं भी जाता था। जब महासभा ने अपना स्वतन्त्र मासिक मुखपत्र 'मारवाडी-अग्रवाल' प्रकाशित करने का निश्चय किया तब लगातार दो-ढाई साल के प्रकाशन के बाद 'मारवाडी-सुधार' बन्द कर देना पडा। 'मारवाडी-अग्रवाल' के सम्पादक हुए श्री हेमचन्द्रजी जोशी। जोशीजी से मै उसी समय पहले-पहल परिचित हुआ। 'मारवाडी-अग्रवाल' मे कई लेख मेरे भी निकले।

'मारवाडी-सुधार' के लेखको मे श्री ईश्वरदासजी जालान बिहार प्रान्त के मुजफ्फरपुर के निवासी थे। उन दिनो वह हरिसन रोड और चितपुर रोड की चौमुहानी पर फुल-कटरा मे रहते थे। द्विवेदी-युग की 'सरस्वती' मे भी उनका लेख छपा था। श्री कालीप्रसाद खेतान बैरिस्टर का लेख भी द्विवेदीजी की 'सरस्वती' मे छपा था। जब वह बैरिस्टरी पास कर स्वदेश लौटे थे तब आचार्य द्विवेदीजी ने अपनी 'सरस्वती' मे उनका सचित्र परिचय भी प्रकाशित किया था। श्री राजकुमारजी गोयनका भी उन्ही दिनो अमेरिका से लौटे थे। श्री मोतीलाल लाठ ने पहले-पहल उनसे मेरा परिचय कराया। श्री बैजनाथ केडिया उस समय 'हिन्दी पुस्तक एजेन्सी' से सम्बद्ध थे। कुछ ही दिनो बाद हिन्दी पुस्तक एजेन्सी से 'साहित्य' नामक मासिक पत्र निकला था। उसके सम्पादक थे प० छविनाथ पाडेय। मुक्ताराम बाबू स्ट्रीट के पास सरकार लेन मे केडियाजी का वणिक प्रेस था। उससे उन्होने कुछ साल बाद 'विजय' नामक सचित्र साप्ताहिक निकाला था, जिसके सम्पादक थे श्री कार्तिकेयचरण मुखोपाध्याय, जो छपरा (बिहार) के निवासी थे। उसी वणिक प्रेस से दो-तीन साल बाद मेरे सम्पादकत्व मे 'उपन्यास तरग' नामक

सचित्र मासिक-पत्र निकला था। मेरे सहकारी श्री रमेशचन्द्र त्रिपाठी का भी नाम उम पर छपता था। वह बडे अच्छे होनहार नवयुवक थे और कानपुर की तरफ के रहनेवाले थे। अन्त मे वह मन्यामी हो गये। वणिक प्रेम मे ही लहेरिया-सराय (दरभगा) के 'बालक' का पहला अक छपा था। दूसरे अक से वह काशी के ज्ञानमण्डल प्रेस मे छपने लगा। उसी के सिलसिले से मुझे कलकत्ता छोड काशी जाना पडा। कलकत्ता मे मेरे रहते समय श्री दीनानाथ सिगतिया ने मेरे मम्पादकत्व मे 'आदर्श' नामक सचित्र मासिक पत्र निकाला था। सिगतियाजी साहित्यानुरागी तो थे, पर उनके पास पूजी नही थी। जोश मे आकर 'आदर्श' निकाला, पर लगभग एक साल ही चला सके। उन्होने 'गोलमाल' नामक हास्यरस का एक माप्ताहिक-पत्र भी निकाला था, जिसका प्रकाशन कुछ दिनो तक पटना सिटी से उन्ही की देख-रेख मे हुआ था।

'मारवाडी-सुधार' के बन्द होने पर बालकृष्ण प्रेस के मालिक महादेवप्रसाद सेठ ने मुझसे अपने प्रेस मे ही रहने का अनुरोध किया। उनका और मुशी नवजादिकलालजी श्रीवास्तव का आग्रह हुआ कि हास्यरस का एक सुन्दर साप्ताहिक पत्र निकाला जाए। यह प्रेरणा बगला के एक हास्यरसात्मक साप्ताहिक 'अवतार' से मिली। मुशीजी बगला के अखबार रोज पढा करते थे। 'अवतार' के अक भी प्राय बराबर लाते और पढ सुनाते। उसके मार्मिक व्यग्य-विनोदो से हम लोग प्रभावित हुए। दृढ निश्चय किया गया कि 'मतवाला' नामक साप्ताहिक पत्र अवश्य ही निकाला जाए।

'मतवाला' कैसे निकला

एक दिन मुशीजी बाजार से बगला, साप्ताहिक 'अवतार' खरीद लाये। वह हास्यरस का पत्र था। शायद एक ही पैसा दाम था और शायद पहला ही अक भी था, किन्तु उसी पर छपा था—

Guranteed Circulation 0000000001। मसाला भी बड़ा मजेदार था। खूब पढा गया। सोचावट होने लगी—इसी ढग का एक पत्र हिन्दी मे निकाला जाय। रोज हर घडी चर्चा छिडी ही रहती थी। कितने ही हवाई किले बने और कितने ही उड गये। बहुत मथन के बाद विचारो मे स्तभन आया। उसी दम बात तय हो गई। बीजारोपण हो गया। २० अगस्त, १९२३, रविवार को सिर्फ बात पक्की हुई। २१, सोमवार, को मुशीजी ने ही पत्र का नामकरण किया—'मतवाला'। नाम सबने पसद किया। अब विचार होने लगा—कौन क्या लिखेगा—पत्र मे क्या रहेगा, इत्यादि।

आरम्भ मे निर्णय हुआ कि मुखपृष्ठ के लिए निरालाजी प्रति सप्ताह अपनी कविता देगे, मै अग्रलेख (सम्पादकीय) और 'चलती चक्की' नामक स्तम्भ के लिए विनोदपूर्ण टिप्पणिया भी लिखा करूगा, मुशीजी 'मतवाला की बहक' नामक स्तम्भ के लिए व्यग्यात्मक टिप्पणिया लिखा करेगे, समालोचनाए भी निरालाजी ही लिखेगे, अन्य सारी सामग्री का सम्पादन और पूरे पत्र का प्रूफ-शोधन मुझे करना पडेगा, सम्पादक के रूप मे सेठजी का नाम छपेगा ।

मुशीजी और सेठजी तैयारी मे लग गये । स्तम्भो के शीर्षक चुने गये । डिजाइन, ब्लॉक, कागज धडाधड प्रेस मे आने लगे । चारु बाबू चित्रकार ने मुखपृष्ठ के लिए 'नटराज' का चित्र बनाया । देखकर सबकी तबीयत फडक उठी । 'निराला' जी ने कविता तैयार कर ली—समालोचना भी लिख डाली । मुशीजी भी रोज कुछ लिखते जाते थे । मै हतबुद्धि-सा हो गया । कुछ सूझता ही न था । श्रावण की पूर्णिमा शनिवार, २६ को पडती थी । उस दिन 'मतवाला' का निकलना सर्वथा निश्चित था । युवती दुलहिन के बालक पति की तरह मेरा कलेजा धुकधुका रहा था । बुधवार (२३) की रात को मै लिखने बैठा । कई बार कई तरह से लिखा और फाड डाला । बहुत रात बीत गयी । नीद भी नही आती थी । दिमाग चक्कर काट रहा था । मन जहाज का पछी हो रहा था । एकाएक शैली सूझ पडी । लिखने लगा । भाव टपकने लगे । धारा चली । मन तृप्त हो गया । अग्रलेख पूरा करके सो रहा । सुबह उठते ही सेठजी ने मागा, तब डरते-ही-डरते दिया, किन्तु ईश्वर ने लाज रख ली, सबने पसन्द किया । शीर्षक था—'आत्मपरिचय' ।

कुछ मैटर प्रेस मे जा चुका था । उसका प्रूफ भी मै देख चुका था । अब उत्साह बढने पर मैने भी कुछ 'बहक' और 'चलती चक्की' लिखी । श्रावणी सवत् १९८०, शनिवार (२६ अगस्त, १९२३) को 'मतवाला' का पहला अक निकल गया । था तो साप्ताहिक, मगर मासिक-पत्र की तरह शुद्ध और स्वच्छ निकला । बाजार मे जाते ही, पहले ही दिन धूम मच गयी ।

'मतवाला' का प्रचार दिन-दिन बढता गया । प्रेस की व्यवस्था स्वय सेठजी करते थे और 'मतवाला' का प्रबन्ध-विभाग मुशीजी के हाथ मे था । जब 'मतवाला' का प्रबन्ध सम्बन्धी काम बहुत बढ गया तब मुशीजी 'मतवाला की बहक' लिखने के लिए समय नही निकल पाते थे ।

विवश होकर उन्हे 'भूतनाथ कार्यालय' की मैनेजरी भी छोडनी पडी । तब भी उन्हे कुछ लिखने का अवकाश नही मिल पाता था । इस तरह 'बहक' का बोझ भी मेरे ही ऊपर आ पडा । मुशीजी कभी-कभी यथावकाश कुछ लिख दिया करते । वह और सेठजी जब अखबार पढने का अवसर पाते तब उसमे निशान

लगाकर मेरे पास उस पर टिप्पणी जडने के लिए भेज देते। मतवाला' कार्यालय की तीसरी मजिल एक छोटा-सा एकान्त कमरा था। रात मे सेठजी उसमे सोया करते थे और दिन-भर मैं उसमे 'मतवाला' का मैटर तैयार किया करता था। शाम को रोज बनारसी बूटी बनती थी। भग छानने के बाद कुछ घटे हम लोगो की सम्मिलित बैठक होती थी। उसमे अखबार की खबरो पर विचार-विनिमय होता था। देश, समाज, धर्म और साहित्य से सम्बन्ध रखने वाले महत्त्वपूर्ण समाचारो और ज्वलन्त राजनीतिक समस्याओ पर सूझ-बूझ भरी टिप्पणिया लिखने के लिए निश्चय किया जाता था। भग की तरग मे सेठजी की सूझ-बूझ बडी निराली होती थी। मुशीजी भी स्वाभाविक हास्य-विनोद लिखने मे बडे सिद्धहस्त थे। निरालाजी की कविताओ ने भी 'मतवाला' की प्रतिष्ठा और लोकप्रियता बढायी। उन्होने 'सरस्वती' के अको की जो समालोचना लगातार लिखी—'गरगजसिह वर्मा' के नाम से, उसे पढकर आचार्य द्विवेदीजी इतने क्षुब्ध हुए कि 'मतवाला' के उन अको को आदि से अन्त तक अच्छी तरह सशोधित करके भेज दिया। उस समय द्विवेदीजी नही, बल्कि बख्शीजी 'सरस्वती' के सम्पादक थे। फिर भी 'सरस्वती' पर द्विवेदीजी की इतनी ममता थी कि वह 'सरस्वती' की समालोचना बर्दाश्त न कर सके।

'मतवाला' मे छपने के लिए बहुत-से लोग हास्य-विनोदमयी रचनाए प्राय. भेजा करते थे। उनमे से मार्के की रचनाए चुनकर मैं सुधार-सवार देता था। ऐसी रचनाओ के लिए 'रगरूटो की फौज' नामक स्तम्भ बनाया गया था। राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक और साहित्यिक जगत् की जो हवाई खबरे और अफवाहे होती थी उन्हे कलमबन्द करने के लिए 'चण्डूखाने की गप' नामक स्तम्भ कायम किया गया था। उससे पाठको का इतना अधिक मनोरजन होता था कि देश के अनेक भागो से लोग अपने यहा की उडती खबरे और दिलचस्प अफवाहे लिख-लिखकर भेजा करते थे। 'रगरूटो की फौज' मे भी प्रति सप्ताह नये सैनिको का दल जुटने लगा। अपनी भेजी हुई खबरो और चुटकियो पर 'मतवाला' की रगसाजी देखकर लोग बडे विनोदपूर्ण ढग से बधाइया भेजा करते थे। हिन्दी-ससार के पत्र-पाठको मे 'मतवाला' ने एक नयी उमग की लहर पैदा कर दी थी। हास्यरस की ओर लोगो का झुकाव दिन-दिन होता जाता था। नतीजा यह हुआ कि पहले साल के अन्दर ही वह दस हजार की सख्या मे छपने लगा। केवल बनारस मे ही एजेन्ट की मार्फत दो हजार प्रतिया खपती थी। कलकत्ता मे उसकी इतनी धाक थी कि जिस विषय पर वह लिखना शुरू करता था उस विषय के क्षेत्र मे हडकम्प मच जाता था। हिन्दू महासभा के विरोधी सनातनी सज्जनो का भण्डाफोड करने मे उसने इतनी निर्भीकता से काम लिया कि सनातनी भाइयो को धर्म-रक्षिणी-सभा कायम करके 'धर्म-रक्षक' साप्ताहिक निकालना पडा। पारसी थियेटर कम्पनियो को भी उसने

वहुत निडर होकर रगडा, जिसमे आतकित होकर 'मतवाला'-मण्डल मे दर्जनो 'पास' मुफ्त आने लगे। किन्तु हम लोगो ने कभी मुफ्त तमाशा नही देखा। बराबर 'मतवाला' के पैसो से देखा और खूब छूटकर लिखा। फिर तो ऐसा तहलका मचा कि पारसी कम्पनी के नाटक-लेखक 'मतवाला-मंडल' मे स्वय पधार कर पनाह मागने लगे।

'मतवाला' मे पारसी थिएटरो पर जो आलोचनात्मक लेख और अग्रलेख निकलते थे तथा व्यग्य-विनोद छपते थे उनसे थिएटर के सचालको और उनके लेखको मे बडी खलबली मची। थिएटरो के मालिक उस समय मदन थिएटर्स वाले थे। अल्फ्रेड थिएटर हरिसन रोड पर था और कोरिन्थिएन थिएटर धर्मतल्ला के पास था। दोनो के तमाशो पर तीव्र और उग्र टीका-टिप्पणी देखकर थिएटर कम्पनी वाले इतने बौखलाए कि 'पास' का लोभ दिखाकर 'मतवाला' को लुभाने का प्रयत्न करने लगे। वे अपने नाटककारो को भी 'मतवाला'-मडल मे भेजकर सिफारिश कराने लगे। मुशीजी कुछ दूर तक घपले मे आ गए थे। पर सेठजी सिद्धात के बडे पक्के थे, जाल मे न फसे। उन दिनो मदन थिएट्रिकल कम्पनी के नाटक-लेखको मे प० नारायणप्रसाद 'बेताब', बाबू हरिकृष्ण 'जौहर', प० तुलसीदत्त 'शैदा', आगा हश्र साहब आदि बडे प्रसिद्ध थे। इन लोगो से मुशीजी की पुरानी जान-पहचान थी। 'बेताब' जी का 'कृष्ण-सुदामा' नाटक पारसी थिएटर के रगमच पर महीनो लगातार चला था। उसमे भगवानदास नामक एक सुन्दर गायक अभिनेता श्रीकृष्ण की भूमिका मे उतरते थे और पुरुषोत्तम नामक कुशल अभिनेता सुदामा का स्वाग धारण करते। दोनो के अभिनय पर जनता मुग्ध थी। उस नाटक का अभिनय देखने के लिए 'मतवाला'-मडल से हम लोग कई बार गये थे। उसकी तारीफ भी 'मतवाला' मे निकाली थी। 'बेताब' जी प्राय: 'मतवाला' की बौछार से बचे रहे। उन्हे 'मतवाला'-मडल मे कई बार मुशीजी के पास देखा था। उन्होने 'परास पुज' नामक एक पुस्तक लिखी थी, जो हिन्दी पुस्तक एजेसी (कलकत्ता) से निकली थी। उसमे अनुप्रास वाले शब्दो का अच्छा सग्रह था। वह बहुश्रुत विद्वान् और उर्दू के अच्छे शायर थे। हिन्दी मे भी उनकी अनुप्रासमयी कविता बडी सरस होती थी। पता नही कि उनका 'कृष्ण-सुदामा' नाटक कही प्रकाशित हुआ या नही। छपने पर हिन्दी मे वह एक अनूठी चीज होता। बातचीत मे भी वह उर्दू के अच्छे-अच्छे शेर सुनाया करते थे। एक बार जोगिया रग की पोशाक मे उन्हे देखा तो वह एक सिद्ध फकीर-से जान पडे। आध्यात्मिक विषयो की चर्चा करते समय वह एक अच्छे फिलॉसफर जान पडते थे। वह खुद कहा करते थे कि थिएट्रिकल कम्पनी की नौकरी सिर्फ रोटी के लिए करनी पडती है, नही तो स्टेज-रिहर्सल के समय

कम्पनी की वेश्या अभिनेत्रिया किसी भले आदमी की इज्जत नही रहने देती, क्योकि कम्पनी के डाइरेक्टर उन्ही सुन्दरियो के इशारे पर गीत रचवाते और नाटक के दृश्यो मे हेर-फेर करवाते है।

बाबू हरिकृष्ण 'जौहर' हिन्दी के बहुत पुराने साहित्य-सेवी और यशस्वी पत्रकार थे। 'हिन्दी बगवासी' आदि कलकतिया अखबारो मे उन्होने वर्षों काम किया था। वह भी कम्पनी की नीति से सहमत नही थे। उन्होने 'मतवाला'-मडल मे यह साफ स्वीकार किया था कि कम्पनी के नाटककारो को सुरुचिपूर्ण नाटक लिखने की स्वतन्त्रता नही है। उस समय कोरिन्थिएन थिएटर मास्टर मदन नामक एक गायक की बडी धूम थी। उसके गानो और तरानो पर जनता झूमने लगती थी। वह अच्छा अभिनेता तो न था, पर गायक अच्छा था। उसके गाने थिएटर तर्ज के होते थे, जिनमे उसका मीठा गला जादू भर देता था, इसीलिए वह कम्पनी के मालिको का कृपा-पात्र था। 'जौहर' जी के समान सुप्रतिष्ठित साहित्य-महारथी के बनाये हुए गीतो मे भी वह स्वेच्छानुसार काट-छाट कराया करता था। 'जौहर' जी प्राय मुशीजी से इस बात की चर्चा किया करते थे कि कम्पनी मे जो ललितकठ गायक और कोकिलकठी सुन्दरिया है उन्ही के इशारे पर नाटककार और गीतकार को चलना पडता है। फिर भी 'जौहर' जी को बुढापे मे रोजी की चिंता तो थी ही, इसलिए एक दिन उन्होने मुशीजी से कहा कि 'जईफी के आलम मे जो सूखी रोटी और नमक नसीब है वह भी जब 'मतवाला' को पसद नही है तब मैं अपनी लेखनी को 'मतवाला'-मडल मे ही बधक रखना चाहता हू।' इतना कहते-कहते उन वृद्ध वसिष्ठ की आखे छलछला उठी। उसी समय मुशीजी ने उन्हे वचन दिया कि आज से कम्पनी के किसी भी नाटक के अभिनय पर एक शब्द भी न लिखने का 'मतवाला' दृढ सकल्प करता है। उसी दिन से 'मतवाला' ने पारसी थिएटरो का पीछा छोड दिया। बहुत दिनो के बाद जब एक बार काशी मे 'जौहर' जी से भेट हुई, तो उन्होने 'मतवाला' के उठाये हुए उस नाटक-विरोधी आंदोलन पर बडा सतोष प्रकट किया। काशी मे शहर से बाहर उनका एक अपना बगला था। उनके गजे सिर पर गोल टोपी बहुत फबती थी। उनकी बोली मे बडी मिठास थी। उन्होने आजीवन हिन्दी की सेवा की थी। हिन्दी-पत्रकारिता के इतिहास मे उनका गौरवशाली नाम अमर रहेगा।

प० तुलसीदत्त 'शैदा' पजाबी थे। वह हिन्दी के उतने अच्छे जानकार नही जान पडते थे जितने उर्दू के। वह जब कभी 'मतवाला'-मडल मे आते अपनी उर्दू-शायरी खूब सुनाते। उनकी हिन्दी-कविता का छद-बद ठीक नही जान पडता था। तब भी उनकी तुकबदी उर्दू-शायरी का पुट पाकर बडी सुहावनी हो जाती थी। वह बडे मस्तमौला और हसोड आदमी थे। अपने गीतो को खुद गाकर अदा करने मे बडे कुशल थे। चुस्त पाजामा, कलीदार अगरखा, कश्मीरी टोपी, आखो मे

सुरमा, कान मे इत्र का फाहा, जेब मे सोने की घडी और हाथ मे आबनूसी छडी —उनका मनोहर बाना था। जब वह आते थे, सफेद मगही पान और जाफरानी पत्ती जर्दा मुशीजी उनके सामने पेश कर देते थे। उनका ठहाका भी बहुत बुलन्द होता था। वह भी कपनी की नोकरी मे अपनी लाचारी का हाल बयान किया करते थे। मगर 'बेताब' जी और 'जौहर' जी के समान उन्हे जनता की रुचि और साहित्य की मर्यादा के भ्रष्ट होने की उतनी चिता नही थी जितनी अपने ऐश-आराम की जिन्दगी की। इतने पर भी वह 'मतवाला' की कम्पनी-विरोधी नीति के कायल थे। लेकिन कम्पनी के दायरे मे अपनी मजबूरियो का वर्णन करते हुए वह 'मतवाला' से बराबर पनाह मागा करते थे। कलकत्ता छोडने के बाद उनसे कभी भेट नही हुई, ओर न कही उनका पता पाया। आगा हश्र साहब से तो एक बार काशी मे महाकवि 'प्रसाद' के यहा भेट हुई थी। वह उर्दू-फारसी के प्रकाड पडित और कवि थे। उनकी जबान से उर्दू सुनने मे बडा मजा आता था। वह भडकीले कद और रोबीले चेहरे के तगडे आदमी थे। वह भी हिन्दी मे 'शैदा' जी की तरह अच्छी तुकबदी कर लेते थे। पारसी-रगमच को उनके नाटको ने काफी जीवनदान किया।

कलकत्ता के पारसी-रगमच पर जो अभिनेत्रिया काम करती थी उनसे कही अच्छा बगला-रगमच की अभिनेत्रिया कला-प्रदर्शन करती थी। यद्यपि उन दिनो हिन्दी और बगला रगमचो पर कई वेश्याए भी अभिनय करती थी, तथापि बगाली अभिनेत्रियो में कई सराहनीय विशेषताए थी। बगीय-रगमच की अभिनेत्रियो मे कृत्रिम और मोहक भाव-भगिमा नही होती थी। उनके स्वाभाविक अभिनय को देखकर यह कोई नही कह सकता था कि वे नाच-गान का पेशा करनेवाली बाजारू स्त्रिया है। वे थिएटर कम्पनियो मे नौकरी तो करती थी पर वे जिस नाटक की पात्री होती थी उसकी मर्यादा का ध्यान रखती थी, जिससे यह भान होता था कि उनके मन मे भी बगला-साहित्य और बगला-रगमच की प्रतिष्ठा का ध्यान अवश्य है। किंतु पारसी-रगमच की अभिनेत्रिया प्राय दर्शकवृन्द पर अपनी सुन्दरता और अग-भगी की मोहिनी डालने मे ही तत्पर दीखती थी। उस समय सुना जाता था कि धनी घरानो के बहुतेरे लाडले नौ जवान उनके शिकार हो चुके है। वास्तव मे नाटक का उद्देश्य तो मनोरजन के साथ-साथ समाज का सुधार और जनता के भावो तथा विचारो को उन्नत करना है। किंतु नाटकाभिनय का पेशा करनेवाली कम्पनियों ने नाटक के मुख्य उद्देश्य का निष्ठुरतापूर्वक हनन कर डाला था। उस युग मे पारसी कम्पनियो ने नाटक-प्रदर्शन द्वारा समाज को पथ-भ्रष्ट किया और आज के युग मे वही काम सिनेमा कम्पनिया कर रही है। यह सर्वनाशी तमाशा खुली आंखो हमारी अपनी सरकार भी देखती है और हमारे देश की नेता-मडली

भी। किंतु आज भी हिन्दी-कम्पनियो से बगला और मराठी की कम्पनिया कही अच्छी है।

उस समय कलकत्ता मे जो सार्वजनिक नाट्य-समितिया और नाट्य-परिषदे थी, वे भी पारसी रगमच के प्रभाव से बच नही सकी थी। किंतु बाबू रामलाल बर्मन की हिन्दी-नाट्य-समिति और प० माधव शुक्ल के हिन्दी-नाट्य-परिषद् के जो अभिनय होते थे उन पर साहित्यिक छाप काफी रहती थी। इन दोनो सार्वजनिक नाटक-मडलियो मे प्रतिद्वन्द्विता रहती थी और ये ऐसी चेष्टा करती थी कि इनके अभिनय पर काफी साहित्यिक रग चढा दीख पडे। हिन्दी-नाट्य-परिषद् का कार्यालय उस समय सिन्दूरिया पट्टी के नुक्कड पर था और हिन्दी-नाट्य-समिति कार्यालय अपर चितपुर रोड मे बाबू रामलाल बर्मन के कार्यालय के समीप ही था। उसी मे मुशी भृगुनाथ लाल सगीताचार्य रहते थे। वह गाजीपुर जिले के निवासी थे। उनके पास मैंने सगीतशास्त्र का एक हस्तलिखित हिन्दी-ग्रन्थ देखा था। उसमे गीतो की स्वरलिपिया भी दी गई थी। मुशीजी उस विशाल ग्रथ को छपवाना चाहते थे, पर उनकी अभिलाषा पूरी नही हुई। फिर ग्रथ का पता नही चला। यदि वह प्रकाशित हो पाता तो निश्चय ही हिन्दी मे सगीत-विद्या का एक अनुपम ग्रथ होता। मुशीजी बहुत वृद्ध थे, इसलिए वृद्धावस्था की कामना के साथ उस ग्रथ का भी लोप हो गया। बाबू रामलाल बर्मन भी उस ग्रथ के प्रकाशन की बात सोचते-सोचते चल बसे। उनकी इच्छा कलकत्ता मे एक हिन्दी-रंगमच स्थापित करने की भी थी। एक बार प० जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी के घर प० चन्द्रशेखर पाठक के उद्योग से कुछ नाटक-प्रेमी साहित्यिको का बटोर हुआ था। उसमे वर्माजी और शुक्लजी भी थे। उन्ही दिनो चतुर्वेदीजी का 'मधुर मुरली' नामक नाटक और प० ईश्वरीप्रसाद शर्मा का 'दुरगी दुनिया' नामक नाटक प्रकाशित हुआ था। वे लोग हिन्दी-रगमच की स्थापना के लिए कुछ दिन बहुत कार्य-तत्पर रहे। किंतु वे सब-के-सब कुछ ही दिनो के बाद इस संसार को छोड गए और हिन्दी रगमच की स्थापना का उद्योग जहा-का-तहा रह गया।

पूज्य निरालाजी

विवेकानन्द-सोसाइटी (कलकत्ता) से जब हिन्दी मासिक 'समन्वय' निकलने का निश्चय हुआ तब उसके योग्य एक सम्पादक की खोज मे सोसाइटी के विद्वान् सन्यासी स्वामी माधवानन्द सीधे आचार्य द्विवेदीजी के पास पहुचे। द्विवेदी ने ही निरालाजी को चुनकर सोसाइटी मे भेजा।

कहते हैं, महात्मा गांधी ने नेहरू-सा नगीना चुना था। महापुरुष सचमुच सच्चे पारखी होते हैं। द्विवेदीजी ने निराला-सा नगीना परखा। प्रतिभा की जो

परख उन्होंने की, उसका लोहा कौन न मानेगा ? निरालाजी को पाकर सोसाइटी धन्य हुई। स्वामी माधवानन्दजी के सामने ज्यो-ज्यो निरालाजी का जौहर खुलता गया, त्यो-त्यो वह द्विवेदीजी की सौपी हुई थाती को अनमोल रतन की तरह जुगाने लगे।

'मतवाला'-मण्डल के मकान मे ही उक्त सोसाइटी भी थी, मैने स्वय देखा था कि स्वामीजी बराबर निरालाजी की सेवा और सुख-सुविधा का ध्यान रखते थे। यहां तक कि वह सदा निरालाजी का मुह जोहते रहते थे। निरालाजी का शील-सौजन्य ही ऐसा था कि एक बार जिसने उस पारस को परखा वह सोना होकर रहा। 'मतवाला'-सम्पादक श्री महादेवप्रसाद सेठ का जब सम्पर्क हुआ, तब वह निरालाजी के हाथो बिक-से गए। उनके समान निराला-भक्त आज तक कोई हुआ ही नही। यदि वह जीवित रहते तो निरालाजी को कभी कोई विक्षिप्त नही कहने पाता।

सोसाइटी के अन्य सन्यासी लोग भी निरालाजी का बडा सम्मान करते थे। वे सभी बगाली थे और बगला भाषा तो निरालाजी के लिए मातृभाषा के समान ही थी। उन विद्वान् सन्यासियो के साथ दार्शनिक बातचीत मे निरालाजी ही वजनदार निकलते थे। स्वामी वीरेश्वरानन्दजी ने एक बार उनकी विलक्षण तर्क-शक्ति पर विस्मित होकर कहा था, 'एमन की मानबेर मेधा ?'

'मतवाला'-सम्पादक सेठजी कभी-कभी कोई बात छेडकर बहस का मजा लेने के लिए मुशी नवजादिकलाल श्रीवास्तव और निरालाजी की को भिडा देते थे। मुशीजी तो सचमुच मुशी थे, मगर निरालाजी की सरस्वती जब मुखर होती थी तब उस विवाद का दृश्य देखने योग्य होता था। निरालाजी को मुशीजी भी इसीलिए उत्तेजित करते जाते थे कि अधिक-से-अधिक उनकी वाग्विदग्धता का आनन्द लिया जा सके। निरालाजी की तार्किकता की तारीफ यह थी कि उसमे कही से असयम नही आ पाता था। उनकी स्मृति-शक्ति और युक्तियुक्त बात का कायल होना ही पडता था।

'मतवाला' मे निरालाजी की कविता तो बराबर छपती ही थी, समालोचना भी वही लिखते थे, पर उसमे अपना नाम देते थे—गरगजसिह वर्मा। उन्होने 'सरस्वती' पत्रिका मे प्रकाशित रचनाओ पर कुछ अको मे लगातार लिखा। उस समय भी आदरणीय बख्शीजी ही सम्पादक थे। आचार्य द्विवेदी की इतनी अधिक ममता 'सरस्वती' पर थी कि उन्होंने रोषवश 'मतवाला' के उन अको का विधिवत् सम्पादन करके डाक से भेज दिया। द्विवेदीजी ने उन अंको को आद्योपान्त रग डाला था। उन्हे देखकर निरालाजी इतना अधिक हसे कि उतनी देर तक उन्हे अविराम हंसते मैंने कभी नही देखा। उस समय उनकी बैसवाडी बोली मे द्विवेदीजी की स्तुति सुनने योग्य थी।

निरालाजी कुछ दिन काशी मे रहे थे। मैं भी उन दिनो वही था। 'प्रसाद'जी के साथ खूब बैठक होती थी। मध्य गगा मे बजरे पर कविता-पाठ भी हुआ था। निरालाजी ने हारमोनियम बजाकर 'श्री रामचन्द्र कृपालु भज मन' पद गाया था। 'प्रसाद'जी ने परोक्ष मे उनकी बडी प्रशसा की थी। साहित्य और सगीत दोनो शास्त्रो मे उनकी असाधारण गति देखकर 'प्रसाद'जी बहुत प्रभावित हुए थे। 'प्रसाद' जी राग-द्वेषरहित व्यक्ति थे। उन्होने उसी समय निरालाजी को कई बार तौलकर कहा था कि हिन्दी को ईश्वर की देन हैं निराला। वह भविष्यवाणी आज प्रत्यक्ष है।

'पचवटी' कविता का पाठ करते समय निरालाजी की भावभगी देखकर मुशीजी को बगीय रगमच के कुशल अभिनेताओ की भगिमा याद हो आती थी। निरालाजी की नाट्यकला भी जिसने कभी देखी है उसकी आखो मे आज भी उनका कौशल कौधता होगा।

अखिल भारतीय हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन का महाधिवेशन कलकत्ता विश्व-विद्यालय के सिनेट-हॉल मे हुआ था। कविवर रत्नाकरजी अध्यक्ष थे। हॉल से बाहर निकलकर निरालाजी सामने के पार्क (वेलिंग्डन स्क्वायर) मे खडे हो गए। कुरता उतार लिया। छाती तानकर भुजाओ की मासपेशियों को उभारने और तौलने लगे। सिर पर जुल्फे झूम गई। चारो ओर से तमाशा देखनेवाले आ जुटे। शक्ति और सौन्दर्य का वह पुज, वह निराला बस निराला ही था।

निरालाजी अपनी जवानी मे कुश्ती भी लड़े थे। 'मतवाला'-कार्यालय मे भी वह धूल लगाकर कसरत किया करते थे। उक्त मुशीजी जब अपने घर (जिला बलिया) जाते थे तब उनके लिए गगा की चिकनी मिट्टी लाया करते थे। उस समय उनके सिर पर काली-काली जुल्फे थी। सेठजी उनके लिए केश-रजन और जवाकुसुम तेल लगाकर रखे रहते थे। इतना ही नही, उनके जूते मे रोज पालिश भी किया करते थे। जब वह बाहर घूमने निकलते, सेठजी उनकी जेब मे रुपये-पैसे डाल देते। किन्तु लौटने पर एक पैसा भी उनके पास बचा न रहता और कोई चीज भी खरीदकर नही लाते। भिखारी भी उन्हे पहचान गए थे, क्योकि वैसा अवढरदानी कलकत्ता-भर मे कोई मिला न था। जेब मे हाथ पडने पर जो कुछ अनायास निकल आता वह आगे पसरे हाथ पर बेसुधी से रखकर अपनी राह चले जाते। उनके अक्खड मिजाज की थाह कभी मिलती न थी। मुशीजी प्रायः चेतावनी देते रहते थे कि हाथ सभालिए और भविष्य के लिए सचय भी कीजिए। वर्तमान का ही उन्हे ध्यान न था तो भविष्य की क्या कथा! वह तो व्यायाम के समय अपनी फूली छाती और मांसल भुजाओ की मासपेशिया ही देख-देखकर प्रसन्न होते थे, बुढापे की कल्पना उनके उत्फुल्ल मस्तिष्क मे क्यो

आती ! वह पुरुपार्थ के कवि थे । उनके तन-मन मे सदा पौरुष का तेज-ओज भरा रहता था । पहले-पहल उनकी कविता-पुस्तक 'अनामिका' निकली, तब अभिनय की भावभगी के साथ वह उसे जब सुनाने लगे, उनके पुरुषत्व का रोमाचकारी रूप सामने खडा हो गया । वह बडे कुशल और सफल अभिनेता भी थे । महिषादल (बगाल) के राजा उनके अभिनय-कौशल पर मुग्ध होकर उन्हे राजकुमार की तरह लाड़-प्यार करते रहे । किन्तु निराला किसी प्रकार के राजसी प्रलोभन के शिकार होने वाले व्यक्ति न थे । गोकुल से मथुरा चले आये तो भूले-भटके भी गोकुल की ओर रुख न किया । शौकीनी का मजा भी खूब लिया । भारतेन्दुजी की तरह अजलि मे इत्र की शीशी उडेलकर वस्त्र मे पोता और कभी मैले-कुचैले पहने ही तलहथी पर सुरती मलते बाजार की ओर नगे पाव, नगे बदन निकल गए। उन्हे इसका भान ही न था कि कल जिसने चूनदार धोती-कुरते मे देखा है वह आज फटेहाल देखेगा तो क्या कहेगा ! किसी के कुछ कहने-सुनने की परवाह उन्हे थी ही नही ।

एक बार पुष्प-प्रदर्शनी (कलकत्ता) मे सेठजी ने पाच रुपये मे खरीदकर एक सुन्दर गुलदस्ता निरालाजी के हाथ मे थमाया । जब घूम-फिरकर सब लोग कार्यालय मे आये तब पता चला कि वह गुलदस्ता प्रदर्शनी मे ही कही छोड आए, जिसके लिए उनको साथ लेकर सेठजी फिर ट्राम पर प्रदर्शनी गये, पर निरालाजी को स्मरण ही न रहा कि कहा छोडा । सेठजी ने जाडे मे उनके लिए शकरपारे की एक निहायत नफीस दुलाई बनवाई । बडे प्रेम से ढाका-मलमल खरीद लाये, बढिया रगो मे दोनो पल्ले रगवाए, रूई भी लाल-हरी रगी गयी, उस पर अबरक की ।रते जडी गयी, साटन का चौडा हाशिया चारो ओर लगा, ऊपर से घनी मुजनी भी पडी । निराला ओढकर मुसकराये भी पर एक-दो सप्ताह बाद उसे एक भिखमगे को ओढा दिया । कडाके की सर्दी मे वह मगन खुले अग उनके सामने आ गया, बस झट अपने तन से उतारकर उसकी देह पर अपने ही हाथो लपेट दिया । मैंने औचक ही देखा, तो सेठजी और मुशीजी को प्रेस मे से बुलाने दौडा । जब तक वे दोनो बाहर आये तब तक वह नकलची मगन छूमन्तर हो गया । कल्पनातीत प्रसाद पाते ही उसके पैरो मे पख लग गये । सेठजी स्वय दौड पडे, पर वह भाग्यवान क्यो मिलने लगा ! और निरालाजी ? वह खिलखिलाकर हसते ही रहे, 'क्यो आप लोग परेशान हो रहे हैं—बेचारा आराम से जाडा काटेगा !' सेठजी ने हंसकर ही कहा, 'आप धन्य हो, महाराज !'

हिन्दी-ससार मे महाकवि निराला के समान त्यागवृत्ति का कोई साहित्य-सेवी अब तक देखने मे नही आया । उनकी त्याग-भावना इतनी प्रबल थी कि जीवनभर काफी पैसे कमाकर भी फक्कड ही बने रहे । गीता के भगवद्वाक्य 'त्यागाच्छान्ति निरन्तरम्' के अनुसार उन्हे अपने त्याग-बल से ही ऐसी शान्ति

प्राप्त हो गयी थी कि सब तरह की कठिनाइयो और असुविधाओ को अविचल धैर्य और सन्तोष के साथ झेलते चले गए। प्रकाशको या पत्र-पत्रिकाओ से उनके लब्धाश का द्रव्य मिले या पुरस्कार का, सुबह्-शाम मे उड जाता था। पर उनका एक पैसा भी फालतू खर्च मे नही जाता था। आरम्भ से ही उनकी यह दशा थी। जब पहले-पहल घर से रामकृष्ण-मिशन की सेवा मे कलकत्ता आये, लगभग डेढ-दो साल तक न अपने परिवार को कुछ भेजा ओर न किसी सगे-सम्बन्धी को। उनका कुटुम्ब तो हर जगह था। विवेकानन्द सोसाइटी से हर महीने ठीक समय पर वेतन मिल जाता था। 'मतवाला'-सम्पादक श्री महादेवप्रसाद सेठ हर घडी उनकी आवश्यकताओ की पूर्ति मे दत्तचित्त रहते थे। पुस्तक-प्रणयन से भी पैसे मिल ही जाते थे। किन्तु 'वसुधैव कुटुम्बकम्' के सिद्धान्तो के लिए तो कुबेर का भण्डार भी पर्याप्त नही है।

सेठजी के साथ बाजार मे जाते थे तो सेठजी केवल उन्ही के लिए फल और मिठाई खरीद लाते थे, पर उन्हे निरालाजी रास्ते मे मिलने वाले कगालो को बाटते हुए घर पहुचते थे। अपने हाथ का सामान चुक जाने पर सेठजी के हाथ से बार-बार लेते जाते थे। सेठजी भी उनके ऐसे अनन्य पुजारी थे कि उनका मुह ताककर चुप रह जाते या कभी-कभी अनखाकर कहते कि मेरे हाथ का सब सामान आप ही ढो ले चलिए। प्राय खरीदते समय मुशी नवजादिकलाल श्रीवास्तव स्मरण करा देते थे कि नाहक इतने पैसे का सामान खरीद रहे है, आखिर निरालाजी सारी राह खैरात ही बाटते चलेगे और खाली हाथ ही घर पहुचना होगा। तब भी सेठजी निराला का मन तोड़ना नही चाहते थे। निराला की मनस्तुष्टि के सामने सेठजी पैसे को कोई महत्त्व नही देते थे। मुशीजी प्रायः मजाक मे ही कह दिया करते कि आप (सेठजी) ही निराला के बहके मन को शह दे-देकर बिगाडते जा रहे है। पर यह बात तो अवाछनीय रूप मे रास्ता भर पैसे लुटाने के खयाल से कही-सुनी जाती थी, निराला पर इसका कोई असर नही होता था। वह कभी कुछ खरीदने का आग्रह नही करते थे। उनके लिए सेठजी के मन मे जो स्वाभाविक प्यार-दुलार था, उसी को चरितार्थ करने के लिए सेठजी अपना हाथ रोक नही सकते थे। सेठजी जान-बूझकर प्यार का अत्याचार सहते थे—यदि सचमुच इसे कोई प्यार का अत्याचार कहे तो। सेठजी के प्यार पर यह निराला का अत्याचार नही था और न सेठजी के प्यार-दुलार की यह अग्नि-परीक्षा ही थी। यह तो निराला के स्वच्छन्द मन की मौज थी, जिसको सदैव तरगित देखते रहने मे ही सेठजी सन्तोष अनुभव करते थे और कभी झुझलाते भी थे तो निर्विकार हसी के साथ निराला को भी हसाते हुए ही।

निरालाजी वास्तव मे निराला ही थे। अगूर का गुच्छा या मस्कट के मीठे खजूर की पुडिया किसी भिखारी के हाथ मे देते समय हसकर कह भी देते थे कि

इसे मेरे सामने चखकर देखो तो कैसा है। जब मुशीजी टोकते थे कि उसे भरपेट चना-चबेना खाने को नकद पैसे ही क्यो नही दे देते महाराज, तब एक-दो सन्तरे उसके हाथ पर और रख देते थे, चाहे वे बेशकीमती नागपुरिया हो या सिलहट के। एक दिन एक कगले को लाल सेव देकर उसे सीख देने लगे कि इसे तू खाएगा तो तेरा चेहरा ऐसा ही सुर्ख बन जाएगा, जिस पर उसने दीनतापूर्वक हसकर कहा कि एक दिन आपकी मर्जी से यह खाने को मिल ही गया तो क्या इतने से ही मेरे सूखे बदन मे खून आ जाएगा, मालिक ! यह सुनकर निराला ने सेठजी से कहा कि इसे दो रुपये दे दीजिए, यह और भी खरीदकर खाएगा। सेठजी ने भी बिना हिचक वैसा ही किया और जब मुशीजी ने ठहाके के साथ यह कह दिया कि इतने पैसे से भी वह नया खून लाने भर सेब नही खा सकता, तब अपनी जेब से झट निकालकर एक रुपया फिर दे दिया। तब तो इधर-उधर से दौडे आते हुए मगतो को देख सेठजी उन्हे साथ खीचकर आगे बढ चले।

मुशीजी पटना सिटी के सेठ किशोरीलाल चौधरी के साबुन-तेल-फुलेल के कारखाने के मैनेजर थे और सेठजी के पुराने मित्र भी। एक बार निराला उनके कारखाने मे गए तो मुशीजी ने उन्हे वहा की बनी चीजे प्रेमोपहार-स्वरूप दी। किन्तु 'मतवाला'-मडल मे पहुचते-पहुचते सुगन्धित भूतनाथ तेल की एक शीशी ही बच पायी, साबुन की टिकिया भिखमगो के गन्दे कपडे साफ करने के लिए रास्ते मे ही बट गयी। उन्हे भिखमगे पहचान गए थे। वह भी उन्हे मैले-कुचैले कपडे पहने देखकर उनके पास ठिठककर पूछने लगे कि तुझे साबुन दे दू तो अपने कपडे तू खुद साफ कर लेगा। भला अयाचित धन किस अभागे को न सुहाता ! कई जोडे हाथ निराला के आगे फैल गए और दनादन सब पर एक-एक टिकिया चू पडी। इतना ही नही, मसालेदार तेल की बोतल भी खुलकर एक-एक की चाद पर बरसने लगी। सुगन्धित तेल की शीशी मेरी जेब मे उनकी आखो से ओझल न होती तो वह भी पुण्य लूटकर रहती। तारीफ यह कि तेल ढालकर वह सुन्दर बोतल भी एक के हवाले कर दी। इतने मे तिलकुट बेचनेवाला अपना खोमचा लिये उधर ही आ निकला और निराला ने अपनी जेब के सब पैसो से तिल की मीठी टिकडिया खरीदकर उन भुक्खडो मे बिखेरना शुरू कर दिया। मजा यह कि सब चुक जाने पर उन बेचारो की गिडगिडाहट सुनकर यह वादा भी कर दिया कि अब दूसरे किसी दिन फिर आकर तुम लोगो को प्याजी पकौडिया खिलाऊगा, जिसे सुनते ही सब-के-सब एक स्वर से उन्हे असीसने लगे।

निराला की ये कहानिया आज के युग मे उपन्यास की मनगढन्त बाते समझी जाए भले ही, पर आज जो निराला की पूजा-प्रतिष्ठा हो रही है उससे इनकी साधना स्वत सिद्ध हो रही है। पुण्य-बल के बिना कीर्ति-प्रसार कदापि नही

होता। निस्पृह त्याग से बढकर कोई पुण्य भी नही। व्यास-वचनानुसार 'परोपकाराय पुण्याय' तभी मनुष्य कर पाता है जब उसकी प्रकृति मे त्याग-वृत्ति की प्रधानता रहती है। निराला अपने त्याग का प्रदर्शन नही करते थे। कभी किसी से उसकी चर्चा तक न करते थे। यह तो उनकी सहज प्रकृति का मूलाधार था। कोई उनके सामने इस गुण की प्रशसा भी करता था तो वह मौन ही रहते थे। वह आत्मश्लाघा सुनने के अभ्यासी न थे। कभी-कभी तो कही ऐसा प्रसग छिडने पर वहा से उठकर अलग चले जाते थे। मैंने तो यहा उनके बहुत छोटे-मोटे त्यागो का उल्लेख किया है, उनकी क्षमता की सीमा से बाहर के बडे-बडे त्यागो के भी प्रसग है, जिनसे उनका सारा जीवन ही व्याप्त था। पर मेरे विचार से मानव की महत्ता को परखने मे उसके प्रतिदिन के जीवन की छोटी-से-छोटी बाते विशेष सहायक होती है। 'मतवाला' के प्रेस का मशीनमैन अचानक बहुत घायल हो गया। ट्रेडिल मे उसका समूचा आधा हाथ ही पिस गया। वह गरीब मुसलमान था। सेठजी ने दो कम्पोजिटरो के साथ उसे अस्पताल भेजा और एक को अलग उसके घर भेजा कि परिवारवालो को अस्पताल मे शीघ्र पहुचना चाहिए। लाख मना करने पर भी निराला उस कम्पोजिटर के साथ उसके घर गये, केवल इसीलिए कि उसके घर की गरीबी अपनी आखो देख आए। जब तक वह अस्पताल मे रहा, निराला उसे फूलकटरा से गुलदस्ता खरीदकर दे आते थे और बीडी के बदले सिगरेट भी। उसके घरवालो को सेठजी से अतिरिक्त सहायता और पेशगी की रकम भी दिलवाई। उस आदमी ने लौटकर बतलाया कि आज निरालाजी उसके बूढे बाप और बीवी-बच्चो के लिए अन्न-वस्त्र की मासिक व्यवस्था भी कर आए थे। इस तरह के असख्य छोटे-बडे परोपकार उन्होने किये थे, जिनकी डायरी लिखी जा सकती है। कितने ही ऐसे काम तो किसी को मालूम भी न हो पाए है। यह कहने की आवश्यकता नही कि सहज त्याग-भावना के बिना परोपकार हो नही सकता। सर्वोपरि बात यह कि उनके परोपकार-कर्म सात्विक होते थे, क्योकि सदा निष्काम भाव से किये जाते थे।

निराला तो अपने जीते-जी ठीक-ठीक परखे ही नही गए। उनकी दीनबन्धुता को निगोडी दुनिया ने विक्षिप्तता की सज्ञा दे डाली। उनका त्याग भी स्वार्थी समाज मे उनका पागलपन ही समझा गया। पर कठोर सत्य तो यह है कि निराला ने ससार या समाज की कुत्सा पर कभी कान ही न दिए। यावज्जीवन वीतराग की तरह रहे। ऋणी भी हुए तो परहितार्थ ही। लडे-झगडे भी तो न्याय के पक्ष पर अडिग रहकर। अपनी पीर गोई और पराई पीर सजोई। स्वाभिमान के सर्वोच्च शिखर पर बैठे रहकर फकीरी-बेफिक्री से ससार की ओर उपेक्षा भरी कनखियो से देखा। स्वय हलाहल के घूट पीकर दूसरो को अमृत ही पिलाते रह गए। समाज मे त्यागी और साहित्य मे बागी इस युग मे दूसरा ऐसा हुआ ही

कौन ?

परमात्मा ने उनकी मनोवृत्ति और प्रवृत्ति समझकर ही उन्हे सबसे पहले श्री रामकृष्ण-मिशन की सेवा मे नियुक्त किया था और उन्होने भी 'यथा नियुक्तोऽस्मि तथा करोमि' को अक्षरश चरितार्थ किया। परमहस श्री रामकृष्णदेव के बेलूड-मठ (कलकत्ता) मे प्रतिवर्ष परमहसजी और स्वामी विवेकानन्दजी की जयन्तियो तथा पुण्यस्मृति-तिथियो पर वहा दरिद्रनारायण को विधिवत् भोजन कराया जाता था। मिशन की शाखा विवेकानन्द-सोसाइटी के विद्वान् सन्यासियो के साथ 'समन्वय' सम्पादक निरालाजी भी जाया करते थे। उस विराट आयोजन के कार्यक्रमो मे निराला केवल दरिद्रनारायण को भोज्य पदार्थ वितरित करने का ही काम अपने जिम्मे लेते थे। कगालो के खिलाने मे उनकी गहरी लगन देख लोग मुग्ध हो रहते थे। वहा अधिकतर बगीय भद्र समाज ही जुटता था और निराला मातृभाषा की तरह बगला भाषा बोलकर समागत समाज को आप्यायित कर देते थे। वह बगीय समाज मे दूध-मिसरी की तरह घुल-मिल जाते थे। स्वाभाविक रीति से बगला बोलने वाला व्यक्ति शीघ्र ही बगाली बन्धुओ का आत्मीय बन जाता है। अच्छी अग्रेजी और 'खाटी' बगला बोलने के कारण ही वहा के समाज मे भी वह पूर्णत समादृत थे। बगभाषा के साहित्य मे उनकी पैठ किसी विचक्षण बगाली से भी कम न थी। उस समय के लोग आग्रहपूर्वक उनसे कवीन्द्र रवीन्द्र के गीत गवाकर सुनते और तृप्त होते थे।

भगवदविभूतिया उन्हे खूब मिली थी। आकर्षक रूप, लम्बे-तगडे डीलडौल का शरीर, व्यायाम के अभ्यास से सुगठित स्वास्थ्य, विलक्षण मेधाशक्ति, ललित मनहर कण्ठ, दयार्द्र हृदय, चिन्तनशील मस्तिष्क, उद्भावना-शक्ति-सम्पन्न बुद्धि —सब कुछ भगवान् ने उन्हे भरपूर दिया था। बडी-बडी सुहावनी-लुभावनी आखे, दमकती दाडिम-दशनावली, घुघराली अलकावली, लघु मुखविवर, पतले-पतले अधर, पतली-पतली बाकी अगुलिया, प्रशस्त वक्षस्थल, हर तरह सिरजनहार ने उन्हे सवारा था। जिस मण्डली मे बैठ जाते थे, उसे अपने व्यक्तित्व से जगमगा देते थे। उनकी जुल्फे टकटकी बाध लेती थी। कविता-पाठ की भावभगी श्रोताओ के हृद्गत भावो को उद्दीप्त कर देती थी। 'मतवाला'-मडल (कलकत्ता) मे एक बार एक धनी-मानी बगीय परिवार से उनके विवाह का प्रस्ताव भी आया था। पर वह तो एकपत्नीव्रत थे। उनके पास तो युवती छात्राए भी साहित्यिक उद्देश्य से आती थी। छात्र भी आते थे। पर वह किसी छात्रा से वार्तालाप करते समय आखे बराबर नही करते थे। कामिनी-काञ्चन का त्याग करके वह गृहस्थाश्रम मे ही सन्यासी बने रहे। यदि उन दिनो मोहक पदार्थों के प्रति उनके मन मे आसक्ति होती तो उन्हे हस्तगत करनेवाले गुण उनमे पर्याप्त थे। किन्तु सासारिक सुख-भोगो की वासनाए उनकी पत्नी के साथ ही विलीन हो गयी। कचन की

कामना कभी उनके भीतर झाकने भी न पायी। द्रव्य के लिए उनका करतल प्रवाह-क्षेत्र मात्र था। द्रव्य-मचय उनका ध्येय कभी रहा ही नही। धन उनके पास अतिथि के समान अल्पावधि तक ही टिकने आता था। अगर हजार आया तो डेढ हजार के खर्च का चिट्ठा पहले से तैयार है। अभावग्रस्तो के अभाव उनके दिमाग के दायरे मे मडराते रहते थे। भरपेट खाने के लिए तरसने वाले निकौडिये से लेकर मेहनत-मशक्कत करने वाले मजदूर तक उनकी निगाहो मे बसे हुए थे और जब कभी उनके मन-माफिक अर्थलाभ हो जाता वह तुरन्त उन मरभुक्खो की ओर दौड जाते। 'जिनके लहहि न मगन नाही, ते नर बर थोरे जग माही'—उन्ही थोडे लोगो मे वह भी एक थे।

'मतवाला'-मडल मे भिखमगी की समस्या पर और अखबारो मे छपे इस विषय के समाचारो या लेखो पर जब कभी बातचीत होती थी, यदि निराला वहा उपस्थित रहते, बडे आवेश मे वह अपने युक्तियुक्त तर्क उपस्थित करते। वह देश मे फैली हुई आर्थिक विपमता पर शब्दास्त्र-मधान करते समय उग्रतम साम्यवादी प्रतीत होते थे। यद्यपि हृष्ट-पुष्ट भिक्षुको के प्रति उनकी सहानुभूति भी उन्मुख नही थी, तथापि असमर्थ या अपाहिज भिखारियो की दयनीय दशा के लिए वह शासन और समाज की ही तीव्र आलोचना किया करते थे। लगडे, लूले, अधे, कोढी और निकम्मे दीन-दुखियो पर ही उनकी दृष्टि अटकती थी, फिर तो वह अपनी वास्तविक परिस्थिति को बिलकुल भूल जाते थे। कलकत्ता-सदृश महानगर की सडको की दोनो पटरियो पर वह ढूढते फिरते थे कि वस्तुत कौन बेचारा कैसी दुर्गति मे है। उनका अधिकाश अवकाशकाल दीनो की दुनिया मे ही बीतता था। वहा फुटपाथो पर भिखारियो के सिवा बहुतेरे निराश्रित गरीब और कुली-कबाडी भी रात मे पडे रहते है। उनके लिए बीडी, मूढी, भूजा, चना, मूगफली आदि खरीदकर वितरण करनेवाला धनकुबेरो की उस महानगरी मे निराला के सिवा दूसरा कोई न देखा गया। बडे-बडे सेठ धनीधोरी रात मे भी उन पटरियो पर से गुजरते थे, पर कही-कही कभी दो-चार पैसे फेकनेवाले भले ही दीख जाए, निराला की तरह उन दीनो से आत्मीयता स्थापित करनेवाले ढूढे भी नही मिल सकते थे। उस महानगर मे नाना प्रकार के मनोरजन के साधन है। क्या उन्हे उपलब्ध करने के लिए निराला को पैसो की कमी थी ? किन्तु उनका मनोरजन तो दीन-दुखियो को सुख पहुचाने मे ही होता था। कोई मित्र उन्हे सिनेमा-थिएटर भले ही ले जाए, उनके पैसे तो भूखे-रूखे गरीबो की सेवा मे ही लगने पर अपनी सार्थकता समझते थे।

निराला केवल शहरो या बाजारो और स्टेशनो के अन्दर मिलने वाले दीन-जनो पर ही ध्यान नही देते थे, अपने गाव और पडोस के गरीब गृहस्थो की सहायता का भी ध्यान रखते थे। उनके गाव और जिले के भी कई आदमी

उनकी उदारता या दानशीलता की कहानी सुनकर उनके पास आ धमकते थे। अतिथि भी उनके विचित्र भाति के होते थे। परिचितो और कुटुम्बियो के अतिरिक्त ऐसे लोग भी कलकत्ता तक दौड लगाकर उनका पीछा करते थे, जो उनसे किसी-न-किसी प्रकार का लगाव जोडकर उनके शील-सौजन्य से लाभ ऐंठ लेते थे। भोजन के सिवा कपडे-जूते की माग तो होती ही थी, चलते समय राह-खर्च की फरमाइश भी होती थी। देखनेवालो को भले ही यह नागवार मालूम होता हो, पर निराला की शान्ति भग नही होती थी। उनकी शान्ति तो तभी भग होती थी जब किसी जरूरतमद की मदद नही कर सकते थे। किसी आदमी को अपने से अनुचित लाभ उठाते देखकर भी उनके धैर्य को ठेस नही लगती थी। दूसरो के अभाव को अपने ऊपर ओढ लेने से भी उनका शान्त-गम्भीर हृदय कभी विचलित होता नही देखा गया। अगर कोई कहता भी था कि आप इतना खटराग क्यो पालते है, ऐसे पर-मुण्डे फलाहार करनेवालो को टरकाया कीजिए, तो मुसकराकर ही रह जाते थे। उनको भला सीख कौन दे सकता था! वह तो स्वय ही नीति और धर्म के मर्मज्ञ थे।

यह विशेषता निराला मे ही देखी गयी कि अपनी आवश्यकताओ को भुलाकर दूसरो की आवश्यकताओ को दूर करने के लिए परेशानिया और कठिनाइया झेलने मे अधीर नही होते थे। उन्हे अपने खाने-पीने या कपडे-लत्ते की कभी चिन्ता ही नही हुई। अच्छा कपडा-जूता भी कुछ ही दिनो तक उनके पास टिकता था। तोशक-रजाई तक किसी को दे डालने मे तनिक हिचक न होती थी। न उनके पास कुञ्जी रह पाती थी और न कभी कपडे या रुपये-पैसे रखने के लिए कोई ट्रक या बक्स ही खरीदा। गद्दे या लिहाफ की परवाह न करके जैसे-तैसे सो रहे और उतने ही मे आराम से दिन गुजार लिये। सुन्दर पलग या शानदार कुरसी-मेज की कभी कामना ही नही की। जिस कमरे मे रहना है उसकी सजावट का कभी सपना भी न देखा। यद्यपि उन्होने 'मतवाला'-सम्पादक के अविरल स्नेह के प्रसाद-स्वरूप अच्छे-से-अच्छे कपडे और तेल-फुलेल तथा खानपान का सुख अच्छी तरह भोग लिया, तथापि अपनी कमाई के पैसो से इसी भोग-विलास की सामग्री नही बेसाही। कलकत्ता छोडने पर जब वह लखनऊ और प्रयाग मे रहे, तब भी वह मस्तमौला फकीर की तरह ही जीवन-यापन करते रहे। जहा कही रहे, आस-पास के दूकानदारो को मुहमागा दाम देकर निहाल कर दिया। इक्के-तागेवाले भी उनकी दरियादिली से परिचित थे और उन्हे देखते ही दूसरे के साथ तय किया हुआ भाडा छोडकर उन्हे साग्रह बिठा लेते थे। अडोस-पडोस के गरीब उनसे इतने अधिक उपकृत रहते थे कि उन्हें राह चलते देख असीसने लगते थे। याचको के लिए तो वह कल्पतरु थे ही, अपने मित्रो के लिए भी मुक्तहस्त दोस्त-परस्त थे। मित्रों, परिचितो और अतिथियो के स्वागत-

सत्कार का वैसा हौसला अब देखने मे नही आ रहा ।

बहुत-से लोगो को निराला-सम्बन्धी ये बाते अतिरजित जान पडेगी । पर मैं तो निराला के साथ वर्षों रहकर उनके प्रतिदिन के जीवनक्रम को बहुत ही निकट से देख चुका हू और उनके स्नेह-भाजन के रूप मे उनका प्रगाढ स्नेह भी पाता रहा हू । किन्तु आधुनिक युग मे ऐसी बातो को अतिशयोक्ति समझनेवाले सज्जन यह सोचे तो सही कि भूखे को देखते ही अपने आगे परसी हुई थाली उसके सामने रख देनेवाले कितने महानुभाव आज के समाज को विभूषित करते है ! निराला खुद मामूली कपडो मे गुजर करके गरीब को अपने नये कपडे दे डालते थे और जाडे मे भी पुराने कम्बल के सहारे जिन्दगी बसर करके अपना नया लिहाफ तक गरीब को उढा देते थे । इस तरह के आचरण के लोग साहित्य-जगत् मे तो नही देखे गए है । जिस व्यक्ति मे अन्यान्य लोगो से जो अधिक विशिष्ट गुण हो उनका स्मरण न करना-कराना ईश्वर की दी हुई वाणी को व्यर्थ करना है ।

उनके त्याग की कहानिया तो अनन्त हैं । उसकी डायरी लिखी जा सकती है । 'मतवाला' प्रति शनिवार को निकलता था । उस दिन प्रात काल ही कई बगाली युवक स्नातक अपनी साइकिल लेकर पहुच जाते थे । वे प्रति सप्ताह अखबार बेचकर अपना कमीशन ले लेते थे । 'मतवाला' की काफी धूप और धाक थी । गरीब छात्रो को उसकी बिक्री से पर्याप्त सहायता मिल जाती थी । एक दिन एक अत्यन्त दीन-मलीन छात्र से निरालाजी हालचाल पूछने लगे । उसने बतलाया कि भाडे की साइकिल पर अखबार बेचता हू । उसे फटेहाल देख ऐसे द्रवित हुए कि डेढ सौ रुपये की नयी साइकिल तो खरीद ही दी, उसके लिए डबल सूट भी बनवा दिया और कहा कि स्वावलम्बन का सहारा मत छोडो तथा पुस्तके खरीदने के लिए पैसे मुझसे लेते जाओ । 'मतवाला'-सम्पादक को यह बात मालूम हुई तो उन्होंने निरालाजी से पूछा कि दो-ढाई सौ रुपये इस समय कहा से आपको मिल गए । निरालाजी ने हसकर टाल दिया । फिर पता चला कि उन्होंने श्री महादेवप्रसाद झुनझुनवाला (पुस्तक-प्रकाशक, बड़तल्ला) से एक पुस्तक लिखने का वचन देकर पेशगी ऋण लिया है ।

'मतवाला' कार्यालय का दरबान गोरखपुर-बस्ती की ओर का रहने वाला एक बडा खूबसूरत नौजवान था । वह निरालाजी को 'गुरुजी' कहा करता था । उसकी शादी ठीक हुई तो उसने उनसे निवेदन किया कि मेरी बरात मे अवश्य चलिए । किन्तु उसकी शादी के ऐन मौके पर निरालाजी का भतीजा, जिसे वह 'बडकौना' कहा करते थे, बीमार हो गया । तब भी उन्होंने रेशमी साड़ी, मखमली कुर्ती, सोने का इयर-रिंग (कर्णाभरण), इत्र-फुलेल आदि खरीदकर उसे दस रुपये नेवते के साथ दे दिया । यह काम उन्होंने बिलकुल गुपचुप किया । जब वह शादी के बाद लौटा, तब यह रहस्य खुला । वह अपने ऐसे गुप्त उपकारो की कभी कही

चर्चा तक न करते थे। उनकी कमाई के अधिकाश पैसे मौन भाव से परोपकार मे ही खर्च होते थे।

सुहृद्-सघ (मुजफ्फरपुर) के वार्षिकोत्सव से लखनऊ लौटते समय मुझसे मिलने के लिए बीच मे छपरा उतरे तो रिक्शेवाले की फटी गजी देख उससे हाल-चाल पूछने लगे और एक नयी गजी तथा एक नया अगोछा खरीदकर अपने सामने ही फटी गजी निकलवाई और नयी पहनाई। वह बेचारा रोता हुआ उनके चरणो पर लोटने लगा। ऐसे उपकार वह किया करते थे।

निराला अपने गुरुजनो के प्रति जैसे शिष्ट थे वैसे ही स्वाभिमानी और त्यागी भी थे। जिस प्रकार वह स्वय किसी आदरणीय व्यक्ति का सम्मान करते थे उसी प्रकार वह उस व्यक्ति से भी सम्मान पाना चाहते थे। एक बार वह एक साहित्यिक सभा (कलकत्ता) मे गए तो उसके सभापति ने उठकर उनका स्वागत नही किया। मच पर चढ तो गए, पर क्षण-भर खडे ही रहकर नीचे उतर आए। तब भी सभापति ने उन्हे नही रोका-टोका। 'मतवाला'-सम्पादक उनका रुख समझ उनके पीछे लग गए। किन्तु निरालाजी बाहर आते ही टैक्सी पर आगे निकल गये।

वही एक कवि-सम्मेलन मे कवियो की जो नामावली सुनाई गई उसके अन्त मे उनका नाम था ताकि श्रोता अन्त तक बैठे रहे। परन्तु नामावली के आरम्भ मे ही अपना नाम न सुनकर वह उठकर चल पडे। हम साथियो ने रोकना चाहा तो कहने लगे कि मै कविता चाहे अन्त मे ही पढता, पर नामावली मे सबसे नीचे मेरा नाम क्यो दिया गया और मुझसे पूछा भी न गया।

आखिर चले ही गए। उनका स्वाभिमान बडा दुलार चाहता था। उसका नाज उठाना सबके वश का न था।

मै नवम्बर, १९६० मे उन्हे देखने प्रयाग गया था तो २४ नवम्बर को त्रिवेणी-स्नान के समय देखा कि एक चमचमाती 'बस' पर बम्बई से प्रसिद्ध अभिनेता श्री राजकपूर और कुछ चलचित्र-तारिकाए आयी थी। हजारो दर्शको की अपार भीड थी। 'गगा-जमुना' के देश का चित्र बनने वाला था[1]। मैने निरालाजी के पास जाकर उस दृश्य का वर्णन किया। सुनकर कहने लगे कि राजकपूर के पिता पृथ्वीराजजी जब कभी प्रयाग आये तब मेरे पास अवश्य ही आये, पर राजकपूर अब तक नही आया। ऐसा उनका मिजाज शुरू से था।

'मतवाला'-मडल के मुशी नवजादिकलाल श्रीवास्तव के साथ वह एक दिन पडित नारायणप्रसाद 'बेताब' से मिलने गये। बेताबजी नामी नाटककार थे।

---

१ 'जिस देश मे गगा बहती है' शीर्षक फिल्म।—स०

उन्होने अपने निवास-स्थान पर एक नाट्य-गोष्ठी का आयोजन किया। उसमे निरालाजी को भी आमत्रित किया। पर हम लोगो के बहुत आग्रह पर भी वह नही गये। बोले कि मैं पहले-पहल उनके घर जाकर उनसे मिला और आज तक वह मुझसे मिलने मेरे पास नही आये। यदि उन्हे अवकाश नही तो आज मुझे भी नही है। ऐसे असख्य प्रसग हैं जो उनके आत्माभिमान के गौरव-शिखर को दूर से ही इगित करते है।

निरालाजी आचार्य द्विवेदी के कृपापात्र ही नही, स्नेह-भाजन भी थे। सबसे पहले द्विवेदीजी ने ही उनकी मेधाशक्ति को परखा। द्विवेदीजी के हार्दिक अशीर्वाद के साथ ही वह हिन्दी के साहित्य-क्षेत्र मे अवतीर्ण हुए थे। इस बात को वह स्वय मुक्तकठ से स्वीकार करते थे।

जब वह 'मतवाला' मे 'गरगजसिंह वर्मा' के कल्पित नाम से अन्य पत्र-पत्रिकाओ के साथ 'सरस्वती' की भी आलोचना करते थे, तब द्विवेदीजी को इसका पता न था कि निराला ही आलोचना लिखा करते है। 'सरस्वती' की आलोचना जब उन्हे असह्य हो उठी तब जितने अको मे आलोचना छपी थी सबको आद्यन्त सशोधित करके भेज दिया और लिखा कि दूसरे का छिद्रान्वेषण करने से पहले अपनी ओर देख लेना चाहिए। द्विवेदीजी ने पेंसिल से ही सब अको को आपाद-मस्तक काट-छाटकर रजिस्ट्री से भेजा था। निरालाजी उस समय बहुत देर तक हसते-हसते थक गए और उस दिन से आलोचना के लिए कभी 'सरस्वती' को हाथ मे न लिया। उनका आग्रह था कि आचार्य की लेखनी मे शोधे गए पृष्ठ प्रकाशित कर दिए जाए, पर 'मतवाला'-सम्पादक ने उन पृष्ठो को तिजोरी मे सदा के लिए कैद कर दिया। यदि वे पृष्ठ आज मिल सकते तो अनमोल समझे जाते।

उनके ध्वन्यात्मक विनोद भी नही भूलते। मेरा तीसरा विवाह हुआ तो मेरी धर्मपत्नी को देखने काशी आये। भाई उग्रजी पहले ही आकर देख गए थे। देखकर बहुत प्रसन्न हुए। मैं कालभैरव की चौमुहानी के पास रहता था। वहा बूढा महादेव मलाईवाला बडा नामी था। भोजन के समय पूआ-पूरी और खीर के साथ वह गाढी मलाई भी थी। मैने कहा कि महादेव की मलाई की तारीफ यह है कि उसमे उगली नही गडती। हसकर बोले, 'अच्छा तो अपने नये अनुभव के अनुसार किसी दूसरी ऐसी चीज का नाम बतलाइए जिसमे उगली न गडती हो और जिसका स्वाद भी ऐसा ही आनन्ददायक हो।' मेरी देहाती पत्नी इस विनोद को न समझ सकी, पर हम दोनो खूब हसे। किन्तु जब मैंने कहा कि पूरी और शाक ही अधिक खा रहे हैं, पूआ खीर-मलाई भी माग-मागकर खाइए, तब फिर हसकर कहने लगे कि मैं भोजन के स्वाद का आनन्द लेने मे उकताता नही और रसीली वस्तु का आनन्द रसे-रसे लेने से ही तृप्ति होती है। मैं हसने लगा और मेरी पत्नी झट वहा से उठकर चौके मे चली गई, तब उनका भी हास्य उस स्थान

को मुखरित करने लगा। उनके स्नेह की स्मृति बहुत सालती है।

उनकी सेवा-भावना का तो कहना ही क्या! 'मतवाला' के प्रथम कार्यालय (२३ शकर घोष लेन) के पिछवाडे विद्यासागर कॉलेज था। उसकी एक सभा मे हम लोग जा रहे थे। कार्नवालिस स्ट्रीट के फुटपाथ पर आर्यसमाज मन्दिर के सामने एक कुत्ता कराहता पडा था। उसकी पीठ पर एक पका घाव था। देखते-देखते उसके पास बैठ गए। सभा का समय हो गया था। पर वह झट उठकर सामने के दवाखाने से मरहम की डिबिया खरीद लाये, अपने रूमाल से घाव पोछकर फेक दिया और सारा मरहम उसके घावो पर लेप दिया। उसके बाद ही नल पर हाथ धोकर सभा मे गये। मुशीजी ने सभा से लौटती बार विनोद किया कि बेचारे को कुछ खाना भी दे दीजिए, तो तुरन्त खोमचेवाले से पकौडिया लेकर कुत्ते के आगे रख दी। वह आतुरता से गपकने लगा तो खिलखिलाकर हसने लगे। ऐसी बहुतेरी बाते है जिनसे निरालाजी के करुणार्द्र हृदय का परिचय मिलता है।

मेरी दूसरी पत्नी रोग-शैया पर शोचनीय स्थिति मे पडी थी। मै वाराणसी घोष स्ट्रीट मे 'हिन्दू-पच' के सम्पादक पडित ईश्वरीप्रसाद शर्मा के साथ रहता था। 'मतवाला' की सेवा मे व्यस्त रहने से उसकी सेवा-सुश्रूषा मे कठिनाई होती थी। दोनो स्थानो के बीच काफी दूरी थी। निरालाजी ने सम्पादक और मुशीजी से कहकर मेरे सकोच करने पर भी उसको कार्यालय मे ही लाकर रखने का प्रयत्न किया। एक कमरा खाली कराया। उसके आ जाने पर चिकित्सा और सेवा मे उन्होने जो तत्परता और सहानुभूति प्रदर्शित की वह उन्ही के योग्य थी। यहा तक कि मल-मूत्र की सफाई करने मे भी तनिक न हिचके। मै हाथ जोडकर कहता कि आप ब्राह्मण होकर मुझ पर पाप लाद रहे हैं, तो कहते कि जिस सस्था (रामकृष्ण-मिशन) मे रहता हू, उसका मुख्य सिद्धान्त सेवाव्रत का पालन ही है। ऐसा आदर्श पुरुष हिन्दी मे कहा कोई है?

उनको लोग जीवन के अतिम दिनो मे अर्द्धविक्षिप्त कहने लग गए थे, पर वास्तव मे किसी प्रकार का उन्माद उनमे नही था। अपनी ही चिन्तनधारा मे सतत तल्लीन रहने के कारण वह प्राय बाह्य-ज्ञानशून्य रहा करते थे। यह उनका जन्मजात स्वभाव था। 'मतवाला' के समय से ही मैं उन्हे देखता आया कि चिन्तनशीलता के कारण सामने ही होती हुई बातचीत वह नही सुन पाते थे। कई बार सभा-सम्मेलनो मे जाकर वह लौटने पर पूछने लगते थे कि अमुक वक्ता ने क्या-क्या कहा। ऐसे विदेह चिन्तक होने से ही वह जीवन-भर स्वार्थी शोषको द्वारा चूसे गए। उन्हे यदि अपने ठगे या छले जाने का ज्ञान भी हो आता था तो वह अपने अगीकृत शील की मर्यादा का उल्लघन नही करते थे। कभी-कभी तो वह जान-बूझकर प्रत्यक्ष प्रवंचनाओ और प्रतारणाओ को हसते-हसते उपेक्षित कर देते

थे। अपनी प्रतिभा और कमाई से दूसरो को अनुचित लाभ उठाते देखकर भी वह उन लोगो के प्रति मदा सहानुभूतिशील ही बने रहे। दूसरो के लाभ और हित के लिए अपनी अर्जित द्रव्यराशि का स्वेच्छा और सन्तोप के साथ उत्सर्ग करने मे वह स्वभावत सुख का अनुभव करते थे। परोपकार करते रहने की उनकी सहज प्रकृति थी, पर कभी कही उसकी चर्चा तक न करते थे।

नवम्बर १९६० मे उनकी अस्वस्थता का विवरण बताने वाला एक छपा पर्चा मुझे प्रयाग से मिला। मैं २३ नवम्बर को उन्हे देखने के लिए प्रयाग गया। लीडर प्रेस मे भारती भडार के व्यवस्थापक पडित वाचस्पति पाठक के घर पर सामान रखकर सीधे उनके पास दारागज चला गया। मेरे साथ मेरा ज्येष्ठ पुत्र (आनन्दमूर्ति) और मेरा पाच वर्ष का पौत्र (लल्लू) भी था। मुझे अपने आगे उपस्थित देख वह अत्यन्त प्रसन्न हुए। कुशल-मगल के बाद हाल-चाल पूछकर बोले कि आप दूर की यात्रा मे थके हैं। रात हो रही है, जाकर विश्राम कीजिए और कल प्रात काल यहा आ जाइए, तब दिन-भर बातचीत होगी, भोजन भी यही मेरे साथ करना होगा। उस समय मैंने देखा कि उनके पैरो मे कुछ सूजन है। उनके एकमात्र सुपुत्र प० रामकृष्ण त्रिपाठी भी उनकी सेवा में आ गए थे। पता चला कि उत्तर प्रदेश के तत्कालीन मुख्यमत्री डॉ० सम्पूर्णानन्द और शिक्षामन्त्री प० कमलापति त्रिपाठी वहा उन्हे देखने आये थे तो विशेषादेश द्वारा रामकृष्णजी का तबादला झासी से प्रयाग करा दिया था। वह झासी मे सगीत के प्राध्यापक थे। अब प्रयाग मे आकर वह अपने पूज्य पिता की सेवा-शुश्रूषा मे हाथ बटाते थे। उनका परिवार अभी झासी मे ही था। उनकी इच्छा थी कि दारागज मे एक मकान लेकर परिवार के साथ पिताजी की सेवा करते रहे। किन्तु यह जानकर भी मुझे आश्चर्य नही हुआ कि निरालाजी स्थान-परिवर्तन करना नही चाहते। उक्त मत्रियो और डॉक्टरो की सलाह मानकर वह सरकारी अस्पताल मे जाने को भी तैयार न थे। मैंने भी उनसे निवेदन किया, पर उन्होने स्पष्ट कह दिया कि बरसो से जो मेरी देखभाल करते आ रहे हैं उनका तिरस्कार करके अन्त मे अपनी सेवा का श्रेय दूसरो को देना मुझे पसन्द नही। बाद मे भी मैंने सुना कि वह अन्त तक अस्पताल जाने को राजी न हुए। उनका यह आग्रह कुछ नया न था। जो कुछ मन मे निर्णय कर लेते थे उसमे किसी के समझाने-बुझाने पर भी हेर-फेर नही करते थे। वह दुराग्रही नही थे, पर अपने हृदय की बातो पर कान दिये रहते थे और उनका हृदय अतिशय भावुक था।

दूसरे दिन मै त्रिवेणी-स्नान कर प्रात.काल ही निरालाजी के पास पहुचा। मैं दोहरी अडी-चादर ओढे हुए था, तब भी बार-बार आग्रह करके उन्होने अपने हाथो लिहाफ ओढाया और मकान-मालकिन को बुलाकर कहा कि मूग-उडद की दाल बनाओ, चावल के साथ पूरिया भी रहे, हरी भाजी और उडद-चने की

बडिया मगाओ। साराश यह है कि भोज्य पदार्थों की पूरी तालिका बता दी। फिर छात्र-हितकारी पुस्तकमाला के सचालक वयोवृद्ध प० गणेश पाण्डेय को भी बुलाया और साथ खिलाया। कहने लगे कि अकेले भोजन करने मे आनन्द नही आता। मेरे पोते को अपनी गोद मे बिठाकर दुलराते रहे। एक सज्जन फोटो लेने आ गए तो मुझे अपनी गैया पर बगल मे बिठाकर फोटो खिचवाया। अपराह्न तीन बजे तक नयी-पुरानी बातो का क्रम चलता रहा। यहा तक कह डाला कि आपके आने से मेरा आधा रोग अच्छा हो गया। मेरा उत्साह बढा और मैंने हाथ जोडकर प्रार्थना की कि रोग-निवारण के लिए सयम और विश्राम पर विशेष ध्यान रखिए तथा बातचीत बहुत न कीजिए। पर वह बगल मे रखी 'अभिज्ञान शाकुन्तल' की पोथी लेकर चुने हुए श्लोक सुनाने और अर्थ की बारीकी सुझाने लगे। मैं उन्हे बोलने के लिए छेडने से जितना ही परहेज करता था उतना ही वह बोलते चले जाते थे। कभी कवीन्द्र रवीन्द्र की पक्तिया पढने लगते, कभी शेली और मिल्टन की कविताए मुखाग्र ही कहते जाते। मै उठकर जाने से भी लाचार था। मुशी नवजादिकलाल श्रीवास्तव ('मतवाला'-मण्डल-सदस्य) के परिवार का हाल पूछने लगे, जिसे अपने पुरस्कार के इक्कीस सौ रुपये वह दे चुके थे। प्रोफेसर नन्ददुलारे वाजपेयी और डॉक्टर रामविलास शर्मा तथा प० विनोदशकर व्यास की भी चर्चा करने लगे। जब तक मै बैठा रहा तब तक मेरे चुप्पी साधने पर भी बोलते ही रहे। मेरे निषेध करने पर भी उनकी धारा शान्त न हुई। मित्रो और स्नेहियो के प्रति उनका हृदय बराबर उत्कठित रहता था। सयम और विश्राम के लिए करबद्ध प्रार्थना करके जब मैं लीडर प्रेस लौटा तो पीछे से रिक्शा पर मकान-मालकिन के साथ वहा आ धमके। वहा वाचस्पति के अतिरिक्त 'भारत' के सहकारी सम्पादक प० विश्वम्भरनाथ जिज्जा और श्री भगवतीचरण वर्मा बैठे हुए थे। सबने विस्मय और विषाद से कहा कि आपको यहा आने का कष्ट नही करना चाहिए था, डॉक्टरो की हिदायत के मुताबिक चलने से ही स्वास्थ्य सुधरेगा। किन्तु निरालाजी एक तो स्वय बडे भारी वेदान्ती थे, दूसरे फिर ब्रह्म ने उन्हे दार्शनिक कवि भी बना दिया था, तीसरे वह ऊचे-से-ऊचे दर्जे के मस्तमौला मनमौजी भी थे, इसलिए वह सुन तो सबकी लेते थे, पर करते अपने मन की ही थे। यही उनकी स्वच्छन्द मनोवृत्ति उनके लिए घातक सिद्ध हुई। शरीर की क्षण-भगुरता और ससार की अनित्यता पर उनसे कौन शास्त्रार्थ कर सकता था! जीवन का मूल्याकन करने की शिक्षा देने योग्य उनके परिचितो और इष्ट मित्रो मे कोई न था। उनके ज्ञान की सीमा बहुत विस्तृत थी, पर उनकी प्रकृति मे जन्मजात निरकुशता थी।

निरालाजी ससार से ऐसे निस्सग रहे कि जीवन-भर फक्कडशाह बने रहे।

उनके पास न अपना कोई सन्दूक था, न ताली-कुजी थी। कपडे-लत्ते और रुपये-पैसे की मोह-ममता तो थी ही नही। कितने कपडे मिले और कितने धुले, उन्हे कुछ याद नही। दर्जी और धोबी के ईमान पर ही विश्वास रखते थे। कपडो की हिफाजत की भी फिक्र नही कर पाते थे। अपनी धुन मे मस्त रहने से फुरसत ही कहा थी! रुपये-पैसे का हिसाब-किताब रखने का अभ्यास ही नही था। तकिये के नीचे नम्बरी नोट पडे रहते। नोटो को उनके पास पडे रहने का अवकाश कहा मिलता था! पूरे चौबीस घटे तक उनके पास जो द्रव्य ठहर जाए, उसका अहोभाग्य! जो सुबह आया वह किसी तरह शाम तक रहा और जो शाम को आया वह सुबह होते-होते ठिकाने लग गया। वह दुर्व्यसनी नही थे, विषयी भी नही थे। परन्तु यारो को पता रहता था कि उनके पास रुपये आये है और वह जरूरतमन्दो के सामने इनकार नही कर सकते। उनकी मुक्तहस्तता से लाभ उठाने के लिए बहुतेरे लोग बरबस जरूरतमन्द बन जाते थे। रेशमी कुरता और रेशमी चादर भी गायब हो जाए तो उसकी खोज या चिन्ता मे तनिक भी परेशान नही होते थे। तकिया-तले कितने रुपये रखे थे और कितने खर्च होने से बच गए है, यह याद रखना उनके लिए शक्य नही था। उनके इस निस्सग स्वभाव से जो लोग परिचित थे, वे उन्हे कल्पवृक्ष ही मानते थे। कल्पवृक्ष तो वह दीन-दुखियो के थे ही, पर नकली या बनावटी दुखिया भी उनके पास पहुचकर बहती गगा मे हाथ धो लेते थे। सचमुच वह उन अन्य पुरुषो मे थे 'जिनके लहहि न मगन नाही'। कामिनी-काचन से उदासीन और विरक्त रहने वाला ही तो महापुरुष कहलाता है!

निरालाजी की रचनाओ पर विचार करने का यह अवसर नही है। पर यह तो विशेष रूप से उल्लेखनीय है कि वह भाषा के असाधारण पारखी थे। भाषा की प्रकृति, शैली, धारा और शुद्धता परखने मे उनकी दृष्टि बडी पैनी थी। 'मतवाला' मे वह 'गरगजसिंह वर्मा' के नाम से पत्र-पत्रिकाओ और नयी पुस्तको की भाषा पर आलोचनात्मक दृष्टि से विचार किया करते थे। शब्दो के चिन्त्य प्रयोगो पर वह हमेशा ध्यान रखते थे। कविता या गद्य की कोई पुस्तक या रचना पढ चुकने के बाद उसकी अशुद्धियो तथा भाषा-भाव-विषयक असगतियो पर बडी मार्मिकता से अपनी निर्णयात्मक सम्मति व्यक्त करते थे। हिन्दी-ससार के धुरन्धर-से-धुरन्धर साहित्यकारो मे भी जो बात उन्हे खटक जाती थी उसे स्पष्ट प्रकट कर देते थे। इस विषय मे उनकी सूक्ष्मदर्शिता विलक्षण थी। भाषा की बारीकियो की पहचान मे प० जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी बडे दक्ष थे, किन्तु ऐसा प्रसग छिडने पर उन्हे भी निरालाजी का लोहा मानना पडता था। निरालाजी के युक्तियुक्त तर्क से कायल होते उन्हे भी मैने देखा है। यह काम निरालाजी कभी राग-द्वेष से प्रेरित होकर नही करते थे। हिन्दी के स्वरूप को निष्कलक बनाये रखने के लिए ही वह शब्द-योजना और वाक्य-विन्यास पर गहरी निगाह रखते थे। भाषा-

सम्बन्धी अराजकता उन्हे असह्य थी। तब भी इस विषय के विवाद मे किसी से उलझना उन्हे अभीष्ट न था। इसीलिए वह कल्पित नाम से 'मतवाला' मे लगातार लेखमाला लिखते रहे। हिन्दी की तो बात ही क्या, बगला भाषा के दुष्प्रयोगो पर वह अपने सहवासी विद्वान् बगाली सन्यासियो को चुनौती दिया करते थे। भाषा की खूबियो और खामियो पर उनके समान सूक्ष्मेक्षिका दृष्टि रखने वाला कोई सहज प्रहरी अब नही सूझ पडता।

निरालाजी क्रान्तिकारी विचार के थे। उन्होने काव्यशैली मे क्रान्ति उपस्थित कर दी। वह युग-प्रवर्तक थे, साहित्य-क्षेत्र मे नवयुग का सुप्रभात दिखाकर उन्होने अपना नाम सार्थक किया। सब सही है, पर सबसे बढकर वह देवोपम मनुष्य थे। उनकी मनुष्यता ने ही समस्त लोक-मानस को अपनी ओर आकृष्ट किया। यदि वह निष्कपट हृदय और उदात्त चरित्र के व्यक्ति न होते तो केवल प्रतिभा के बल से साहित्यिक समाज के हृदय पर एकाधिपत्य स्थापित न कर पाते। पूर्ण मानवता ने उनकी प्रतिभा को विशेष उद्दीप्त कर दिया। उनके मनुष्यत्व की महिमा से जो परिचित है वे उनके विषय मे फैली हुई भ्रान्त धारणाओ को सर्वथा निराधर मानते है।

निरालाजी खडी बोली की नयी धारा के क्रान्तिकारी कवि तो थे ही, ब्रजभाषा के भी रससिद्ध कवि थे। मारवाडी चित्रकार प० मोतीलाल शर्मा (कलकत्ता) की चित्रावली मे प्रत्येक चित्र के नीचे उनका लिखा ब्रजभाषा का पद्यात्मक चित्र-परिचय प्रकाशित हुआ था, जिसे देखकर कालपी (उत्तर प्रदेश) के वयोवृद्ध साहित्यसेवी बाबू कृष्णबलदेव वर्मा चकित होकर निरालाजी की ओर बडी देर तक मुग्ध मुद्रा से देखते रह गए। वह महाकवि केशवदास के विशेषज्ञ माने जाते थे और 'विशाल-भारत' के सयुक्त सम्पादक बाबू ब्रजमोहन वर्मा के पितृव्य थे। 'मतवाला' कार्यालय मे वह प्राय आया करते थे। निरालाजी के कवित-पाठ का अभिनय भी देख चुके थे। जानते थे कि निरालाजी हिन्दी के प्राचीन साहित्य मे अनभिज्ञ है। पर उस दिन ब्रजभाषा की कविता-रचना मे निराला की निपुणता देखकर वह रीतिकाल की कसौटी पर निराला को परखने लगे। निराला ने तुलसी से केशव की तुलना उस स्थल पर की जहा राम की वन-यात्रा मे सीता और लक्ष्मण सावधानीपूर्वक राम के पदाग को बरा कर चलते है। 'रामचरितमानस' और 'रामचन्द्रिका' के ऐसे ही कई स्थानो पर जब निराला ने तुलसी के साथ केशव को भिडाकर दोनो के जौहर दिखाए, तब वर्माजी को उनकी विचार-सारणी मे अभूतपूर्व नवीन अथवा अदृष्टपूव विलक्षण चमत्कार दीख पडा, साथ ही लोहा भी मानना पडा। निराला की बहुमुखी प्रतिभा से कितने ही लोग विस्मित हो चुके है, पर जब तक वह प्रतिभापुज रहा, हमने नही पहचाना।

महादेवप्रसाद सेठ

'मारवाडी-सुधार' लगातार दो साल तक निकलता रहा था। मैं उसके सम्पादन और प्रकाशन के कार्य से अवकाश पाकर मारवाडी-समाज के केन्द्र-स्थलो मे भी जाता था। इस प्रकार दो वर्ष की अवधि मे राजस्थान, इन्दौर, बम्बई, कलकत्ता, दिल्ली, कानपुर, भागलपुर, मुजफ्फरपुर, झरिया, रानीगज आदि अनेक स्थानो की यात्रा करनी पडी। सरक्षको और ग्राहको की सख्या काफी बढी। जब अखिल भारतीय मारवाडी-अग्रवाल-महासभा का मासिक मुखपत्र 'मारवाडी-अग्रवाल' कलकत्ता मे निकलने लगा, तब निश्चय किया गया कि 'मारवाडी-सुधार' बन्द कर दिया जाय, क्योकि एक ही उद्देश्य के दो अलग-अलग पत्रो की आवश्यकता नही है। पत्र बन्द होने पर महादेवप्रसादजी सेठ ने मुझसे अपने प्रेस मे रहने के लिए साग्रह अनुरोध किया। दो वर्ष मेरा परिश्रम देखकर उन्हे सन्तोष हुआ था। मेरे मन मे भी साहित्य-सेवा की लगन थी। महादेवप्रसाद सेठ बालकृष्ण प्रेस के मालिक थे। उनके साथ मुशी नवजादिकलाल श्रीवास्तव भी रहते थे। पर मुशीजी पटना-सिटी-निवासी किशोरीलाल चौधरी के 'भूतनाथ'-कार्यालय के मैनेजर थे। यह कार्यालय मछुआबाजार मे था, जहा सुगन्धित तेल और साबुन का रोजगार होता था। वहा मुशीजी की बडी प्रतिष्ठा थी।

सेठजी मिर्जापुर (उत्तर-प्रदेश) के एक धनाढ्य खत्री-परिवार के सदस्य थे। उनके घराने मे पत्थर का रोजगार बहुत दिनो से होता था। कलकत्ता-नगर मे उस समय केवल उन्ही का घराना पत्थर का एकमात्र व्यापारी था। नीबूतल्ले मे गद्दी या आढत थी। सभवत अब भी है। परिवार उनका बहुत बडा और सम्मिलित था। सब लोग वशानुगत व्यवसाय मे ही व्यस्त रहते थे। किन्तु सेठजी का मन उस धन्धे मे नही लगता था।

सेठजी जब नवयुवक थे, उनका एक लेख द्विवेदी-युग की 'सरस्वती' मे छपा था। छात्रावस्था से ही वे हिन्दी के अनन्य प्रेमी थे। अपने अभिभावको की इच्छा के विरुद्ध वे घर से निकल पडे। सबसे पहले वे प्रयाग गये। वहा हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन मे श्रीपुरुषोत्तमदास टण्डन से मिले और साहित्य-सेवा का कोई काम देने के लिए निवेदन किया। टण्डनजी ने उनकी हिन्दी-सेवा की श्रद्धा और उमग देखकर पन्द्रह रुपये मासिक वेतन का एक काम उन्हे सौपा। उस समय वही सुलभ था।

जब सेठजी के परिवार मे यह सवाद पहुचा कि वे पन्द्रह रुपये पर नौकरी कर रहे है, तब उन्हे घर बुलाकर गुरुजनो ने समझाया कि अपना चमका हुआ व्यापार छोडकर यदि हिन्दी का ही काम करना है, तो कुल-परम्परागत प्रतिष्ठा के अनुकूल कुछ करो। उसके बाद वे कलकत्ता चले आये और अपने घराने की

गद्दी मे कई हजार की पूजी लेकर पुस्तक-प्रकाशन का श्रीगणेश किया । मुशी नवजादिकलाल श्रीवास्तव मे उनकी मैत्री हो गई । दोनो साथ ही रहने लगे । खान-पान सम्मिलित था, किन्तु प्रकाशन-व्यवस्था पर सेठजी का ही एकाधिपत्य था ।

सेठजी ने जो पुस्तक सबसे पहले प्रकाशित की थी उसका नाम 'स्वराज्य' था । मुशीजी की एक पुस्तक 'गृहिणी-कर्तव्य' नाम से निकली थी । तीसरी पुस्तक थी—'मिस्र की स्वाधीनता', जिसके लेखक थे श्रीसम्पूर्णानन्दजी (उत्तर प्रदेश के भूतपूर्व मुख्यमन्त्री) । और भी कई पुस्तके छपी थी । किन्तु छपाई आदि मे ही पूजी समाप्त हो गयी, क्योकि पुस्तकों की बिक्री से जो पैसे आते थे, वे भोजन-वस्त्र मे लग जाते थे । अत उन्होने एक प्रेस खोलने के लिए आढत से काफी बडी रकम मागी । यद्यपि सम्मिलित परिवार से मनचाही रकम नही मिली, तथापि कामचलाऊ प्रेस तो खुल ही गया । स्वनामधन्य साहित्य-महारथी पडित बालकृष्ण भट्ट के शुभ नाम पर प्रेस का नामकरण हुआ । भट्टजी को ही वे त्यागी-तपस्वी साहित्यसेवी मानते थे । मुशीजी के सहयोग से प्रेस चल निकला । भूतनाथ-कार्यालय के अतिरिक्त अन्यान्य कारखानो से भी मुशीजी प्रेस के लिए काम लाते थे । परन्तु इस सहयोग और सहायता के लिए मुशीजी कभी कुछ लेते न थे । हा, सेठजी उनको अपना बडा भाई समझते थे ।

जब 'मतवाला' निकलने लगा, तब सेठजी ने मुशीजी से नौकरी छोड देने का साग्रह अनुरोध किया । मुशीजी कुछ दिन बात टालते रहे । उन्हे हिचकते और सकुचाते देख एक दिन सेठजी ने कुजियो का गुच्छा उनके आगे रखकर कहा—'आज से सारा कारबार आप सभालिए, मै केवल अध्ययन मे ही समय लगाऊगा ।' मुशीजी ने स्पष्ट कहा—'हम लोगो की मैत्री के लिए यह बात घातक होगी ।' कदाचित् मुशीजी के भीतर का ब्रह्म यह भविष्यवाणी कर रहा था ।

सेठजी बडे अध्ययनशील व्यक्ति थे । विशेषत इतिहास की पुस्तको के स्वाध्याय का उन्हे अनुराग था । अग्रेजी और हिन्दी की कोई महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक पुस्तक हाट-बाट मे कही देख लेते थे तो उसे खरीदे बिना चैन नही पाते थे । अग्रेजी की शिक्षा मे उन्होने कोई डिगरी नही पायी थी, पर योग्यता बडी अच्छी थी । अग्रेजी समझने और समझाने मे बडे दक्ष थे । अग्रेजी का हिन्दी-अनुवाद करने मे भी बडे सिद्धहस्त थे । अग्रेजी के इतिहास-ग्रन्थो से उन्होने बहुत-से भारत-गुण-गान-सम्बन्धी उद्धरण चुनकर हिन्दी मे उनका अनुवाद किया था । मूल और अनुवाद साथ ही छपवाना चाहते थे । किन्तु वह काम पूरा न हो सका । कारण, पढने मे जितना उनका मन लगता था उतना लिखने मे नही ।

उनके विचार सुनने मे बडे ओजस्वी होते थे । यदि वे अपने विचारो को

लिख पाते, तो निस्सन्देह प्रभावशाली लेखक होते। मनन और चिन्तन मे ही अधिक लीन रहते थे। प्रेस और पत्र का काम बढने पर जब स्वाध्याय मे बाधा पडने लगी, तब प्राय झुझलाने लग गये।

सेठजी बडे मौजी जीव थे। प्रतिदिन सध्या समय बूटी छानकर चुप बैठे हुक्का पीते रहते और एक ऐसी बात कहकर मुशीजी को छेड देते कि वे कुछ देर बोलते रह जाते। इसी तरह निरालाजी को भी छेडकर उनकी अटूट वाग्धारा मे गोते लगाया करते। मुशीजी को राजनीतिक और सामाजिक प्रश्नो पर छेडते थे तथा निरालाजी को दार्शनिक एव साहित्यिक प्रश्नो पर। दोनो को छेडकर चुपचाप मजा लेने का अभ्यास उनके लिए बडा सुखद था। मुशीजी की जबान बहुत चुस्त-दुरुस्त थी। बीच-बीच मे वे उर्दू के शेर भी कहा करते थे। निरालाजी के प्रवचनो मे अग्रेजी, सस्कृत और बगला के उद्धरणो की बहार होती थी।

निरालाजी का आदर-सत्कार जैसा सेठजी करते थे, वैसा किसी ने नहीं किया। उनको हमेशा इस बात का खयाल रहता था कि निरालाजी को कभी कोई अभाव न खले। निरालीजी की सेवा मे तत्पर रहना उनके लिए बडा आनन्ददायक था। उन्होने निरालाजी को हथेली का फूल बना लिया था। कलाकार की कला-कुशलता पर रीझना वे जानते थे। कवि के गुणो पर वे लट्टू थे। कहना तो यह चाहिए कि वे निरालाजी के सच्चे उपासक बन गये थे।

जब वे किसी कलाविद् को भली-भाति परख लेते थे, तब उसके आराधक बन जाते थे। विलक्षण प्रतिभा के धनी पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र' का सम्मान भी उन्होने अपूर्व ही किया। उग्रजी के आराम का इन्तजाम करने मे ही वे चैन पाते थे। उग्रजी की लेखनी का जादू उन पर ऐसा छा गया कि वे उस पर निछावर हो गये। कलात्मक चमत्कार के पारखी का कलाकार के हाथ बिक जाना सर्वथा स्वाभाविक है।

सेठजी के स्वभाव मे मिर्जापुरी अक्खडपन था। बोलते समय उनके एक-एक शब्द मे काफी ओज होता था। तर्क या विवाद मे वे झुकते नही थे। अपनी युक्तियो को वे बडी शक्तिशाली वाणी मे उपस्थित करते थे। आवेश और उल्लास के समय उनके चेहरे पर लाली छा जाती थी। उनके गोरे मुखडे की वह लाली शीतला के दागो पर भी हावी हो जाती थी। घोर पढक्कू होने के कारण वे लिक्खाड तो नही थे, मगर भाषा की शुद्धता परखने मे बडे प्रबीण थे। निरालाजी और मुशीजी के साथ, व्याकरण-सगत भाषा पर प्राय: विचार-विनिमय किया करते थे। उग्रजी की भाषा उन्हे सबसे ज्यादा पसन्द थी।

निर्भीक सम्पादन के रूप मे सेठजी सचमुच आदर्श थे। 'मतवाला' के लिए

उनका फरमान था कि चाहे कोई कितना भी बडा हो, जरा भी लचे तो धरकर रगड डालो। जेल जाने के लिए वे हमेशा तैयार रहते थे। बराबर उत्तेजना देते रहते थे कि निर्द्वन्द्व होकर खूब मस्ती से लिखो, जो आ पडेगा, सो झेला जाएगा। आखिर उनको जेल जाना ही पडा। तब भी 'मतवाला' के स्वर की बुलन्दी उन्होने बराबर कायम रखी। उनकी ज्वलन्त देशभक्ति किसी स्थिति मे किसी क्षण मन्द नही पडी। कभी-कभी 'मतवाला' पढकर कह देते थे कि अमुक स्थल अथवा प्रसग मे 'टोन' कुछ नरम हो गया है। उनकी सदैव यही इच्छा रहती थी कि 'मतवाला' की कसौटी हरदम खरी रहे ओर सच्ची बात कहने मे कभी किसी का मुलाहजा न किया जाय।

सेठजी सुरुचि-सम्पन्न सौन्दर्योपासक थे। जड पदार्थ का भी सौन्दर्य उसके लिए आकर्षक था। किसी व्यक्ति के किसी एक अग का सौन्दर्य भी उनकी प्रशसा का पात्र बन जाता था। वे कभी-कभी निरालाजी की मुसकराती हुई आखो और उग्रजी की सुनहरी जुल्फो की तारीफ किया करते थे। देखे हुए सौन्दर्य की समीक्षा वे बडी बारीकी से करते थे। एक बार चिडियाखाने मे एक रगीन चितकबरा पहाडी साप देखकर लगभग आधा घटे तक उसकी शोभा निरखते रहे। 'बोटा-निकल गार्डन' मे एक वृक्ष से लिपटी हुई लता देखकर झूमने लग गये। एक पुष्प-प्रदर्शनी मे, मुशीजी के विरोध करने पर भी, उन्होने एक रुपये मे एक लाल गुलाब खरीद लिया और उसके लिए एक नफीस गुलदान खरीदकर अपने सिरहाने सजाया।

जब सावन की घटा घुमडती और बिजली कौधती, तब सब काम छोड छत पर अपनी एकान्त कोठरी मे जाकर छवि-छटा देखने मे तन्मय हो जाते। झमाझम वर्षा मे वे मिर्जापुर की कजली के दृश्यो का वर्णन सुनाने लगते थे। उनका कथन था कि सौन्दर्य मे स्रष्टा का ऐश्वर्य देखना चाहिए। सौन्दर्य-दर्शन मे उनकी दृष्टि इतनी पैनी थी कि रास्ता चलते कही घोडे की सुन्दर कनौती देख लेते, तो क्षण भर ठिठक जाते। किन्तु उनकी सौन्दर्योपासना मे कोई वासना नही थी।

सेठजी पत्नीव्रत पुरुष थे। मुग्ध चित्त से दाम्पत्य प्रेम की चर्चा करते कभी हिचकते न थे। वसन्त और बरसात मे घर जाने की इच्छा प्रकट करने के बहाने से ऋतु की मादकता का वर्णन करने लगते। मुशीजी सकेत समझकर मीठी चुटकिया लेते हुए सब तैयारिया कर देते। मुशीजी ने मैत्री खूब निबाही।

भग की तरग मे सेठजी प्राय मौन रहना पसन्द करते थे। उस समय उनकी

गम्भीरता और मुसकान तथा उनके लगोटिया साथी पडित रामानन्दजी[1] की चुहलबाजिया बडा रग लाती थी। पडितजी उर्दू-फारसी के जानकार और मजाक-पसन्द आदमी थे। वे ऐसे हसोड थे कि मिर्जापुरी बोली मे अश्लील हास्य-विनोद सुनाते भी नही सकुचाते थे। सेठजी को 'मतवाला-मण्डलाधीश' कहकर तरह-तरह की स्तुतिया और सूक्तिया सुनाया करते थे। अब वैसे जिन्दादिल लोग कही नजर नही आते।

मुशी नवजादिकलाल श्रीवास्तव

मुशी नवजादिकलाल श्रीवास्तव ही हिन्दी-ससार मे ऐसे व्यक्ति थे, जो केवल 'मुशीजी' के नाम से प्रसिद्ध और परिचित थे। इनके पहले प्रेमचन्दजी, अजमेरीजी और सैयद अमीर अलीजी के नाम के साथ भी 'मुशी' शब्द का प्रयोग यदा-कदा देखा गया, पर वे केवल 'मुशी' नाम से कदाचित् कभी इतने प्रसिद्ध न हुए। किन्तु इनके लिए 'मुशीजी' पेटेण्ट हो गया था। वास्तव मे ये 'मुशीजी' थे भी। इनकी यह उपाधि सर्वथा सार्थक थी। इनकी भाषा, बोल-चाल, रहन-सहन, पोशाक-पहनाव, सबमे मुशीपन की गहरी छाप थी। गुण भी तदनुकूल ही थे।

'मतवाला'-मण्डल मे एक बार इनकम टैक्स के लिए हिसाब की बहिया तैयार करनी थी। जब से श्रीमहादेवप्रसाद सेठ ('मतवाला'-सम्पादक) कलकत्ता मे कारोबार करने लगे थे, कोई सिलसिलेवार बहीखाता न था। अस्त-व्यस्त कागजो और रजिस्टरो को एकत्रित कर मुशीजी ने दिन-रात लगातार परिश्रम किया। आखिर तैयार ही कर डाला कई साल का चिट्ठा। उनका धैर्य, अध्यवसाय, लगन और श्रमशीलता देखकर पडित चन्द्रशेखर पाठक (मालिक, पाठक-कम्पनी, कलकत्ता) ने कहा था—'सचमुच आप पक्के मुशी है, इस काम मे बडे-बडे मुनीम भी ऊब जाते!'

जिन दिनो मुशीजी यह खरीता तैयार कर रहे थे, उन दिनो 'मतवाला' की दस हजार प्रतिया छपती थी। प्रेस की सारी व्यवस्था मुशीजी के हाथ मे थी। कागज, स्याही, ब्लॉक—सब का ब्योत वही करते थे। प्रेस के कर्मचारियो को रोजाना मजूरी देना, समय पर वेतन बाटना, चौके का भी इन्तजाम करना, एजेटो और हॉकरो का हिसाब रखना, अखबार के लिए मैटर लिखना, कार्टूनो के लिए भाव ('आइडिया') सोचना, साथ-साथ हाट-बाजार भी करना, सारा काम अपने सिर उठा लिया था। यह कुल काम मुशीजी चुटकियो मे उडा देते—

---

१. पडित रामानन्दजी ने बाद मे सन्यास ग्रहण कर लिया था एव मथुरा-वृन्दावन मे निवास करने लगे थे।

कभी क्लान्त न होते।

मुशीजी बहीखाता लिखने मे लगे है, 'मतवाला' के मैटर के लिए कम्पोजिटर सामने खडा है। मैटर लिख रहे है। रसोइया केदार महराज आ धमके—आटा-दाल नही है। तरकारिया रोज मुशीजी की पसन्द से ही बनती थी। साग-भाजी के लिए दोनो जून पुर्जा लिख देना भी उन्ही का काम था। प्रतिदिन भग-बूटी के मसाले मे परिवर्तन करना उन्ही की सुरुचि पर निर्भर था—आज कसेरू की भग छने, कभी बेल, कभी फालसा, कभी सन्तरा, कभी अगूर, कभी केसरिया रग गाढा, कभी आम का पन्ना!

सेठजी जब हाथ मे शीशे का गिलास लेते, खुशरग भग की तारीफ मे पाच मिनट खर्च कर लेने के बाद ही चुस्किया शुरू करते। उनके लिए खमीरा-मुश्की तम्बाकू का इन्तजाम कर रखना मुशीजी कभी न भूलते। भग का बम-गोला चढाकर जब वे (सेठजी) सबसे ऊपर के कमरे मे चले जाते, मुशीजी उससे पहले ही वहा बागबाजार के रसगुल्लो का पुरवा रखवा देते।

सेठजी को मुशीजी अपने सगे छोटे भाई की तरह प्यार करते थे। और सेठजी भी उनको अपना बडा भाई मानते थे, केवल मानते ही न थे, वैसा ही अदब भी करते थे। भग की तरग मे जब किसी राजनीतिक या सामाजिक विषय पर बाते करते-करते सेठजी उत्तेजित हो बहकने लगते, मुशीजी झिडक देते, बस सटक सीताराम!

सेठजी ने कभी मुशीजी के किसी काम मे हस्तक्षेप न किया, स्याह-सफेद जो कुछ करे—मुशीजी। सेठजी उनको अपना सच्चा अभिभावक समझते थे—उनके सरक्षण मे निश्चिन्त मौज करते थे। मुशीजी चाहे जली-कटी जो भी सुना दे, सेठजी कभी चू तक न करते। ऐसा सद्भाव मैने बहुत कम देखा है।

सेठजी की एक बात से मुशीजी तबाह रहते। सेठजी को इतिहास का बडा शौक था। जब अग्रेजी का कोई नया इतिहास-ग्रन्थ बाजार मे देखते, आर्डर देकर चुपचाप चले आते। मुशीजी झुझला उठते—'आपको मालूम नही था कि आजकल रुपये-पैसे की कैसी तान है, इस तरह के ब्योत से तो प्रेस का खर्च नही पोसायेगा!' सेठजी सटक थामे तम्बाकू की कश लेते हुए मुसकराया करते।

मुशीजी रविवार या छुट्टी के दिन केवल सफाई का काम करते थे। झाड देने की कला मे उनके समान कुशल शायद ही कोई साहित्यसेवी हो। झाडू उठाते, तो कोने-अतरे तक झाड-बुहार कर फिट कर देते। फिर झाडू को भी धोकर धूप मे रखते। ऑफिस की सभी चीजो को सरिया-सहेज कर यथास्थान लैस कर देते। किसी के जूते हो, झाड-पोछकर एक कतार मे सजा देते। दवात की स्याही बदलते, कलम की निब। कभी-कभी कलम-दवात को भी साबुन से नहलाते। चश्मे मे साबुन, घडी मे साबुन, कघी मे साबुन, चाकू तक मे। लैम्प-

लाल टन की भी जान न बचती ! किसी चीज की सफाई मे उनकी निगाह न चूकती। बिछावन को धूप मे डालने की चिन्ता उन्हे थी, फिर कुर्सी के खटमल निकालने की चिन्ता कौन करता ? स्टोव को पॉलिस से साफ करने के बाद, जूतो पर भी खुद पॉलिस कर लेते। कपडो मे साफा लगाने बैठते, तो अपने को रईस धोबी कहते। सेवा की मूर्ति थे मुशीजी !

जब कोई बीमार पड जाता, भले ही वह रसोइया या दरवान क्यो न हो, दवा-दारू की कौन बात, मल-मूत्र की सफाई करने मे भी उन्हे हिचक या घिन न थी। सारा काम करते हुए ठीक समय पर पथ्य पहुचा देते। आलस्य तो छू भी न गया था, दरवान रहते हुए भी स्वय डॉक्टर के यहा दौड जाते। रोगी को अपने विनोदो से सदा प्रसन्न रखते। उनकी हर हरकत मे बुजुर्गी थी।

प्रति सप्ताह 'मतवाला की बहक' लिखना उन्ही के जिम्मे था, 'अग्रलेख' और 'चलती चक्की' मेरे जिम्मे। सयोगवश इसमे कभी-कभी हेर-फेर भी हो जाता था। पर नियमित क्रम यही था। जब मै 'माधुरी' मे चला गया, मुशीजी अकेले ही सब कर लेते थे। पीछे भाई उग्रजी ने आकर उनका भार हल्का कर दिया। किन्तु जब तक 'मतवाला' कलकत्ता मे रहा, मुशीजी की लेखनी ही उसे चमकाये रही। मिर्जापुर चले जाने पर मुशीजी की लेखनी का प्रसाद उसके लिए दुर्लभ हो गया। परिणाम किसी से छिपा नही। मुशीजी जीवन-भर इसके लिए पछताते रहे।

'मतवाला' के लिए मुशीजी ने जो महान् त्याग किया था, उससे उनकी महत्ता का प्रत्यक्ष परिचय मिलता है। महुआबाजार मे पटना-सिटी-निवासी श्रीकिशोरीलालजी चोधरी का तेल-साबुन-इत्र का मशहूर कारखाना था—'भूतनाथ'-कार्यालय। उसी मे मुशीजी काम करते (मैनेजर) थे, पर रहते थे सेठजी के साथ। सेठजी के घराने की एक पत्थर की गद्दी नीबूतल्ला मे थी, पर मुशीजी से बन्धुत्व स्थापित हो जाने के बाद सेठजी उन्ही के साथ बराबर रहते थे। मुशीजी की प्रेरणा से ही सेठजी ने 'सुलभ-ग्रन्थ-प्रचारक-मण्डल' खोला था, जिससे कई पुस्तके प्रकाशित हुई थी, जिनमे मुशीजी की लिखी एक 'गृहिणी-कर्तव्य' भी थी। मुशीजी के ही उद्योग से वहा से श्री सम्पूर्णानन्दजी की 'मिस्र की स्वाधीनता' नामक पुस्तक भी प्रकाशित हुई थी।

'भूतनाथ'-कार्यालय मे तीन-चार हजार रुपये सालाना का छपाई का काम होता था। यह काम मुशीजी के हाथ मे था। इसी के भरोसे, मुशीजी के आश्वासन पर, सेठजी ने प्रेस खोला। हिन्दी के आदर्श साहित्य-प्रेमी पंडित बालकृष्ण भट्ट के नाम पर प्रेस का नामकरण हुआ—बालकृष्ण प्रेस, जो पहले कार्नवॉलिस स्ट्रीट वाले आर्य-समाज-मन्दिर के पिछवाडे न० २३ शकर घोष लेन मे था।

पीछे विद्यासागर-कालेज के पास उसी लेन के मकान न० ६ मे चला आया ।

'माधुरी' से लौटने पर मै दुबारा इसी दूसरे मकान मे पुन 'मतवाला'-मण्डल का सदस्य हुआ। इस मकान मे बिजली भी लग गई थी । 'भूतनाथ'-कार्यालय के काम के लिए मुशीजी को अन्य प्रेसो से कुछ कमीशन भी मिल जाता था, जिसे चौधरीजी भी जानते थे । पर मुशीजी ने सेठजी के लिए उस लाभ को तिलाजलि देकर सारा काम बालकृष्ण प्रेस को दिलवा दिया । इतना ही नही, 'मतवाला' निकलने पर जब मुशीजी की अहर्निश सेवा की आवश्यकता आ पडी, मुशीजी ने बिना किसी मीन-मेष के नौकरी छोड दी । उस समय उनको एक सौ रुपये मासिक वेतन मिलता था । चौधरीजी उनका बडा आदर करते थे, कारखाने के सब लोगो पर उनकी धाक थी, चौधरीजी के परिवार मे उनकी अच्छी प्रतिष्ठा थी । बडे आराम का काम था । स्वतत्रता इतनी थी कि टाइम का कोई बन्धन न था ।

मुशीजी तेल-साबुन-इत्र के राजा थे—सौगात और खैरात बाटा करते थे । किन्तु इन सारी सुविधाओ को लात मारकर मुशीजी ने 'मतवाला' को अपनाया । मुशीजी के हट जाने से चौधरीजी की अपार क्षति हुई, पर दोनो के सद्व्यवहार मे कोई बट्टा न पडा । चौधरीजी के भतीजे कनका बाबू पूर्ववत् नित्य 'मतवाला'-मण्डल मे आकर उन्हे सिनेमा-थिएटर दिखाने ले जाते थे । तेल-साबुन की छूट अब भी जारी थी । पर मुशीजी को अब आर्थिक कठिनाइया चपेटने लगी । फिर भी मुशीजी ने कभी पश्चात्ताप नही किया । हा 'मतवाला' जब मिर्जापुर चला गया, मुशीजी की आखो के सामने स्वार्थमय ससार का असली रूप खुल गया । सेठजी ने मुशीजी के घोर विरोध की कुछ भी परवाह न की । इसकी कसक मुशीजी के दिल से कभी न गयी । उस समय की उनकी चिट्ठिया करुणा की अजस्र निर्झरिणी है । क्या साहित्यसेवियो की ऐसी चिट्ठियो के प्रकाशन का भी कोई युग आयेगा ?

आखिर कनका बाबू ने मुशीजी को फिर आश्रय दिया । चौधरीजी के मकान मे ही रहने लगे । 'मस्त मतवाला' साप्ताहिक और 'सरोज' मासिक का जन्म हुआ । किन्तु अर्थाभाव ने यहा भी टाग अडाकर मुशीजी की अग्नि-परीक्षा ली । पर मुशीजी प्रारब्ध को कोसनेवाले न थे । भाग्यचक्र का प्रताडन सहते-सहते उनका कलेजा प्रौढ हो गया था । साफ कहा करते थे—'मैंने जीवन-भर के लिए दरिद्रता-देवी को आलिगित किया है, यह मेरे ही साथ चिता पर सती होगी ।'

मुशीजी कलकत्ता से हताश होकर प्रयाग पहुचे । 'चाद' के सचालक श्रीरामरख सिंहजी सहगल ने उनका सारा दु:ख हर लिया । उस समय मुशीजी ने स्पष्ट लिखा था—'साहित्यिक व्यसन की पूर्ति के लिए ही मैंने 'भूतनाथ'-कार्यालय का परित्याग किया था । मुझमे त्याग की और कोई ऊंची भावना न

था। किंतु मेरी दृष्टि मे जो तुच्छ त्याग था, वह जगदाधार की दृष्टि मे महान् प्रतीत हुआ, जिसका फल भी उसने दे दिया। मै शातिपूर्ण स्थान पर पहुच गया। यदि नियति की नीयत ठीक रही, तो आशा है कि यहा भी उतने ही आराम से जिदगी कट जायेगी, जितने सुख से चौधरीजी के यहा कटती रही।'

परन्तु कहना पडेगा कि नियति की नीयत ठीक न थी, सहगलजी जब 'चाद' से अलग हो गये, मुशीजी का सतोष अत्यत कृश हो गया। सहगलजी ने उन्हे बडे सम्मान से रखा था। फिर सहगलजी के अनुज ने भी यथाशक्य निबाहा। किन्तु अन्त मे 'चाद' के नये सचालको के साथ मुशीजी न निभ सके। इसका कारण मुशीजी का अखड स्वाभिमान था। उसमे ठेस लगते ही मुशीजी की आत्मा ग्लानि मे गड जाती थी। केवल आत्माभिमान मे ठोकर लगने पर ही उनकी आखे सजल होती थी, और कभी नही।

'चाद' का वियोग उनके लिए असह्य हुआ, कारण चाहे जो रहा हो। मुशीजी फिर कलकत्ता पहुचे। इस बार समाधिगत साप्ताहिक 'हिन्दूपच' को नवजीवन प्रदान किया। मेरे पूज्य साहित्य-गुरु स्वर्गीय पडित ईश्वरीप्रसाद शर्मा मुशीजी के अनन्य मित्रो और 'मतवाला'-मडल के सदस्यो मे थे। 'हिन्दूपच' का पुनरुद्धार करके मुशीजी बडे सतुष्ट हुए। मुझे लिखा—'किसी तरह ईश्वरीजी की स्मृति जगा रहा हू, पर आशा नही कि अधिक दिनो तक कलम की खुजली मिट सकेगी।' उनके अक्लात मस्तिष्क के बल पर 'हिन्दूपच' कुछ दिन चलता रहा, पर किसान के परिश्रम पर छूछे बादलो ने पानी फेर दिया।

'हिन्दूपंच' से हताश होकर मुशीजी अपने सिर पर मडराते हुए बुढापे की ओर घूरने लगे। छोटे-छोटे बच्चो की चिंता उनके मस्तिष्क मे रह-रहकर ठोकरे मारने लगी। विवाह के योग्य सयानी लडकी उनके धीर-गभीर हृदय मे अशाति की पनडुब्बी बनकर साहस-पोत का पीछा करने लगी। अब भवसागर के केवट का सहारा सूझ पडा। इससे पहले कभी उनके मन पर कातरता की छाया न पडी थी। किन्तु उनके चित्त में उत्पन्न हुई स्वाभाविक करुणा उनकी स्वावलम्बन-भावना की सौत न बन सकी। उन्होने आत्म-सम्मान और आत्मविश्वास की बागडोर ढीली न की। परमात्मा ने उनके जीवन-सकट को सुमार्ग पर लगा दिया। साप्ताहिक 'जागृति' (कलकत्ता) के उदारमना सचालक श्री मिहिरचद धीमान् ने मुशीजी को बडी सहृदयता से अपना लिया।

मुशीजी सदैव अपना सुख-दुख मेरे पास दिल खोलकर लिखा करते थे। मेरा दिल भी उनके सामने जितना खुलता था, उतना और किसी साहित्यसेवी के सामने नही। एक-दूसरे को अपना दुखडा सुनाकर मन को तोष-बोध दे लेता था। मुशीजी ने 'जागृति' का सपादन-भार ग्रहण करते ही मुझे लिखा—'धीमान्जी ने मेरे सबध मे अपना 'हिन्दू-भूषण' पद सार्थक कर दिया। मेरे आसन्न बुढापे पर दया करके

परमेश्वर ने कलकत्ता मे दूसरे महादेवप्रसाद सेठ को पैदा कर दिया। आशा है कि सेठजी के बिछुडने से दिल पर जो नासूर था, वह अब भर जायगा।'

प्रयाग मे जब वे 'चाद'-सपादक थे, मै इडियन प्रेस मे रहकर 'द्विवेदी-अभिनदन-ग्रथ' छपवा रहा था। प्रेस से थोडी ही दूर पर 'कटरा' मुहल्ले मे वे रहते थे। मै प्राय दूसरे-तीसरे दिन उनके यहा जाया करता। 'मतवाला' की पुरानी स्मृतियो को उधेडते हुए मुशीजी कहा करते—'इस जीवन मे अब वैसे दिन न बहुरेगे।' उन्होने 'मतवाला' पर अपने भविष्य को निछावर कर दिया था। कभी-कभी आवेश मे यहा तक कह उठते—'यदि निरालाजी और आप फिर 'मतवाला'-मडल के सदस्य बनने को तैयार हो जाये, तो मै उसकी कब्र कुरेदने के लिए कमर कस सकता हू।' किन्तु यह मनोरथ तो ताश का महल था! साहित्यिको के हवाई महल को पृथ्वी अपनी छाती पर टिकने नही देती।

निरालाजी 'मतवाला-मडल' के सर्वप्रिय एव सर्वाधिक सम्मान्य सदस्य थे। न० २३ शकर घोष लेन वाले मकान के ऊपर के तल्ले मे रामकृष्ण-मिशन और विवेकानद-सोसाइटी का एक शाखा-कार्यालय था। उसके लिए सेठजी ने दो कमरे भाडे पर उठा दिये थे। वहा से हिन्दी मे मासिक 'समन्वय' निकलता था। वेदात-विषयक अति उत्तम पत्र था। उसके विद्वान् सचालक स्वामी माधवानदजी—जो कुछ साल बाद कैलिफोर्निया (अमेरिका) की विवेकानद-सोसाइटी के सचालक होकर विदेश चले गये—स्वय आचार्य द्विवेदीजी के पास जाकर 'निराला' जी को माग लाये थे। पूज्य द्विवेदीजी ने ही 'समन्वय' के लिए उपयुक्त सपादक का चुनाव कर दिया था। आचार्य के इस चुनाव से स्वामीजी बडे सतुष्ट थे। सर्वतन्त्र-स्वतत्र निरालाजी को वे बडे आदर से अपने ही साथ रखते थे। इस तरह निरालाजी सौभाग्यवश ही 'मतवाला' को मिल गये थे। मुशीजी उनसे हसी-मजाक मे कह देते थे—'महाराज! आपको पाकर हम लोगो ने 'आकाश-कुसुम' तोड लिया है। हम लोगो के सिवा इस ससार मे 'गूलर का फूल' किसी ने न देखा होगा।' निरालाजी आखो मे मुसकराकर मुशीजी के विनोद का रस लेते।

निरालाजी भी सेठजी की तरह मुशीजी का उचित सम्मान करते थे। यहा तक कि उपर्युक्त मिशन के सभी कार्यकर्त्ता, जो बडे विद्वान् और सच्चे त्यागी लोकसेवक थे, मुशीजी को आदरणीय मानते थे। मुशीजी उन विरक्त सन्यासियो को भी निरालाजी के सबध मे विनोद-भरी चुटकिया सुनाकर हसा देते थे। निरालाजी पर सेठजी और मुशीजी की समान ममता थी। निरालाजी 'समन्वय' के प्राण थे और 'मतवाला'-मडल के अलकार। उन पर 'मडल' को बडा गर्व था।

मुशीजी ने एक बार एक नवागतुक साहित्यसेवी को निरालाजी का परिचय विचित्र ढग से दिया—'हमारे यहा एक क्रातिकारी कवि है। उनको आपने देखा है? पद्म-पलाशलोचन, आजानुबाहु, काकपक्षधारी, वृषभस्कध और कोकिलकठ

है। उनकी उगलिया अजता-गुहा के चित्रो की छवि छीनती है। उनकी मास-पेशिया ग्रीस-रोम की मूर्तियो की याद दिलाती है। सुए की टोट-सी उनकी नासिका ओर अनारदाने-से उनके दात देखकर आप घपले मे पड जायेगे। जब वे भुजदड ठोककर अपने प्रशस्त वक्ष स्थल का विस्तार दिखाते है, बुद्धि पगुरी करने लगती है। डीलडौल पजाबी, बोलचाल बैसवाडी, खानपान बगाली, रहन-सहन वेदाती। जनेऊ को साबुन लगाकर धूप मे रख देते है, तो जबतक कोई उसकी याद न दिलाए, तब तक उसका ध्यान छोड अपनी धुन मे मस्त रहते है। 'सजीव रसगुल्ले' के बडे प्रेमी है। केचुआ-छद' के आदि-कवि है। उनकी शख-ध्वनि से हिन्दी-जगत् मे हडकप छा गया है।' इसी तरह की बहुत-सी विनोद-भरी बाते निरालाजी के सबध मे कहकर अत मे नाम बतलाया। नवागतुक साहित्यसेवी महोदय खूब हसे—वे थे पडित रामगोविद त्रिवेदी वेदातशास्त्री, जो 'मतवाला' निकलने के बाद उस दिन पहले-पहल प्रेस मे आये थे। इस परिचय मे कहे गये सब शब्द मुशीजी के ही है, मेरे नही।

मुशीजी मे एक बात बडी विलक्षण यह थी कि सस्कृत से अनभिज्ञ होते हुए भी बगला के ससर्ग से सस्कृत-बहुल भाषा भी लिख लेते थे ओर उर्दू-फारसी के तो उस्ताद ही थे। उर्दू-मिडिल पास करके ही वे कलकत्ता चले आये थे। ट्राम मे काम न मिला, डाक-विभाग मे भी बडी कठिनाई से पैठ हुई, क्योकि अगरेजी नाम-मात्र जानते थे। हिन्दी से भी यथोचित परिचित न थे। किन्तु ठेठ देहात से सीधे कलकत्ता जैसे महानगर मे नये-नये आये थे, महत्त्वाकाक्षाओ से हृदय भरा हुआ था। स्वाध्याय और स्वावलबन ने उनकी उच्चाकाक्षाओ को सनाथ किया। सबसे पहले पडित सदानद शुक्ल और श्रीयशोदानदन अखौरी से परिचय हुआ। इसके बाद फिर श्री रामानद द्विवेदी से मैत्री हुई, जो साप्ताहिक 'वीर भारत' मे काम करते थे। क्रमश श्रीहरिकृष्ण जौहर, पडित अमृतलाल चक्रवर्ती आदि लब्धप्रतिष्ठ पत्र-सपादको से परिचय बढा। अत मे साहित्यानुराग को सफल करके ही छोडा।

डाकिया का थैला उतार फेकने के बाद जब 'वीर-भारत'-कार्यालय की कुर्सी पर बैठे, तब अर्थ-सकट ने उस प्रवेश-द्वार पर ही यह विज्ञप्ति दिखला दी कि इस पथ के पथिक को मेरी ही छत्रछाया मे रहना होगा। मुशीजी कहा करते थे—डाकिया रहने पर भी हाथ कभी खाली नही रहता था, मगर अखबार की कुर्सी पर आसन जमाते ही 'पास-बुक' दिन-दिन छीजने लगी। वेतन 'अकथनीय' था, साहित्य-प्रेमी मित्रो की सख्या बढ चुकी थी, इसलिए 'पास-बुक' भी अधिक दिन सभाल न सकी। दो-चार कारखानो मे सुबह-शाम जाकर चिट्ठी-पत्री करनी पडती थी, ठेल-ठालकर ही दिन कटते थे।' यहा तक कि बालकृष्ण प्रेस खुल जाने पर भी, जब वे चौधरीजी के यहा काम करते थे, दो प्रसिद्ध कविराजो के यहा हिन्दी-उर्दू की चिट्ठिया पढ सुनाने और उनका उत्तर लिख देने के लिए नित्य

सन्ध्या समय जाया करते थे। मै 'मतवाला' निकलने के दो साल पहले से ही बालकृष्ण प्रेस मे रहता था, क्योकि मेरे सपादकत्व मे निकलनेवाला मासिक 'मारवाडी-सुधार' उसी प्रेस मे छपता था। मुशीजी बाहर से काम करके थके-मादे आते थे और प्रेस मे भी सुबह और रात का समय प्रूफ देखते, दिन-भर का खर्च साफ बही पर उतारते और बगला से अनुवाद करके 'सुलभ-ग्रथ-प्रचारक-मडल' के लिए प्रेस की खुराक जुटाने मे ही लगा देते थे। परिश्रम करने की स्फूर्ति उनके शरीर मे बराबर बनी रही, यही उनकी सफलता का रहस्य था।

मुशीजी ने कलकत्ता का 'खोलाबाडी-युग'[1] देखा था, इसलिए बहुत-सी पुरानी बाते सुनाया करते थे। उनके साथ कलकत्ता का एक सग्रहणीय सस्मरण चला गया। बाबू बालमुकुद गुप्त और पडित गोविंदनारायण मिश्र के समय की साहित्यिक बाते उनके मुख से सुनने मे बडा आनद आता था। मुशीजी के साथ इस तरह की बहुत-सी चीजे चली गई। पुराने साहित्यसेवियो और पत्रो तथा पुस्तको का बडा आदर करते। पुरानी पुस्तको की दूकान पर एकाध घटा अडकर निश्चय ही कोई पुरानी चीज ढूढ निकालते थे। श्रीराधामोहन गोकुलजी[2] मे उनकी

---

१ बास के बने मकान, जो कलकत्ता नगर के अदर जगह-जगह पाये पाते थे।

२ 'जब मैं 'मतवाला'-मडल (कलकत्ता) के सपादकीय विभाग मे काम करता था, तब 'प्रणवीर'-सपादक श्रीराधामोहन गोकुलजी 'मतवाला'-मडल मे प्राय. नित्य आते थे। मुशी नवजादिक लाल श्रीवास्तव से आपकी बहुत पुरानी जान-पहचान थी। जब मुशीजी साप्ताहिक 'वीर भारत' (कलकत्ता) के सपादक थे, तब आप उसमे बडे जोशीले लेख लिखा करते थे। विधवा-विवाह के आप बडे पक्षपाती थे। कई विधवाश्रमो और अनाथालयो की सेवा-सहायता में आप बराबर तत्पर रहते थे। शुद्धि और अछूतोद्धार के आदोलनो मे आपका निरतर सक्रिय सहयोग रहा। बहुत वृद्ध होने पर भी आप सभा-सम्मेलनो मे अत्यत निर्भीकता से उत्तेजनापूर्ण भाषण करते थे। अपने जीवन के अतिम क्षणो मे अपनी लेखनी और वाणी से आपने हिन्दू-सगठन का काम बडे उत्साह से किया था। गोरी नौकरशाही के प्रति आपके उद्धत विचारो को सुनकर बार-बार यह आशका होती थी कि आप कब कहा गिरफ्तार हो जायेगे, कुछ ठीक नही। पुलिस और जेलखाने के अधिकारी आपको 'बहुत खतरनाक' समझते थे। जेल से छूटते समय आप स्पष्ट कह दिया करते थे कि हमारा स्थान सुरक्षित रखना, हम फिर शीघ्र ही आयेगे। वैसे निडर लेखक, वक्ता और सपादक उस समय हिन्दी-ससार मे कम ही लोग थे।'

बडी श्रद्धा थी। गोकुलजी प्राय. मुशीजी के पास आया करते थे। एक बार मैने मुशीजी से कहा कि पडित अमृतलाल चक्रवर्ती अखिल भारतीय हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के सभापति चुने गये है, पर उनके पास पैसे नही है कि वृ दावन जाने के लिए कपडे बनवाये या अपना लिखित भाषण छपवाये या रेलभाडे का जुगाड करे और स्वाभिमानवश किसी से कहते भी नही।

मुशीजी उसी दिन चक्रवर्तीजी से मिले, इधर-उधर से चदा करके उनकी आवश्यकता पूरी कर दी, भाषण भी छपवा दिया, जिसके लिए भावुक-शिरोमणि चक्रवर्तीजी अश्रुरुद्ध कठ से आशीर्वाद देते न अघाये।

मुशीजी का स्नेह मुझ पर सदैव एक-रस बना रहा। मेरे तीसरे विवाह की बारात मे पहुचने के लिए अपनी पत्नी को रोग-शैया पर छोडकर चले आये। बारात मे अपने साथ अपनी बडी लडकी को भी लेते आये, क्योकि सात-आठ वर्ष की हो जाने पर भी वह लडकी हमेशा मुशीजी के साथ ही रहती थी। मेरी बारात मे केवल साहित्यसेवी ही बाराती थे, पर मुशीजी के विवाह की कहानी किसी को मालूम न थी, इसलिए सबको आश्चर्य हुआ कि रुग्णा माता को यह लडकी किस तरह छोड आयी। किंतु पीछे सबको यह सुनकर और भी आश्चर्य हुआ कि मुशीजी की तीनो पत्निया सभी बहने थी। अट्टहास मे दिशाए गूज उठी। पडित चद्रशेखर पाठकजी प्राय मुशीजी को छेडते थे—'एक ही घर मे तीन सेंध! अच्छा नबर लगाया!'

कर्मवीर श्रीमूलचद्रजी

मैने सबसे पहले कलकत्ता महानगर मे ही, सन् १९२० ई० मे, श्रीमूलचद्रजी के दर्शन का सौभाग्य प्राप्त किया था। मै आरा की 'मारवाडी-सुधार-समिति' के मासिक मुखपत्र 'मारवाडी-सुधार' का सम्पादक था, जो कलकत्ता के बालकृष्ण प्रेस मे छपता था। मैं बराबर वही रहता था। मेरे साहित्य-गुरु पूज्य पडित ईश्वरीप्रसादजी शर्मा उन दिनो श्री रामलालजी बर्मन के यहा साहित्य-विभाग के प्रधान थे। वे ही मिलने गये। मै भी दर्शनोत्कण्ठावश उनके साथ चला गया, ११५ हरिसन रोड के मकान मे। देखा, एक प्रभावशाली व्यक्तित्ववाला, खासे-तगडे डीलडौल का, प्रशान्त गम्भीर पुरुष एकाग्रचित्त कुछ लिख रहा है। मोटे खद्दर का कुर्त्ता, जिसमे खादी के ही बटन टके थे, सिर पर गाधी-टोपी और पूज्य मालवीयजी की तरह ललाट पर शुभ्र चन्दन का गोल टीका। पैरो मे मोटे दल का पजाबी जूता। होठो मे डूबी हुई मधुर मुसकान। मन्द-मन्द स्वर मे केवल काम की ही बाते, फालतू एक शब्द नही। मै पडितजी के साथ वहा के अनेक हिन्दी-लेखको

से मिल आया था, पर ऐसा धीरोदात्त पुरुष कही नही दीखा था। मै बहुत प्रभावित हुआ।

उनसे मिलने का सुअवसर अनेक बार प्राप्त हुआ। कभी मुशी नवजादिक लालजी श्रीवास्तव के साथ, कभी पडित चन्द्रशेखर पाठक के साथ, कभी पडित नरोत्तम व्यास के साथ, उनके पास जाने और पत्र-प्रकाशन तथा पत्र-सचालन के सम्बन्ध मे उनके दृढ सकल्प की चर्चा सुनने का सुयोग मिलता रहा। पडित ईश्वरीप्रसादजी भी कभी-कभी दल बाधकर उनके यहा पहुच जाते थे, क्योकि उनका स्थान साहित्य-सेवियो का एक अड्डा-सा था। बाबू महादेवप्रसाद झुनझुनवाला (बडतल्ला मे जिनकी पुस्तक की दूकान थी), पडित देवनारायण द्विवेदी[1] (अफीम चौरस्ता मे श्रीनिहालचन्दजी[2] की पुस्तक की दूकान के सामने ही जिनकी पुस्तक की एक दूकान थी), पडित रामगोविन्द त्रिवेदीजी वेदान्तशास्त्री (जो सरकार लेन मे 'भारती प्रेस' खोलकर पुस्तक-प्रकाशन कर रहे थे), बाबू बलदेवप्रसाद खरे (जो खन्ना प्रेस मे रहकर नाटक लिखते-छपाते थे) इस चतुरग चौकडी के साथ जब कभी हम लोग जाते थे, उनसे बाते करने का अवसर खो देना पडता था। तब केवल पडित उमादत्त शर्मा[3] ही आतिथेय बनते थे। उन दिनो शर्माजी भी उनके सहयोगियो मे थे। मूलचद्रजी एकान्त भाव से अपने काम मे दत्तचित रहते थे। जान पडता था, उनका एक-एक क्षण बहुमूल्य है।

जिन दिनो अफीम-चौरस्ता के नुक्कड पर एक मकान मे मूलचद्रजी का कम्पोजिग प्रेस था, जहा से उन्होने 'लिबर्टी' नामक एक अग्रेजी-सवादपत्र भी निकाला था, उन दिनो उनका अनवरत परिश्रम देखते ही बनता था।

अहोरात्र परिश्रम करने की वैसी सच्ची लगन हिन्दी-पत्रकार-जगत् मे केवल श्रद्धेय गणेशशकरजी विद्यार्थी मे ही देखी-सुनी गई, और तो किसी मे नही। मूलचन्द्रजी के पास उस समय प्रेस की कोई मशीन नही थी, कुछ टाइप मात्र थे।

---

१. आप मिर्जापुर (उत्तर प्रदेश)जिले के निवासी थे। बडे सहृदय साहित्यसेवी और सफल उपन्यासकार। बाद मे ज्ञानमडल (काशी)मे ग्रथ-प्रकाशन-विभाग के प्रमुख सचालक रहे। साहित्यिक रसिकता और सस्मरणो के आप विशेष धनी थे।

२. इन्होने ही निरालाजी का 'रवीन्द्र-कविता-कानन' पहले-पहल प्रकाशित किया था। कलकत्ता के अच्छे प्रकाशको मे थ। फिर काशी मे बडा सुन्दर प्रकाशन-कार्य किया, मासिक 'हिन्दी-प्रचारक' भी निकालते थे।

३. शर्माजी ने 'निराला' जी की कई पुस्तके प्रकाशित की थी। उनका अपना स्वतत्र प्रकाशन-व्यवसाय था। पत्रकार अच्छे थे।

बडा बाजार मे अखबार कम्पोज होता था और छपता था अपर-चितपुर रोड के बर्मनप्रेस मे। व्यवस्था, सम्पादन, दौडधूप—सारा काम अधिकतर वे स्वय ही करते थे। श्रीरामलालजी बर्मन उनकी पक्की धुन देखकर कहा करते, 'इनकी सफलता आले पर रखी हुई है।'

कुछ ही दिनो बाद मैने देखा, गेडा-तालाब पर एक विशाल भवन मे मूलचद्रजी का कारबार बडे पैमाने पर बडे ठाट से चल रहा है। मुशी नवजादिकलालजी श्रीवास्तव के साथ मै उनसे मिलने गया। उसी मकान के ऊपरवाले तल्ले मे थे, सपरिवार रहते भी थे। उस समय तक पडित उमादत्तजी शर्मा भी उनके सहकारियो मे थे। जहा तक स्मरण है, मासिक 'विश्वमित्र' भी निकल चुका था और धडल्ले से चल भी चुका था। मूलचद्रजी ने प्रसगवश श्रीमुशीजी से कहा था—'स्टेट्समैन' की तरह हिन्दी का भी एक ही दैनिक भिन्न-भिन्न नगरो मे निकाला जा सकता है।' मुशीजी ने छूटते ही कहा—'क्यो नही, मगर यह काम आपके सिवा दूसरा नही कर सकता।' वे आकाश की ओर आख उठाकर मुसकरा पडे। क्या वह कोई ईश्वरीय सकेत था ?

पूज्य मालवीयजी

कलकत्ता नगर मे हिन्दू-महासभा का अधिवेशन हो रहा था। पजाब केसरी लाला लाजपतराय अध्यक्ष थे। इसलिए सनातनधर्मी हिन्दुओ मे बडी सनसनी थी। हॉलीडे पार्क (चितरजन एवन्यू) मे विशाल पडाल था। मै 'मतवाला'-मडल की ओर से पत्र-प्रतिनिधि था। धर्मप्राण मारवाडी भाई, सभापति के खयाल से, सनातन धर्म का पक्ष पुष्ट करने के लिए, काफी सख्या मे उपस्थित थे। उनके शीश पर व्याख्यान-वाचस्पति पडित दीनदयालु शर्मा के अभय वरद पाणि-पल्लव की छाया थी। महासभा का रुख देखकर वह छाया और भी सघन हो गई थी। श्रीविशुद्धानन्द-विद्यालय में 'सनातनधर्म-मडल' की नीव पडी। बूढा 'भारत-मित्र' इसी मडल का मुखपत्र बना।

हिन्दू-महासभा का विशेषाधिवेशन (कलकत्ता) पजाबकेसरी लाला लाजपतराय की अध्यक्षता मे हुआ था। मै उन दिनो 'मतवाला' मे काम करता था। लाहौर के उर्दू दैनिक 'वदेमातरम्' के सपादक लाला रामप्रसाद ने प्रस्ताव उपस्थित किया कि ईश्वर की दी हुई रोशनी और हवा सभी प्राणियो को समान रूप से नसीब है तो फिर ईश्वर की वाणी कहा जानेवाला जो वेद है उससे शूद्र वर्ग क्यो वचित रहे, अत जैसे ईश्वर-दत्त सभी प्राकृतिक साधन सबके लिए सुलभ है वैसे वेद भी शूद्रो के पढने के लिए सुलभ कर दिये जाये। इस प्रस्ताव का बडा ही जोरदार समर्थन स्वामी सत्यदेव परिव्राजक ने किया। दोनो ओजस्वी वक्ताओ

के व्याख्यान का जादू-सा असर हुआ। सारे पंडाल में सनसनी फैल गई। मतविभाजन की खलबली देख व्याख्यान-वाचस्पति पंडित दीनदयालु शर्मा ने महामना मालवीयजी से मंझधार पड़ी नैया का कर्णधार बनने की अपील की। हर्षोल्लासपूर्ण करतलध्वनि के बीच वे मंच पर आकर बोले—'ईश्वर-दत्त सभी विभूतियां मानवमात्र को सुलभ हैं सही, पर वायु परमात्मा का श्वास है और प्रकाश परमात्मा की नेत्रज्योति है, इन दोनों से वाणी की महत्ता कहीं अधिक है, इसलिए ईश्वरीय वाणी का प्रसाद ग्रहण करने के लिए मनुष्य में विशिष्ट पात्रता होनी चाहिए। वेद के पठन-पाठन के निमित्त घोर संयमशीलता की नितान्त आवश्यकता है। वेदवाणी अतिशय गूढ़ और सूत्ररूपिणी है, उसका अध्ययन-मनन वही कर सकता है जो ब्रह्मचारी और तपस्वी हो, सबके लिए वह सुगम नहीं। कलि में ऐसे लोगों का टोटा होने की संभावना समझ भगवान ने वेदों और उपनिषदों का सारभाग ग्रहण करके 'भगवद्गीता' को सर्वलोकोपकारार्थ प्रकट कर दिया। अतः गीता भी भगवद्वाणी ही है। वह सबके लिए सुगम है। सभी वर्णों और आश्रमों के लोग उसे पढ़कर वेदशास्त्रों के पढ़ने का पुण्य अर्जित कर सकते हैं। भगवान ने वैदिक वाङ्मय का विधिवत् मंथन करके जो दिव्य नवनीत निकाला है, वह उसमें संचित है। ज्ञान-विज्ञान के रहस्य के जिज्ञासुओं के लिए वह बोधगम्य भी है। देश की सभी भाषाओं में उसकी सरल टीका प्रकाशित करके जनता में प्रचारित किया जाए जिससे सब श्रेणी की जनता ईश्वरीय वाणी का अमृत-पान कर लाभान्वित हो।' इसके बाद तत्क्षण ही सेठ घनश्यामदास बिड़ला ने उठकर घोषित कर दिया कि मूल और टीका के साथ गीता की लाखों प्रतियां छपवाकर नाममात्र मूल्य में सर्वसाधारण के लिए सुलभ कर दी जाएंगी। सारा सभामंडप महामना की जय-जयकार से गूंज उठा।

कार्तिकेयचरण मुखोपाध्याय

कार्तिकेयचरण मुखोपाध्याय छपरा (सारन) के निवासी थे। उनके पूर्वज उन्नीसवीं सदी में ही छपरा आ बसे थे। उनका मौरूसी मकान सरयू नदी के तट पर—धारा से थोड़ी दूर पर—था। उनके पितृव्य श्री भवानीचरण मुखोपाध्याय ने उन्नीसवीं सदी के अंतिम चरण में छपरा से 'सारन सरोज' नामक हिन्दी-मासिक पत्र निकाला था, जिसके संपादक स्वनामधन्य पंडित अंबिकादत्त व्यास थे। इस प्रकार उनको अपनी वंश-परम्परा से ही हिन्दी-प्रेम प्राप्त हुआ था। मुझे अपने कलकत्ता-प्रवास के समय उनके साहचर्य का सुख-सौभाग्य प्राप्त था। वह वहां 'भारत-मित्र', 'हिन्दू पंच', 'विजय', 'दारोगा-दफ्तर', 'बांसुरी' आदि पत्रों के संपादन का काम करते रहे। कहीं सहकारी रहे और कहीं प्रधान। 'पंच' के

प्रधान सपादक प० ईश्वरीप्रसाद शर्मा के आकस्मिक निधन के बाद वही उनके स्थान पर काम करने लगे। दफ्तर के तो वही मुख्य सपादक थे।

जिस समय वह श्री बैजनाथ केडिया के वणिक् प्रेस मे साप्ताहिक 'विजय' का सपादन करते थे, उस समय मै भी उसी प्रेस के सचित्र मासिक पत्र 'उपन्यास तरग' का सपादक था। सध्या अवकाश होने पर आग्रहपूर्वक अपने घर ले जाते और स्वय 'घमजा' तरकारी तथा खाजानुमा खस्ता पराठे बनाकर खिलाते। पान खाने और बनाने के भी बडे शौकीन थे। पान की सेवा करने मे उनकी जैसी लगन थी वैसी केवल प किशोरीलाल गोस्वामी मे ही देखने मे आयी। प्रात कालीन स्नान-ध्यान के बाद सबमे पहले पान और उसके मसाले के सुधारने-सवारने मे ही लग जाते थे। बीडे से भरा डिब्बा लेकर ही लिखने-पढने बैठते थे।

पाडुलिपि और प्रूफ के सशोधन मे वह घोर परिश्रम करते थे। इन कामो मे वह अत्यत निपुण माने जाते थे। यो दक्ष तो वह अनेक कामो मे थे। रसोई बनाने से लेकर सुगधित तेल और साबुन बनाने तक मे उनकी कुशलता देख दग रह जाना पडता था। करघे पर कपडे बुनना, कागज और दफ्ती बनाना, जडी-बूटियो की वाटिका मे तरह-तरह के पौधे उगाना, नाना प्रकार के औषध तैयार करना, मिट्टी के खिलौने गढना, आदि उनके घरेलू उद्योग-धधे थे। अनेक प्रकार की अर्थकारी विद्या वह जानते थे। जीवन के अतिम दिनो मे अपने घर रहते समय गृहकुटीर-उद्योग ही उनकी जीविका का आधार था। कितनी ही स्वदेशी प्रदर्शनियो मे वह कुटीर-शिल्प की वस्तुए सजाने और प्रदर्शित करने के लिए बुलाए जाते थे। उनके हस्त-कला-कौशल का यथेष्ट विवरण देना शक्य नही है।

कलकत्ता मे रहते समय तो उनके सत्सग के अवसर मिलते ही रहे, जब मै छपरा राजेन्द्र कॉलिज मे था तब भी उनसे बराबर मिलता-जुलता रहा, क्योकि मेरा और उनका निवास स्थान पास ही पास था—मेरा रतनपुरा मे और उनका कालीबाडी मे। उनके घर मे भगवती दुर्गाजी का मदिर था, इसलिए कालीबाडी कहलाता था। उनके दरवाजे पर रथयात्रा का विशाल रथ देख मैने एक बार पूछा तो बोले कि मेरे आगन का यह काली-मदिर और भव्य रथ मेरा पैतृक धन है। उनके पूर्वजो मे कई ऐसे सिद्धपुरुष हो चुके थे, जिन्होने तत्र-मत्र की सिद्धि से समाज मे बडी प्रतिष्ठा और सपत्ति अर्जित की थी।

उनका शारीरिक सौदर्य बडा आकर्षक था। उनकी रमणीय मुखाकृति और बडी-बडी आखे दर्शनानदवर्धक थी। 'हिन्दू पच' कार्यालय मे प० ईश्वरीप्रसादजी उनसे मजाक मे कहा करते थे कि ब्रह्मा ने ससार मे आपके मनोहर रूप को पुरुषावरण मे भेजकर बहुतेरो को प्रेम-सकट से बचा दिया, नही तो राह चलते कितनी ही दुर्घटनाएं हो जाती। सच पूछिए तो उनका हृदय और स्वभाव उनके रूप से भी अधिक सुन्दर था। वह केवल अपने सहकर्मियो के ही सुहृदय न थे, जो

कोई उनके सपर्क मे आता वह उनकी विनयशीलता और मिलनसारी से प्रभावित हुए बिना न रहता।

उन्होने लगभग तीस वर्ष तक नियमित रूप से हिन्दी-सेवा का व्रत निबाहा। लगभग तीन दर्जन पुस्तके भी लिखी, जिनमे इतिहास, जीवनी, पौराणिक आख्यान, साग-भाजी की खेती, दस्तकारी, कथा-साहित्य आदि अनेक विषय सम्मिलित है। अग्रेजी और बगला से हिन्दी-अनुवाद करने मे वह बडे सिद्धहस्त थे। श्री रामलाल वर्मा ने अपनी बर्मन कपनी से 'लन्दन-रहस्य' नामक पुस्तकमाला बडी सजधज मे प्रकाशित की थी। उसके कई खडो का अनुवाद कार्तिक बाबू ने अग्रेजी से ही किया था। उनकी पुस्तको मे अधिकाश उक्त कपनी से ही प्रकाशित है। 'दारोगा-दफ्तर' जासूसी मासिक पत्र था। उसके लिए तो उन्हे सदैव अग्रेजी और बगला से ही अनुवाद करके मसाला जुटाना पडता था। इन दोनो भाषाओ के कई जासूसी और रोमाचक उपन्यासो का भी उन्होने हिन्दी मे अनुवाद किया था, जो अधिकतर उक्त कपनी से ही निकले थे। 'हिन्दू पच', 'विजय', 'बासुरी' आदि स्वसपादित पत्रों के लिए वह जो सपादकीय अग्रलेख और टिप्पणिया लिखते थे, उनमे भी सामयिक राजनीति की समस्याओ पर बडी निर्भकिता से अपने विचार व्यक्त करते थे।

उनके लिखे अक्षर बडे सुडौल और सुवाच्य होते थे। अर्जित धन के सदुपयोग की भावना से ही वह मितव्ययी थे। घर मे ही लिफाफा, निब, स्याहीसोख कागज, चिट्ठी लिखने का कागज, कलम, कपडे रगने के रग आदि बना लेते थे। साहित्य-शिल्पी थे ही, अनेक उपयोगी कलाओ की वस्तुओ के भी शिल्पी थे।

श्री पारसनाथ सिंह

उनसे पहले-पहल कलकत्ता मे भेट हुई थी जब १९२० ई० मे असहयोगी होने के बाद मैं मासिक 'मारवाडी-सुधार' का सपादक होकर कलकत्ता आ गया था। उस समय वे 'स्वतत्र' के सपादकीय विभाग मे सहायक थे। ऑफिस-टाइम के बाद वे प्राय· प० जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी के पास जाया करते थे। प० ईश्वरी प्रसाद शर्मा और प० सकलनारायण शर्मा[1] से उनकी बडी घनिष्ठता थी। ये दोनो

---

१. प० सकलनारायण शर्मा उस समय कलकत्ता विश्वविद्यालय मे सस्कृत के व्याख्याता थे। वे आरा नगर के निवासी और आरा-नागरी-प्रचारिणी सभा के सस्थापको मे थे। पटना की साप्ताहिक पत्रिका 'शिक्षा' का उन्होंने अनेक वर्षों तक सपादन किया था। वे संस्कृत, हिन्दी और बगला के उद्भट वक्ता थे।

भी चतुर्वेदीजी के यहा बराबर आते-जाते थे। चतुर्वेदीजी के घर पर सुबह-शाम साहित्यिक जमघट मे केवल भाषा-सबधी विचार-विमर्श होता था। उसमे चतुर्वेदी जी और दोनो शर्माजी के साथ उनकी (पारस बाबू की) जो तर्क-युक्ति-सहित बातचीत होती थी, उससे उनकी मननशीलता का पता लगता था।

एक बार उन्होने चतुर्वेदीजी के यहा साहित्यिको की चिट्ठियो की भाषा पर विचार होते समय आचार्य महावीरप्रसादजी द्विवेदी का एक पत्र दिखलाया था। उसमे द्विवेदीजी ने उन्हे बधाई दी थी। उन्होने (पारस बाबू ने) महाकवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर की एक बगला-कविता का हिन्दी-पद्यानुवाद किया था। वह कविता 'सरस्वती' मे छपी थी। उसका शीर्षक सभवत 'सध्या का दीप' था। द्विवेदीजी को उनका अनुवाद बढिया जचा था, इसलिए प्रोत्साहन का पत्र लिखा था कि अनुवाद मे मौलिक कविता का आनद मिलता है।

जब मै सुल्तानगज (भागलपुर) से प्रकाशित 'गगा' मासिक पत्रिका का सपादक था, तब उन्होने 'वैशाली' सबधिनी एक लेखमाला लिखी थी। गुणग्राही साहित्यकारो ने उस लेखमाला की बडी प्रशसा की थी। उससे उनकी गवेषणात्मक प्रवृत्ति का पता लगता था।

पटना से जब 'हिमालय' निकला, तब फिर मैने और भाई बेनीपुरीजी ने उनका स्मरण किया। उन्होने बडी कठिनाई से समय निकालकर 'खा साहब' का रेखाचित्र इतनी स्वाभाविकता से अकित किया था कि 'हिमालय' के सुधी पाठको ने उनसे और भी लिखवाने का आग्रह किया।

एक बार मै पटना के 'सर्चलाइट प्रेस' मे उनसे मिलने गया, तो देखा कि उनका ज्योतिष-शास्त्र-सबधी अध्ययन चल रहा है। अग्रेजी के बडे-बडे ग्रथ उनके चारो ओर पडे थे। उसी विषय के सबध मे वे कुछ चर्चा करने लगे। उस समय उनके पाडित्य के प्रति मेरे मन मे अनायास श्रद्धा उत्पन्न हो आयी।

मेरे चिरपरिचित साहित्यिक मित्र प० विश्वम्भरनाथ जिज्जा[1] एक बार उनके साथ पटना आये, तो मिलने पर मुझसे कहने लगे कि जब वे बोलकर कुछ लिखवाने लगते है, तब उनकी विलक्षण स्मृति-शक्ति देख बडा आश्चर्य होता है। सचमुच वे सरस्वती के वरद पुत्र थे।

उन्होने पडित पद्मसिंह शर्मा के निबधो का सग्रह प्रकाशित कराया था। वे साहित्यिको की कीर्ति-रक्षा के बडे हिमायती थे। अवसर पाकर साहित्यिको की सहायता भी किया करते थे। बहुत-से गरीब विद्यार्थियो को अज्ञात रूप से आर्थिक

---

१ हिन्दी के प्रसिद्ध कथाकार और पत्रकार। बहुत दिनो तक प्रयाग के लीडर प्रेस मे दैनिक 'भारत' के सपादकीय विभाग मे सहकारी।—स०

सहायता देते थे। मैंने एक बार एक छात्र को उनके पास भेजा था। वह बेचारा सफल-मनोरथ होकर लौटा और उनकी उदारता और सहृदयता की भूरि-भूरि प्रशसा करने लगा। किंतु उनके परोपकार के काम कभी प्रकाश मे नही आये। वे कीर्ति और प्रतिष्ठा की कामना से सदा दूर ही रहे।

बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् से जब उनकी 'जगत्-सेठ' नामक पुस्तक पर एक हजार रुपये का पुरस्कार मिला था, तब मैने परिषद् के कार्य-विवरण मे छापने के लिए उनका सचित्र परिचय मागा था। उन्होने बहुत अनुनय-विनय करने पर भी अपना परिचय छपवाना स्वीकार नही किया। तब मैने बहुत आग्रह करके उन्हे इस बात पर राजी किया कि दूसरे किसी सूत्र से प्राप्त करके मैं काम चलाऊ। ऐसे वे नि स्पृह, सकोची और विनयी थे।

परिषद् के वार्षिकोत्सव मे पुरस्कार लेने के लिए वे स्वय आने मे बहुत सकुचाते रहे। उस दिन वे पटना के अस्पताल मे थे। प्रयत्न करके वे लाये जा सकते थे, पर आत्म-विज्ञापन उन्हे अभीष्ट न था। आखिर मै ही पुरस्कार-द्रव्य और ताम्रपत्र लेकर उनके पास अस्पताल मे गया। उस समय की उनकी कारुणिक मुखमुद्रा और सजल दृष्टि आज भी नही भूलती। उनके गद्गद् कठ से कोई वाणी नही निकली। ऐसे निष्काम साहित्यसेवी बहुत कम देखने मे आते है।[1]

आचार्य गुलाबरायजी

जब मै कलकत्ता के 'मतवाला'-मडल मे था (१९२३-२४), तब श्रीगुलाबरायजी की 'नवरस' नामक प्रसिद्ध पुस्तक का प्रथम सस्करण आरा (बिहार) की नागरी-प्रचारिणी सभा की ओर से मैने ही छपवाया था।[2] फिर उसका परिवर्द्धित

---

१. पटना के सर्चलाइट प्रेस मे १५ अक्तूबर, १९५४ को आठ बजे प्रात काल उनका आकस्मिक निधन हुआ। मैने और परिषद् के प्रकाशनाधिकारी श्रीअनूपलाल मडल ने साथ जाकर उनके शव पर पुष्पाजलि समर्पित की थी।

२ ' 'साहित्य-सदेश' के लब्धकीर्ति सपादक डॉक्टर गुलाबरायजी को मै १९१४ से ही जानता था। आरा के 'प्रेम-मदिर' से कुमार देवेन्द्रप्रसाद जैन ने उनकी दो पुस्तके पहले-पहल प्रकाशित की थी—'फिर निराशा क्यो?' और 'मैत्री-धर्म'। इन दोनो पुस्तको की छपाई मेरी ही देख-रेख मे हुई थी। फिर 'मैत्री-धर्म' का नवीन सस्करण भी मेरी ही देख-रेख मे 'पुस्तक-भडार' (लहेरिया सराय) से प्रकाशित हुआ था। इनके छपने से पहले भी मै श्रीगुलाबरायजी का

सस्करण भी बृहदाकर मे प्रकाशित हुआ। इस तरह उनकी कई पुस्तको का प्रूफरीडर होने के कारण मुझे उनकी विवेचनात्मक और विचारोत्तेजक शैली के अनुशीलन का आनद उपलब्ध हो चुका था।

श्रीगुलाबरायजी के अतिम दर्शन का सौभाग्य जयपुर मे सभवत. सन् १९४४ ई० मे हुआ था। उसके बाद फिर उनके साक्षात्कार का सुयोग सुलभ नही हुआ। जयपुर मे अखिल-भारतीय हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन का महाधिवेशन गोस्वामी गणेशदत्तजी के सभापतित्व मे हुआ था। उस समय सर मिर्जा इस्माइल साहब रियासत के प्रधान मत्री थे। सभी प्रतिनिधियो के पारस्परिक परिचय का समारोह विशेष आयोजन के साथ हो रहा था। मिर्जा साहब के साथ प्रमुख साहित्यसेवियो का फोटो लिया जा रहा था। राजर्षि टडनजी, प० माखनलाल चतुर्वेदी, प० बनारसीदास चतुर्वेदी आदि मिर्जा साहब के साथ अगली पक्ति मे खडे थे। मै श्रीगुलाबरायजी के साथ सभा से निकला तो पक्तिबद्ध होने के बदले हम लोग आखे बचाकर बाहर निकल गये। श्रीगुलाबरायजी हसते हुए कहने लगे कि बहुत-से सज्जन बडे शौक से कतार मे शामिल हो गये है और कितने ही लोग पक्ति के पीछे खडे उचक-उचककर फोटो खिचवा रहे है।

कवीन्द्र रवीन्द्र

१९२५ कलकत्ता के 'कला-थियेटर' मे सभवत 'भिखा-दान' नामक एकाकी बगला-नाटक अभिनीत होनेवाला था। नगर के अन्य थियेटरो के रगमच पर भी यही नाटक खेला जा चुका था। फिर भी उत्सुक दर्शको की भीड अपार थी। नाट्यशाला मे कही तिल रखने की जगह नही, टिकट घर के सामने सौ-सौ के नोट दिखाकर लोग हताश लौट आये। रवि बाबू के परिवार की महिलाए रगमच पर उतरनेवाली थी। विश्वभारती के लिए धन-सग्रह का एक आयोजन था। कलकतिया अखबारो ने विश्वभारती के सहायतार्थ एक-एक पृष्ठ विज्ञापन नि.शुल्क

शुभ नाम सुन चुका था। वे छतरपुर-नरेश के साहित्य-मत्री थे। मिश्रबधु भी छतरपुर-दरबार मे ही थे। उन लोगो की प्रेरणा से महाराज ने बिहार के सुप्रसिद्ध साहित्य-सेवी बाबू व्रजनदन सहाय 'व्रजवल्लभ' को आमत्रित करके सम्मानित किया था। व्रजवल्लभजी वहा से लौटने पर कहने लगे कि श्रीगुलाबरायजी की प्रतिष्ठा वहा दर्शनशास्त्र के प्रकाड विद्वान के रूप मे है और उन्ही के कारण वहा साहित्यकारो का आदर-मान होता है। कुमार देवेन्द्रप्रसाद जैन भी श्रीगुलाबरायजी की विद्वता और दार्शनिकता से बहुत प्रभावित थे।'

छापकर चार-चार 'पास' पाये थे ।

परदा सादा । रगमच सादा । अभिनेतृवर्ग का वेश-विन्यास सादा । कोई टीमटाम नही । कोई तडक-भडक नही । उस सादगी मे भी कैसी शोभा थी ! इयमधिकमनोज्ञा वल्कलेनापि तन्वी ! वैसा अलौकिक नृत्य-सगीत कभी देखा-सुना न गया । अप्सरा-लोक और इन्द्र का अखाडा सौ-सौ बार निछावर ।

अभिनय का आरम्भ होने के पूर्व । रगमच पर एक ऋषि की-सी दिव्य मूर्ति दीख पडी । जोगिया रग का आगुल्फ रेशमी झूल । हरे मखमल का नुकीला जूता । सन-सी सफेद दाढी पर चमकीले चश्मे का काला रेशमी धागा । नयनाभिराम सौम्य रूप । ईश्वर ने अगो मे उनके कितना सौंदर्य छलका दिया था । हृदय मे उससे भी अधिक माधुर्य । हृदय की माधुरी मानो नेत्रों मे उमड आयी थी । एक-एक दृष्टिपात मे कितनी मनोज्ञता और सरलता थी ! कोमल कठ से बोले—'पेशेवर कपनी का खेल नही है । गृहदेवियां केवल विश्वभारती के लिए सार्वजनिक रगमच पर आयेगी । शात चित्त से देखिए सुनिए, करतल-ध्वनि न कीजिए ।'

वाणी की मधुरिमा अनिर्वचनीय । जैसे—कोई देवदूत अमृत छिडक गया हो । सब लोग भित्तिचित्र-से हो रहे । ललित कला की प्रभामयी प्रतिमाओं से आलोकित वह रगशाला धरातल पर नदन-कानन के वसतोत्सव की चित्रशाला-सी जान पडी ।

जहा तक याद है, केवल पौन घटे का अभिनय था । कलकत्ता नगर के सभी थिएटर-भवनो मे एक-दो रात वह नाटक खेला गया था । वे स्वय रगमच पर उतरे थे । उस समय भी वे देवागनाओं और अप्सराओं के मध्य मे देवराज इन्द्र के समान शोभा पाते थे । रगशालाओं मे स्थानाभाव के कारण लोग भूमि पर भी बैठते थे । अतिम दृश्य मे मुग्ध दर्शकों ने रगमच पर चश्मा, घडी, रुपये और स्त्रियों ने आभूषण आदि की राशि एकत्रित कर दी थी । उनका परिवार भी बडा दिव्य था । हर तरह से भगवान ने उन्हे आकर्षण का केन्द्र बनाया था । वे अपने युग की एक ईश्वरीय विभूति थे ।

हिन्दी के बहुतेरे साहित्य-सेवियो को उनके रचे हुए साहित्य से प्रेरणा मिली है । मुझसे भी ऐसा प्रश्न किया गया था । किंतु दुर्भाग्यवश मै कवि नही हू, इसलिए महाकवि से मेरे प्रेरणा पाने का प्रश्न ही नही उठता । मैने जीवनभर मे जो केवल पद्रह मौलिक कहानिया लिखी है,[1] उनकी रचना मे भी मुझे महाकवि से किसी प्रकार की प्रेरणा लेने का सौभाग्य नही प्राप्त हुआ । महाकवि के ललित

१. ये कहानिया 'विभूति' शीर्षकातर्गत सकलित होकर बाद मे पुस्तक भडार (लहेरिया सराय) से प्रकाशित हुई थी ।

गद्य के काव्यात्मक सौंदर्य की ओर आकृष्ट होने के कारण उनके कथा-साहित्य और निबध-साहित्य मे मन अवश्य रमा, पर उस अध्ययन का कोई गहरा प्रभाव मेरे गद्य पर न पडा, जो आज भी मेरे ध्यान मे हो। महाकवि की कल्पना, अनुभूति और अभिव्यक्ति की ऊचाई या गहराई तक पहुचने की क्षमता ही मुझमे नही थी। यह मेरी निजी धारणा है। यो तो मेरी रचनाए सुधी समीक्षको की कसौटी पर कैसा परिणाम उपस्थित करेगी, यह मेरे कहने की बात नही। मै विशेषत अपने हिन्दी-जगत् के समर्थ साहित्यकारो की शैलियो से ही प्रभावित हुआ। कूसी (गाजीपुर) के निवासी प० रामगोविंद त्रिवेदी वेदातशास्त्री हिन्दी के प्रसिद्ध सस्कृतज्ञ विद्वान् और लेखक है। उन्होंने कलकत्ता मे भारती प्रेस खोला था। उसी प्रेस से मेरी कहानियो का सग्रह पहले-पहल १९२२ मे 'महिला महत्त्व' शीर्षक से निकला था। शास्त्रीजी ने रवि बाबू से उसकी भूमिका लिखवाने का प्रयत्न किया। लेकिन मुझे इतनी बडी हिमाकत पसद न आई। मैने इसे अपनी अनधिकार चेष्टा समझ शास्त्री से निवेदन किया कि वे ऐसा प्रयास न करे। कलकत्ता-प्रवास के समय कई बार मैने कवि के दर्शन करने और भाषण सुनने का सुअवसर पाया, पर कभी उनसे लिखवाने का दुस्साहस न किया। जोडासाकू (अपर चितपुर रोड) की राजबाडी मे प० गागेय नरोत्तम शास्त्री के साथ कवि के समागम का सौभाग्य प्राप्त हुआ था, जिसमे शास्त्रीजी ने उन्हे सस्कृत-हिन्दी कविताए सुनाई थी और उनका हस्ताक्षर भी लिया था। शास्त्रीजी नागराक्षरो मे उनके हस्ताक्षर चाहते थे, पर उन्होंने बंगाक्षरो मे ही स्वाक्षर देने की इच्छा प्रकट की। उस समय भी मै उनकी बाकी-झाकी मात्र से ही सतोष करके रह गया।

रवि बाबू से हिन्दी ने बहुत कुछ पाया और रवि बाबू ने भी हिन्दी से बहुत-कुछ ग्रहण किया। अपने पूर्ववर्ती कवियो से प्रभावित होना कोई अस्वाभाविक बात नही है। यद्यपि वे हिन्दी नही बोलते थे तथापि हिन्दी समझते खूब थे। जब मै कलकत्ता के 'मतवाला'-मडल(सन् १९२३-२४) मे था, तब 'मतवाला'-सपादक बाबू महादेवप्रसाद सेठ और मुशी नवजादिकलाल बहुत श्रद्धा से महाकवि के दर्शनार्थ गये थे। उसी यात्रा मे चदर नगर के 'प्रवर्तक'-आश्रम मे मोतीलाल बाबू के दर्शनो का भी सुयोग मिला था। मोतीलाल बाबू का रूप और व्यक्तित्व बहुत तेजस्वी और प्रभावशाली था। रवि बाबू का रूप जैसा दिव्य था, व्यक्तित्व भी वैसा ही आकर्षक था। मोतीलाल बाबू एक साधक योगी के समान प्रतीत हुए। रवि बाबू साहित्य और कला के मूर्त रूप-से दिखाई पडे। सौदर्य और सौरभ के सघन वातावरण मे विराजमान राजर्षि के रूप मे उनका मनोमुग्धकर दर्शन वस्तुत आह्लादकारी था। सेठजी उनसे बगला मे ही बातें करते रहे, अत उनकी ओर कवि विशेष रूप से उन्मुख रहे। किन्तु मुशीजी आद्यत केवल हिन्दी मे ही

बातचीत करते रह गये, अत इनकी ओर कवि का झुकाव कम रहा। इस बात की चर्चा लौटती बार रास्ते मे बराबर होती आयी। मुशीजी को यह बात कुछ खली भी थी।

४

वे कुछ दिन

लखनऊ १९२४

•

शिवजी अप्रैल, १९२४ मे 'माधुरी'-सपादक दुलारेलाल एव प० रूपनारायण पाडेय के बार-बार बुलावे पर, कुछ मनमुटाव के कारण 'मतवाला'-मडल को छोडकर लखनऊ पहुचे और 'गगा-पुस्तक-माला' तथा 'माधुरी' के सपादन-कार्य मे सहयोगी बने। 'माधुरी' के सपादक-मडल मे प० कृष्णबिहारी मिश्र भी थे। शिवजी अमीनाबाद पार्क के पास रॉयल हिन्दू होटल मे रहते थे। उनके साथ उसी होटल मे उनके सहकर्मी प० शातिप्रिय द्विवेदी, श्रीमद्भागवत प्रसाद एव प० भगवती प्रसाद त्रिपाठी भी रहते थे। सितम्बर, '२४ तक दुलारेलाल के बुलावे पर प्रेमचदजी भी लखनऊ आ चुके थे, और उनके प्रसिद्ध उपन्यास 'रगभूमि' की पाडुलिपि के सशोधन-सपादन का कार्यभार शिवजी को मिला था। इस बीच अचानक १३-१४ सितम्बर को लखनऊ मे भयकर हिन्दू-मुस्लिम दगा मच गया और शिवजी को अपना सारा सामान—अनेक पाडुलिपिया, डायरिया, नोटबुक, चिट्ठी-पत्री आदि बहुमूल्य साहित्यिक सामग्री—होटल मे ही छोड जान बचाकर भागना पडा। लखनऊ मे शिवजी का यह प्रवास कुल छह-सात महीनो का ही रहा, यद्यपि नवम्बर १९२४ मे पुन एक बार कुछ दिनो के लिए वे लखनऊ गये थे। किन्तु इसी अवधि मे उनका सपर्क 'माधुरी' परिवार के सदस्यो के अलावा प० बदरीनाथ भट्ट, प० दयाशकर दुबे, प० दशरथप्रसाद द्विवेदी आदि से हुआ। प्रेमचन्द एव प० कृष्णबिहारी मिश्र वाले सस्मरणो मे उन्ही दिनो की चर्चा है।

प्रेमचन्दजी

बीसवी सदी की दूसरी बीसी का श्रीगणेश असहयोग-आन्दोलन के साथ हुआ था। मै उस आन्दोलन के वेग मे बहकर कलकत्ता पहुचा। वहा हिन्दी-पुस्तक-एजेन्सी की दूकान मे, जो उस समय हरिसन रोड और चित्तरजन-पथ के सगम के पास थी, प्रेमचन्दजी के सर्वप्रथम दर्शन का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। मेरे साहित्यिक गुरु पडित ईश्वरीप्रसाद शर्मा ने उनके सामने मुझे 'मारवाडी-सुधार' के सपादक के रूप मे पेश किया था। उन्होने अपने प्रथम कहानी-सग्रह 'सप्तसरोज' की एक प्रति मुझे आशीर्वाद-स्वरूप देने की कृपा की।

पहली भेट एक आकस्मिक घटना थी। दूसरी बार उनके साथ घनिष्ठता बढाने का सुयोग मिला, लखनऊ मे। मैं 'माधुरी' के सपादन-विभाग मे काम करता था। कुछ दिनो बाद वे भी 'माधुरी' के सपादक होकर आये। उसी समय उनका 'रगभूमि' नामक बडा उपन्यास वहा छपने के लिए आया था। उसकी पूरी पाडुलिपि उन्होने पहले-पहल देवनागरी-लिपि मे अपनी ही लेखनी से तैयार की थी। श्रीदुलारेलालजी भार्गव ने गगा-पुस्तक-माला के नियमानुसार उसकी प्रेस-कॉपी तैयार करने के लिए मुझे सौपी। प्रेमचन्दजी ने उतना बडा पोथा पहले-पहल नागराक्षर मे लिखा था, उसका ऐतिहासिक महत्त्व था। वह पाडुलिपि (प्रेस-कॉपी) यदि आज कही सुरक्षित होती!

उस समय 'माधुरी'-सपादन-विभाग अमीनाबाद-पार्क से उठकर लाटूश रोड मे आ गया था। पडित कृष्णबिहारी मिश्रजी भी सपादकीय विभाग में थे। वे बडी शान्त प्रकृति के गभीर साहित्यसेवी थे। उनके विनोद बडे सरस और हास्योत्तेजक होते थे। वायुमडल को गुजानेवाला प्रेमचन्दजी का ठहाका और बात-बात मे मिठास भरने वाली मिश्रजी की मुसकान—दोनो अतुलनीय।

वह नागरी-लिपि मे लिखा पहला उपन्यास दर्शनीय था। शायद ही कही लिखावट की भूल हो, तो हो। भाषा तो उनसे कोई बरसो सीखे। लेखनी का वेग ऐसा कि सयोगवश ही कही कट-कुट मिले। कथावस्तु की रोचकता लिपि-सुधार मे बाधा देती थी। घटनाचक्र मे पड जाने पर सपादन-शैली के निर्धारित नियम भूल जाते थे। ध्यान से भाषा पढने के कारण कितने ही सुन्दर प्रयोग सीखने का सुअवसर मिला।

उर्दू के बहुत-से लखनवी लेखक और बाहरी उर्दू-लेखक भी उनसे मिलने और सलाह लेने के लिए प्राय: कार्यालय मे आते रहते थे। उर्दू के साहित्य-ससार मे उनकी बडी धाक और प्रतिष्ठा थी। उर्दू के साप्ताहिक 'प्रताप' (लाहौर) मे वे प्राय कहानी भेजा करते थे। कई कहानियो की फारसी-लिपि मैंने देखी थी। वह बहुत साफ-सुथरी लिखावट थी। उनके अक्षर छोटे थे। वे शिकस्त हरूफ

लिखने के आदी नही थे। भाषा तो उनकी चेरी थी।

उस समय पडित शान्तिप्रिय द्विवेदी भी उसी कार्यालय मे थे। हम दोनो साथ ही रहते थे। शान्तिप्रियजी उन दिनो खूब हसा-हसाया करते थे। पडित कृष्णबिहारीजी की चुहले और प्रेमचन्दजी के चुटकुले दोनो का रग निराला होता। मिश्रजी कभी-कभी हिन्दी के अनूठे दोहे सुनाते और प्रेमचन्दजी उर्दू के ला-सानी लतीफे। उनका अट्टहास सुनकर कार्यालय के कर्मचारी उन्हे एकटक देखने लग जाते। शान्तिप्रियजी को दोनो ही महारथी बहुत प्यार करते थे और उनसे दिल भी बहलाते थे। छुट्टी के दिन प्रेमचन्दजी से मिलने जाने पर 'शिरनी' जरूर मिलती थी। कार्यालय मे भी पान उन्ही का चलता था। घर पर बराबर गुडगुडी पीते रहते थे। चिलम शायद ही कभी ठडी होती थी। तम्बाकू खूशबूदार खुद खरीद लाते थे। उनका 'सखुन-तकिया' सुनकर मिश्रजी के भी अट्टहास का फव्वारा फूट पडता था। उसी तरह काशी मे 'प्रसादजी' का भी। राय कृष्णदासजी के शब्दो मे—'हिन्दी-ससार के दो अनोखे ठहाकेबाज—प्रसाद और प्रेमचन्द !'

काशी मे जब प्रसाद और प्रेमचन्द एकत्र होते, तब मानो ठहाकेबाजी की होड-सी लग जाती। दोनो दिल खोलकर हसते। बनारस-कोतवाली के पिछवाडे नारियल-बाजार मे प्रसादजी की लगभग सवा सौ वर्ष पुरानी दूकान है—जर्दा-सुरती-सुघनी की। उसके सामने के तख्ते पर प्रसादजी की साहित्यगोष्ठी जमती थी। उस समय हिन्दी-ससार का कौन ऐसा साहित्य-महारथी था, जो उस तख्तपोश पर कुछ देर न बैठा हो। (प्रेमचन्दजी ने प्रसादजी के एक ऐतिहासिक नाटक पर अपने 'हस' मे लिख दिया था—'गडे मुर्दे उखाडना' इत्यादि। पर उसके बाद ही जब दोनो मिले, तब पहले की तरह खुले दिल से ही हसे-बोले। किसी के दिल मे कोई मैल नही।) बात-बात मे खिलखिलाते और उनके जोरदार ठहाके सुनकर बगल की अटारियो से अप्सराओ की मृदु-मन्द-मधुर खिलखिलाहट भी गूज उठती।

जब काशी मे प्रेमचन्दजी ने पहले-पहल सरस्वती प्रेस खोला, तब मै भी काशी मे ही रहता था। काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा के पासवाले मैदागिन-पार्क के पश्चिमोत्तर कोने पर एक छोटे-से मकान मे प्रेस खुला। छोटे-से खुले ओसारे मे आफिस था। लखनऊ के बाद वही उनके दर्शन होते रहे। मै बराबर उनकी सेवा मे पहुचा करता। शाम को प्रेस मे दिन-भर की आमदनी का हिसाब जोडा जाता। कर्मचारियो को रोज कुछ-न-कुछ देना ही पडता। सबकी माग रोज नही पूरी होती थी। किन्तु प्रेमचन्दजी सबके सामने आमदनी का हिसाब रख देते और कहते, इतने पैसे मे तुम्ही लोग अपने और मेरे लिए ब्योत कर दो, मुझे पान-तम्बाकू और एक्का-भाडा-भर देकर बाकी आपस मे बाट लो। उनको हसते-हसते ऐसा कहते सुनकर सब कर्मचारी भी हसने लगते। फिर रुपया चाहनेवाला अठन्नी

पर और अठन्नी मागने वाले चवन्नी पर ही प्रसन्नता से सतोष करते। जिस दिन मजदूरो की माग पूरी हो जाती, उस दिन प्रेमचन्दजी बहुत प्रसन्न हो जाते थे। अपने कर्मचारियो से उनकी हार्दिक सहानुभूति थी। श्रमिक-वर्ग के लिए अपनी रचनाओ मे उन्होने जो सद्भाव प्रदर्शित किये है, वे उनकी बोलचाल और व्यवहारो मे भी प्रत्यक्ष दीख पडते थे। जरूरतमन्द के सामने वे अपनी जरूरतो को भूल जाते थे।

सब कर्मचारियो को यथायोग्य पैसे दे चुकने के बाद वे बचे-खचे पैसे लेकर मैदागिन से चौक चले जाते। कई बार मै भी उनके साथ उधर गया। लखीचौतरा पहुचकर एक ढोली पान खरीदते। एक तमोली उनका मोदी था। उसी से रोज ढोली लेते। वह भी अच्छी चुनकर देता। छाते को कधे पर सीधा रखकर उसके पिछले छोर मे रूमाल मे बधी ढोली लटका लेते और पिछले छोर मे मुश्की तम्बाकू की पोटली। कभी-कभी पैसे कम पड जाते तो अपने गाव का एक्का खोजते हुए कुछ दूर पैदल ही चल पडते, या पिसनहरिया तक ही किसी एक्के पर जाकर, आगे फिर गाव तक पैदल चलते थे। इस कठिनाई का वर्णन प्रेस मे बैठे-बैठे हस-हसकर किया करते थे। किसी दिन कहते कि अरदली-बाजार या वरुना-पुल तक पैदल जाने के बाद गाव का एक्का मिला था। एक बार कपडे का फीतेदार जूता खरीदा तो उसकी एडी दबाकर चप्पलनुमा बना ली, और कहने लगे कि एडीदार जूते से पैदल चलने मे कष्ट होता था, इसलिए उसे चप्पल कर दिया। प्रेस की आर्थिक दशा से वे चिन्तित तो रहते थे, पर उनके स्वाभाविक अट्टहास मे कोई अन्तर नही पडता था।

कुछ दिनो बाद सरस्वती प्रेस जब मृत्युञ्ज-महादेव के पास एक बडे फाटक के अन्दर प्रशस्त भवन मे चला गया, तब आर्थिक स्थिति मे कुछ सुधार हुआ। मुद्रण-कला-विशेषज्ञ श्रीप्रवासीलाल वर्मा उस समय प्रेस के प्रवन्धक थे। उन्ही दिनो मासिक 'हस' और साप्ताहिक 'जागरण' का प्रकाशन प्रेमचन्दजी के सपादकत्व मे चल रहा था। दोनो पत्रो मे प्राय मेरी रचनाए छपती थी। मेरे लिखे 'क्षण-भर' (व्यग्य विनोद) पर खूब हसा करते थे। मै कालभैरव के पास रहता था और बहुधा प्रेस मे जाया करता था। मैने देखा कि प्रेमचन्दजी अपने आश्रितो पर सदैव कृपालु रहे। इसीलिए प्रेस-मजदूर भी उनका बडा लिहाज करते थे। किसी के अपराध पर भी वे क्रोध करने के बदले हसते ही थे। बहुत दिनो तक उनके सपर्क का सौभाग्य रहा, अनेक प्रसगो पर उनकी उदारता और सहृदयता देखने के सुयोग मिले, पर कभी उन्हे क्रोध करते देखा ही नही। साधारण बोलचाल मे भी वे सूक्तिया कह जाते थे। एक दफा कहा था—'गुस्सा पी जाने पर आबे-हयात (अमृत) बन जाता है।' उनके लेखो की तो बात ही क्या, उनकी चिट्ठियो मे भी सूक्तिया मिल जाती है।

उनकी धर्मपत्नी श्रीमती शिवरानी देवीजी का एक गल्प-सग्रह 'नारी हृदय' सरस्वती प्रेस से निकला था। उसकी भूमिका उन्होने मुझसे लिखवाई। उनका सहज स्नेह उत्साहवर्द्धक था। वे स्वय दूसरो की लिखी कहानियो का सग्रह तैयार करने लगे, तो उसमे मेरी भी एक कहानी रख दी। वे लेख लिखने के लिए विषय भी बतलाते थे। कभी-कभी प्रेस मे बैठे-ही-बैठे लेखादि का सशोधन करते, सपादकीय टिप्पणिया लिखते और पत्रोत्तर देते। किन्तु अधिकतर ये काम घर से ही करके लाते थे। प्रेस मे लिखते समय देखा कि बडी तेजी से लेखनी चलती, मगर कही काटने या बदलने की नौबत नही आती। जान पडता था कि लेखनी सजग होकर विचारधारा के साथ बेधडक चल रही है। साप्ताहिक के लिए अग्रलेख भी एक ही सास मे लिख डालते। देश और समाज की सभी समस्याओ पर वे बडे ठोस और निर्भीक विचार प्रकट करते थे। कोई क्षेत्र उनकी लेखनी से अछूता न बच सका। राजनीति और साहित्य की क्या चर्चा, धर्म का क्षेत्र भी अछूता न रहा।

प्रेमचन्दजी की लेखनी ने हिन्दी को एक लोकप्रिय शैली दी और जनता के जीवन का कोना-कोना छान डाला। राष्ट्र के हृदय की धडकन का वे अनुभव करते थे। युग की वाणी को उन्होने स्वर दिया। उनकी रचनाओ ने हिन्दी और उर्दू की अभिन्नता सिद्ध की। किन्तु उनके जीवनकाल मे हिन्दी वालो से अधिक उर्दू वालो ने ही उनका सम्मान किया। प्रसिद्ध मुसलमान नेता मौलना मुहम्मदअली एक उर्दू-साप्ताहिक 'हमदर्द' दिल्ली से निकालते थे। उसमे प्रेमचन्दजी की कहानिया प्राय छपा करती थी। उनको पुरस्कार के रूप मे प्रति कहानी एक गिनी मिलती थी। वह गिनी मखमली 'केस' मे पार्सल से आती थी। उन दिनो गिनी का क्या दाम था, मुझे याद नही, पर कई बार मैने गिनी देखी थी। हिन्दी-पत्रो से मिले पुरस्कार पर वे हसकर चुप रह जाते थे। हा, उन्होने हिन्दी-साहित्य की चिरस्मरणीय सेवा करके जो प्रचुर पुण्य कमाया, उसका सुफल आज उनके उत्तराधिकारी भोग रहे है। हिन्दी के प्रकाशको से ऊबकर वे एक बार सिनेमा की दुनिया मे भी गये थे। परन्तु बम्बई से लौटकर वे विचित्र कहानिया सुनाकर हसा-हसाया करते थे। उस दुनिया के उनके अनुभव सुनकर मनोरजन तो होता था, पर घृणा भी होती थी। वहा के रहस्यो और अनुभवो को सुनाकर उन्होने प्रसादजी को भी खूब हसाया था। विनोद का सुअवसर वे कभी चूकते नही थे। एक बार हनुमानजी की पूजा मे अध्यापक रामदास गौड के घर गये थे तो गौडजी से कहने लगे—'आपका घर सचमुच अजायबघर है—जिसमे हनुमानजी तो रहते ही है—भूतप्रेत भी रहते है।'

अन्तिम दिनो मे तो प्रसादजी का और उनका लगभग रोज का साथ रहा। वे काशी मे बेनिया-बाग के पास रहते थे। प्रतिदिन प्रात सध्या दोना महारथी

साथ-साथ बेनिया-पार्क मे टहला करते थे। चहलकदमी के साथ साहित्यिक चर्चा भी होती चलती थी। वे प्रसादजी के सामने ही उनकी भाषा पर अपने विचार स्पष्ट व्यक्त कर देते थे और प्रसादजी हसते-मुसकराते सुन भी लेते थे। दोनो साहित्य-सम्राटो के मतभेद कभी आपस मे टकराये ही नही। दोनो जहा मिल बैठते, उनकी बाते सुनने मे जी न भरता।

जब मैं 'मतवाला'-मण्डल से 'माधुरी' के सम्पादकीय विभाग मे गया, श्रीदुलारेलालजी भार्गव ने कृपापूर्वक पत्रिका के अतिरिक्त कुछ पुस्तको के सशोधन का काम भी दिया। पहले 'एशिया मे प्रभात' और 'भवभूति' की कॉपिया मिली। सौभाग्यवश भार्गवजी मेरी सेवा से सतुष्ट हुए और मुझे प्रेमचन्दजी के सुप्रसिद्ध उपन्यास 'रगभूमि' की पाण्डुलिपि प्राप्त हुई, जो पहले से भार्गवजी के पास आ चुकी थी।

मैं सहम गया। 'सप्तसरोज', 'सेवा-सदन' और प्रेमाश्रम' कलकत्ता मे पढ चुका था—साहित्य-जगत् मे उनकी जो स्तुति-चर्चा होती रहती थी, उसकी भी धाक मेरे दिल पर काफी थी। मै उनकी कृतियो और कीर्ति-कथाओं मे तो परिचित था, पर उनके नित्य दर्शनो से वचित ! मैने यह भी सुना था कि वे पहले उर्दू मे कहानी या उपन्यास लिख जाते है, फिर किसी हिन्दी के जानकार से नागराक्षरो मे लिखवाते है। पर जब 'रगभूमि' की कॉपी मिली, मेरे आश्चर्य और आनन्द का ठिकाना न रहा। सारी कॉपी प्रेमचन्दजी की ही लिखी हुई थी। दो मोटी जिल्दो मे खासा एक बडा पोथा, छोटे-छोटे अक्षर, घनी लिखावट, कही काट-छाट नही, मानो पूरी पुस्तक एक सास मे लिखी गयी हो !

भार्गवजी की गगा-पुस्तक-माला की पुस्तको का सम्पादन जिन नियमो के अनुसार होता था, उन नियमो को मै जान चुका था, क्योकि भार्गवजी के सम्पादकत्व के कारण 'माधुरी' मे भी उन्ही नियमो का पालन करना पडता था। जब मैं 'रगभूमि' की कॉपी पढने लगा, नियमो का ध्यान छूट गया, मन रीझकर भाषा की बहार लूटने लगा। पचासो पन्ने उलट जाने के बाद अचानक उत्तरदायित्व का ज्ञान होता, फिर पीछे लौटकर नियमो की पाबदी करनी पडती। कुछ हिन्दी-शब्दो की लिखावट मे भूल मिलती थी और कुछ के उपयुक्त प्रयोग मे भी। वाक्यावली और वर्णन-शैली तो गगा की धारा-सी स्वच्छ और सवेग थी। बधे नियमो के अनुसार कुछ अक्षर बदलने पडे। कुछ मात्राए इधर-उधर हुई, कुछ प्रसगानुकूल यथोचित शब्द चस्पा किये गये। प्रेस-कॉपी तैयार हो गयी। भार्गवजी ने देखकर पास किया। छपाई के काम में हाथ लगा।

उसी समय प्रेमचन्दजी का शुभागमन हुआ। प्रथम दर्शन मे ही मेरे चित्त पर उनके हृदय की महत्ता की सत्ता स्थापित हो गयी। खास तौर से उनकी सुविधा के लिए लाटूश रोड मे एक नया मकान लिया गया था। उसी मे

श्रीमैथिलीशरणजी गुप्त भी लगभग एक-डेढ मास ठहरे थे—किसी वयोवृद्ध कुटुम्बी की चिकित्सा करा रहे थे। 'माधुरी' का सम्पादन विभाग भी, अमीनाबाद-पार्क के गगा-पुस्तक-माला-कार्यालय से उठकर, उसी मकान मे चला गया। वह अमीनाबाद से थोडी ही दूर था। रास्ते मे भार्गवजी का मकान पडता था और पडित बदरीनाथ भट्ट का भी। उन दिनो पडित कृष्णबिहारी मिश्रजी भी 'माधुरी' के सम्पादकीय विभाग मे थे। प्रेमचन्दजी, मिश्रजी और भट्टजी का जब समागम होता था, हसी के फव्वारे आकाश चूमने लगते थे।

मिश्रजी की रईसी हसी सामने की मेज पर ही उछलती थी और प्रेमचन्दजी का ठहाका ऊची छत से टकराकर खिडकियो की राह सडक पर निकल जाता था—भट्टजी की हसी उसे पकड न पाती थी। दिल खोलकर तीनो हसते थे। वह हसी कितने ही दिमागो मे गूज रही होगी। उनकी स्मितपूर्वाभिभाषिणी मुखमुद्रा और उनका अक्लात अट्टहास, जो कभी आखो और कानो मे औत्सुक्य और उल्लास भर देते थे, अविस्मरणीय बन गये।

कितनी ही सध्याए अमीनाबाद-पार्क मे हरी घास पर बैठे बीती—पार्क के एक कोने मे उस कचालू-रसीलेवाले की दूकान पर, जहा ताल्लुकेदारो और रईसो की मोटरे भी खडी होती है, दही-बडे और मटर की कितनी ही दावते हुई—'रगभूमि' मे 'सूरदास' का स्वाग रचनेवाले प्रकृत व्यक्ति की सच्ची कहानियो पर कितने ही कहकहे उडे—जितने दिन लखनऊ मे रहे, बडे सुखावह दिन बीते।

जब कभी 'माधुरी'-सम्पादक पडित रूपनारायणजी और प्रोफेसर दयाशकर दुबे—जो उन दिनो लखनऊ-विश्वविद्यालय मे थे—पहुच जाते, प्रेमचन्दजी की हसी से खासी टक्कर लेते। और एक बार तो कविवर गुप्तजी के सम्पर्क से मुशी अजमेरीजी भी पहुच गये, जिन्होने तरह-तरह की हसी हसकर प्रेमचन्दजी के अट्टहास का दम तोड दिया। पडित कृष्णबिहारीजी यह पूछे बिना न रह सके—'आज दोनो मुशी हसी के दगल मे भिडे। आखिर कौन चित हुआ ?' प्रेमचन्दजी नुमाइशी हसी हसते हुए पहले ही बोल उठे—'मै पीठ के बल नही, (मू) मुह के बल गिरा।' इस पर खूब कहकहा मचा।

लखनऊ के दगे के बाद[1] मैं पुन. 'मतवाला'-मण्डल मे कलकत्ता आ गया था। कभी-कभी चिट्ठी-पत्री होती रही—विशेषत: उस समय, जब वणिक प्रेस और हिन्दी पुस्तक एजेसी के मासिक 'उपन्यास-तरग' का मैं सम्पादन करने लगा।

---

१. लखनऊ के दगे एव उससे बचकर भागने का पूरा विवरण शिवजी ने काशी पहुचकर 'मतवाला' मे प्रकाशनार्थ भेजा था जो २० सितम्बर, १६२४ के अक मे प्रकाशित हुआ था।—स०

चिट्ठियो का ताता उस समय खूब बधा, जब वे 'माधुरी' के सम्पादक थे और बनारस मे उनके 'सरस्वती-प्रेस' का प्रबन्ध-भार ग्रहण करने के लिए श्रीप्रवासी-लाल वर्मा मालवीय के निमित्त मै पत्र-व्यवहार कर रहा था। उस समय मै भी काशी मे ही रहकर लहेरियासराय के पुस्तक-भण्डार का साहित्यिक कार्य-सम्पादन कर रहा था, और कई पुस्तके सरस्वती-प्रेस मे भी छपती थी। उन दिनो श्रीगुरुराम विश्वकर्मा 'विशारद'—जो प्रेमचन्दजी के गाव के पडोसी थे, और उनको 'भैया' कहा करते थे, प्रेस के प्रबन्धक थे।

लखनऊ चले जाने के पहले प्रेमचन्दजी जब तक घर पर रहे, नित्य इक्के से प्रेस आया करते थे। मै भी भण्डार की पुस्तको की देख-रेख के लिए प्राय. नित्य ही प्रेस मे जाता था। कम्पनीबाग (मैदागिन पार्क) के पूरबी छोर पर काशी-नागरी-प्रचारणी सभा है और पच्छिमी छोर पर सडक के किनारे सरस्वती-प्रेस था। पुराना मकान, अधेरा, गन्दा—बडी रद्दी हालत थी प्रेस की। रोज ही वे प्रेस की फिक्र मे परेशान रहते थे। मेरे हाथ मे पुस्तक भण्डार का जो काम था, उसमे से जितना उनका प्रेस सहूलियत से कर सकता था, उतना तो मै दे ही देता था, और भी परिचितो से काम दिलवाता था। किन्तु प्रेस और हाथी का पेट—दोनो बराबर। पोसाता न था। चिन्ता-चक्र चल ही रहा था कि वे लखनऊ चले गये। तब प्रवासीलालजी की बात छिडी। मै भी बीच मे पडा। लिखा-पढी होते-होते बात तय हो गयी।

वर्माजी प्रेस को मध्यमेश्वर से उठाकर मृत्युञ्जय-महादेव रोड पर ले गये। स्वनामधन्य कलाविद् श्रीरायकृष्णदासजी का एक नया मकान था। वह प्रेस के लिए बडा शुभ एव लाभप्रद सिद्ध हुआ। कम-से-कम प्रेस की ओर से प्रेमचन्दजी निश्चिन्त हो गये। वर्माजी के काम से सतुष्ट भी रहे। एक सुयोग्य मनुष्य के साथ सम्बन्ध स्थापित कराने मे सहायक होने के कारण मुझ पर भी अत्यधिक स्नेह रखते थे। यदि लखनऊ से कभी एक दिन के लिए भी आते, तो तुरन्त प्रेस का आदमी मुझे बुलाने पहुच जाता। एक बार तो वर्माजी की नियुक्ति के समय लखनऊ से सीधे मेरे मकान पर आ धमके। उस समय मै काल-भैरव की चौमुहानी पर रहता था और वर्माजी भी मेरे पडोसी ही थे। प्रेमचन्दजी ने किसी प्रकार का सन्देह या असमजस नही प्रकट किया, खुले दिल से वर्माजी को अपनाया। जाते समय बनारसी पान का चौघडा मुह में लेते हुए कहने लगे—'आज सुख की नीद सोऊगा, बडा भारी बोझ उतर गया, प्रेस बला हो गया था।'

जब वे लखनऊ मे ही थे, तब 'हस' निकालने का आयोजन होने लगा। साहित्य जगत् के यशोधन कलाकार श्रीजयशकर प्रसादजी ने 'हस का नामकरण किया और प्रेमचन्दजी की स्वीकृति लेकर वर्माजी ने उसके प्रकाशन का श्रीगणेश कर दिया। प्रेमचन्दजी लखनऊ से ही कहानिया और टिप्पणिया भेजा करते थे। किन्तु

प्रसादजी की योजना के अनुसार 'हस' मे केवल दो ही स्तम्भ रह सके—'मुक्ता-मजूषा' और 'नीर-क्षीर-विवेक'। प्रसादजी की स्कीम मे कहानियो की प्रधानता नही थी। पर प्रेमचन्दजी के सम्पादकत्व मे तो कहानियो की ही प्रधानता हो सकती थी, अतएव 'हस' बहुत दिनो तक कथा-साहित्य का ही मुखपत्र रहा।

बीच मे एक-डेढ साल मै काशी से बाहर रहा, यद्यपि आने-जाने का सम्बन्ध बना रहा। उस अवधि मे 'गगा' मासिक पत्रिका का सम्पादक रहा। जब कहानी के लिए प्रेमचन्दजी को पत्र लिखा, स्पष्ट उत्तर मिला कि 'आप मेरे 'हस' के लिए मुफ्त लिखा करते है, इसलिए मैं राजा[1] की पत्रिका के निमित्त मुफ्त नही लिखूगा, काफी पुरस्कार दिलवाइए।' मैं परिस्थिति देखकर चुप रह गया, क्योकि जब मै 'माधुरी' के सम्पादकीय विभाग मे था, तब प्रेमचन्दजी को फी पेज चार रुपये के हिसाब से पुरस्कार दिया जाता था। उतना पुरस्कार देकर उनकी कहानी लेना 'गगा' ने पसद नही किया, यद्यपि 'भारत-भारती' की समालोचना लिखने पर प्रोफेसर रामदास गौड को फी पेज पाच रुपये के हिसाब से पुरस्कार दिया गया था।

'गगा' का सम्पादन-कार्य छोडकर मै फिर काशी चला आया। तब तक प्रेमचन्दजी भी 'माधुरी' को छोडकर काशी आ गये थे। इस बार उन्होने 'मुक्ता-मजूषा' का भार मुझे सौपा और यथासाध्य पुरस्कार देना भी स्वीकृत किया, क्योकि मै बेकार था। बेकारी मे उनके प्रेस से बडी सहायता मिली—पारिश्रमिक के रूप मे ही सही। कभी-कभी हसी मे कह भी देते थे—'आप बेकार है, मै निराकार हू।'

सरस्वती-प्रेस मे घटो बैठकबाजी होती थी। पान की गिलौरियो का दौर चलता रहता था। लखनऊ के विचित्र पान की चर्चा करते हुए खूब हसा करते थे—अपने मशहूर 'सखुन-तकिया' की बौछारो से लखनवी पान का खूब सम्मान करते थे। खुद कहते भी थे—'मेरा यह 'तकिया-कलाम' तो उर्दू-साहित्य-गोष्ठी का प्रसाद है। गनीमत है कि बोलने की तरह लिखने मे यह नही टपक पड़ता। कही किसी के खत मे लिख जाय, तो दोनो की मिट्टी खराब हो।'

अपने प्रेस की पुस्तको के विज्ञापन के लिए वे बहुत दिनो से एक साप्ताहिक पत्र निकालने का इरादा कर रहे थे। पुस्तक-मन्दिर (काशी) द्वारा प्रकाशित शुद्ध साहित्यिक 'जागरण' जब मेरे सम्पादकत्व मे छ महीने तक पाक्षिक निकलकर बन्द हो गया, तब उन्होने अपने सम्पादकत्व मे उसे साप्ताहिक रूप

---

१. भागलपुर जिले के गगातटस्थ कृष्णगढ (सुलतानगज) से बनैली-राज्य के कुमार कृष्णनन्दन सिह 'गगा' से सचालक थे।

मे निकालना शुरू किया। तब मेरे माथ और अधिक घनिष्ठता बढी। प्रेस मे काफी देर तक वे भी बैठते थे और मै भी वही बैठकर अखबार पढता या प्रूफ-करेक्शन करता। प्रेस मे मेरी कोई नौकरी न थी, पर कुछ-न-कुछ साहित्यिक काम करते रहने का व्यसन तो था ही। सबसे बडा लाभ था उनका सत्सग। उनकी बातचीत से कोई-न-कोई नई बात रोज सीखने को मिल जाती थी—नया मुहावरा, नयी शैली, कोई नया शब्द, कोई नयी युक्ति वा उक्ति। बोलने लगते थे तो जबान लडखडाती न थी और चूकती भी न थी। उर्दू के पडित थे, हिन्दी के गढ मे बचपन से रहते आये। अध्ययन और अनुभव भी कम नही। कलम उठाते ही मजी भाषा की धारा चल पडती।

उनकी चिट्ठी भी कहानी का मजा देती थी। कभी-कभी पोस्टकार्ड की दस-बीस लाइनो मे ही बडे-बडे सिद्धान्त और तत्त्व-महत्त्व की बाते कह जाते थे, बीच मे कही मधुर विनोद का पुट भी धर देते थे। कमाल की लेखन-शैली थी। पढने लगने पर मालूम होता था कि लेखक की लेखनी कही सास न लेकर सरपट दौडी जा रही है और मन अनायास उसके पीछे लगा चला जाता है।

'जागरण' के लिए प्रतिमाह अग्रलेख और सम्पादकीय नोट, 'हस' के लिए भी प्रतिमास वही, कभी-कभी एक कहानी भी, अन्य पत्रो की माग पूरी करने के लिए कम-से-कम महीने मे एक-दो कहानी जरूर, उपन्यास लिखने का सिलसिला अलग। इतना अधिक लिखने पर भी अकीर्त्तिकर कुछ भी न लिखा। जिस विषय को लेखनी छू देती, वही मानो सजीव हो उठता था। लेखनी अथ से इति तक एक-सी शान से चलती थी। मस्तिष्क मे सोचने की शक्ति जैसी तीव्र, वैसी ही उगलियो मे लिखते रहने की। तो भी पैसे का अभाव दूर न हुआ। 'हस' और 'जागरण' मे बराबर घाटा ही रहा। पुस्तके काफी बिकती न थी। हिन्दी के प्रकाशको से कुछ मिलता न था। 'भारत-भारती' के बराबर उनकी किसी पुस्तक के सस्करण न हुए! बल्कि हिन्दी वालो से उर्दू वाले कही अधिक गुणग्राहक निकले, क्योकि उनकी उर्दू-पुस्तको का बाजार पजाब मे बहुत अच्छा था, ऐसा वे स्वय प्राय कहा करते थे। यह भी कहा करते थे कि मौलाना मुहम्मद अली अपने 'हमदर्द' के लेखो पर मुझे जितना पुरस्कार देते थे, उतना हिन्दी-पत्रो के सम्पादक नही दे सकते। अकसर मौलाना मनीआर्डर न भेजकर गिनी ही पार्सल मे भेजते थे।

पं० कृष्णबिहारी मिश्र

सन् १९२४-२५ की बात है। 'मतवाला'-मडल (कलकत्ता) से मै 'माधुरी' कार्यालय (लखनऊ) के सम्पादकीय विभाग में चला गया था। वही श्रद्धास्पद

मिश्रजी के प्रथम दर्शन और सत्सग का सौभाग्य प्राप्त हुआ। मिश्रजी 'माधुरी' मे प्रकाशनार्थ प्राप्त रचनाओ को स्वीकृत एव अस्वीकृत किया करते थे। यही उनका मुख्य काम था। उनके द्वारा स्वीकृत लेख पडित रूपनारायण पाडेय ('माधुरी'-सम्पादक) के पास भेज दिये जाते थे। अस्वीकृत लेख, डाक-टिकट साथ होने पर, लौटा दिये जाते थे। मिश्रजी सभी रचनाओ को बडे ध्यान से पढते थे। कभी-कभी अस्वीकृत लेखो या कविताओ पर अपनी सम्मति भी लिख देते थे।

'माधुरी' मे यदा-कदा ब्रजभाषा की कविताए भी छपती थी। उनका सम्पादन मिश्रजी ही करते थे। प्राय ब्रजभाषा-साहित्य सम्बन्धी निबन्धो को भी उन्हे शोधना पडता था। ब्रजभाषा काव्य-ग्रथो और तद्विषयक आलोचनात्मक पुस्तको की समालोचना भी प्रायः वही लिखते थे। ब्रजभाषा के काव्य-साहित्य पर उनका असाधारण अधिकार था। ब्रजभाषा-कवियो की रचनाओ का उन्होने वडा गम्भीर अध्ययन-मनन किया था। आज हिन्दी मे ब्रजभाषा-साहित्य के जो गिने-चुने मर्मज्ञ और विशेषज्ञ रह गए है, उनमे मिश्रजी का आदरणीय स्थान है। हिन्दी के स्वनामधन्य साहित्य-सेवी मिश्र-बन्धुओ से उनका कौटुम्बिक सम्बन्ध था। उनके अपने कई पूर्वज भी ब्रजभाषा के यशस्वी कवि थे। देव, मतिराम, बिहारी, सेनापति आदि कवियो के सम्बन्ध मे उनके साथ वार्तालाप करने पर अविरल आनन्द का अनुभव होता था।

मिश्रजी बडे सूक्ष्मदर्शी आलोचक और अनुभवी पत्र-सम्पादक भी थे। उन्होने 'समालोचक' नामक एक मासिक पत्र स्वय निकाला था। उसके प्रथम अक के लिए उन्होने एक आलोचनात्मक कहानी लिखने का मुझे आदेश दिया। मैने 'मानमोचन' शीर्षक एक कहानी लिखी, जिसे उन्होने पसन्द करके प्रकाशित भी किया। मैं बराबर उनका स्नेहभाजन बना रहा।

मिश्रजी ने रईस तबीयत पायी थी। उनकी वेशभूषा और बातचीत से रईसी टपकती थी। उनके व्यवहार मे पग-पग पर शिष्टता झलकती थी। उनकी शालीनता मे आकर्षण था। उनका व्यक्तित्व और शील बडा प्रभावशाली था। एक प्रतिष्ठित सरदार की तरह वह सौम्य और शान्त थे। उनके साहित्यिक विनोद बडे सरस होते थे।

मेरे साथ 'माधुरी'-कार्यालय मे एक नवयुवक सज्जन थे। वह प्रायः मिश्रजी के सामने हास्य-विनोद के प्रसग उपस्थित किया करते थे। उनसे मिश्रजी का विशेष मनोरजन हुआ करता था। एक दिन कार्यालय के सचालक किसी कर्मचारी को बडे जोर से डाटने लगे। उन्हे क्रोधावेश मे मेज पर मुट्ठी पटककर दात पीसते देखकर नवयुवक महाशय वहा से हट गए। सचालकजी के चले जाने पर नवयुवक महोदय आकर मिश्रजी से बोले, 'मै तो सचालकजी को मेज पर मुट्ठी मारते देखकर डर गया कि कही उस बेचारे कर्मचारी के सिर पर न मुट्ठी

मारने लगे ।' यह बात सुनकर मिश्रजी इतना हसे कि कुर्सी पर बैठे-ही-बैठे हिलने लगे और हसते-हसते उनकी आखो से आसू तक निकल आए । चश्मा निकालकर रूमाल से पोछते समय भी उनकी हसी नही रुकी । उनकी हसी मे किसी तरह की आवाज नही होती थी । हसते भी थे तो गम्भीरता से । वैसी सयत हसी कही नही दीख पडी । हम लोग हसी का कोई कारण नही समझ सके । कई दिन बाद उन्होने नवयुवक सज्जन के वाक्य का व्यग्यार्थ स्पष्ट किया । तब फिर उनकी हसी उमडी । कार्यालय-भर मे उसकी लहर उमडी । बस, मिश्रजी एकाएक मौन हो गए ।

एक बार की बात है कि पडित रूपनारायण पाण्डेयजी को मिश्रजी ने एक देहाती नौकर ला दिया था । उसके विषय मे एक दिन पाण्डेयजी से मिश्रजी ने पूछा कि कैसा काम करता है । पाण्डेयजी बोले, 'वह (नौकर) तो मेरे तलवे मे तेल-मालिश करते समय सितार बजाता है, सितार की सुन्दरियो पर अगुलिया नचाने की तरह मेरे तलवे मे धीरे-धीरे गुदगुदाता-भर है, मेरी तो तबीयत नपुसक पति की युवती सुन्दरी पत्नी की तरह झुझला उठती है ।' इस पर भी मिश्रजी उसी दिन की तरह इतना हसे कि सामने की मेज भी पीक की बौछार से न बच सकी । पाण्डेयजी सदा अपने घर पर रहकर ही सम्पादन-कार्य करते थे, पर जब कभी कार्यालय मे आते थे, मिश्रजी के साथ कुछ क्षण विनोद कर ही लेते थे । दोनो ही सरस-हृदय साहित्य-रसिक थे, अत उन दोनो के आस-पास के लोग भी उनके द्वारा सदा आनन्द का ही अनुभव करते थे ।

एक बार तो मिश्रजी इतना अधिक हसे कि दुर्घटना हो गयी । हसते-हसते आखो को पोछने के लिए चश्मा उतारकर रूमाल से उसे साफ करने लगे । इतने मे हसी के वेग से हिलते हुए हाथो से चश्मा छूटकर फर्श पर जा गिरा और चूर हो गया । तब भी कुर्सी पर उनकी देह हिल-डुल रही थी । हम हसनेवाले तो अचकचाकर मौन हो रहे । बात ऐसी हुई कि बातचीत के सिलसिले मे एक शब्द ऐसा आ गया जिसका अर्थ सुनकर मिश्रजी खुले दिल से हसने लग गए। 'माधुरी'-कार्यालय अमीनाबाद पार्क से लाटूश रोड मे चला गया था । वहा सम्पादन-विभाग मे प्रेमचन्दजी भी काशी से आ गए थे । उनसे मिलने के लिए उर्दू के साहित्य-सेवी प्राय आते रहते थे । एक नौजवान शायर उस दिन आ गए, जो बडे खूबसूरत और शौकीन भी थे । उनके चले जाने पर प० बिहारीलाल गुजराती ने प्रेमचन्दजी को उनका परिचय दिया, जिससे प्रेमचन्दजी भी अट्टहास कर उठे ।

गुजरातीजी पुस्तक-प्रचारक थे । बाते करने की कला मे बडे निपुण थे । गर्मियो मे मसूरी, नैनीताल, शिमला आदि पहाडी नगरो मे ही अड्डा जमाये रहते थे । राजा-रईसो और ताल्लुकेदारो का दरबार करके उन्हे कहानी-उपन्यास की पुस्तके पढने को देना उनका खास काम था । उनकी लखनवी जबान और

लखनवी तबीयत रईसो तथा सेठो को बरबस रिझा लेती थी। इसी हुनर की बदौलत वह पुस्तक-प्रचार मे काफी सफलता पा लेते थे। पहाडी नगरो मे मौज करने के लिए आनेवाले धनी-धोरी लोगो के बारे मे वह तरह-तरह के किस्से सुनाया करते थे। उस दिन गुजरातीजी ने जो मनचले शायर का किस्सा सुनाया, उसका सम्बन्ध एक नवाब साहब से भी था। वही उसके नायक थे। उस किस्से मे आये हुए 'हथेली-टेक' शब्द पर ही प्रेमचन्दजी ठठाकर हस पडे थे। उस क्षण तक मिश्रजी की ओर हसी की लहर नही आयी थी। जब प्रेमचन्दजी की प्रेरणा से गुजरातीजी ने उन्हे शब्द की व्याख्या सुनायी तब शब्दार्थ का भाव समझकर वह हसते-हसते लोटपोट हो गए। उसी हसी के झकोरे मे चश्मा चकनाचूर हुआ।

मिश्रजी को भद्रता और शिष्टता का बहुत ध्यान रहता था। वह पदे-पदे सौजन्य की मर्यादा का पालन करने मे तत्पर दीखते थे। वह कभी फालतू बात नही करते थे। हसते भी थे तो मर्यादित ढग से। चलते भी थे तो रईसी चाल। उनके किसी काम मे उतावली नही थी। सयत भाव से ही सब काम करते थे।

मिश्रजी सीतापुर (अवध) जिले के मिधौली-गधौली स्थान के निवासी थे। उनके धनी पूर्वज सन् १८५७ के सैनिक विद्रोह मे लखनऊ से वहा आ बसे थे। मिश्र-बन्धुओ ने अपने 'मिश्रबन्धु-विनोद' नामक प्रसिद्ध ग्रथ के तृतीय भाग मे मिश्रजी के पूर्वजो का वृत्तान्त लिखा है। मिश्रजी अपनी वश-परम्परागत परिपाटियो की रक्षा करते रहने मे बडे सजग रहा करते थे। पहले उन्होने सीतापुर मे वकालत भी शुरू की थी, पर साहित्य-सेवा मे बाधा पडते देख वह एकमात्र साहित्य के ही हो रहे। उनको नौकरी करने की आवश्यकता भी न थी। घर पर काफी स्थावर सम्पत्ति थी, सुन्दर मकान और आम का कलम बाग था। लखनऊ मे जब मलीहाबादी और सफेदा आमो की फसल चलती थी तब वह अपने मित्रो को भी अपने बाग के मीठे आम खाने को आमन्त्रित करते थे। उनका निवास-स्थान एक ताल्लुकेदार की रियासत का ठाट-बाट प्रदर्शित करता था। पडित रूपनारायण पाण्डेय और श्री प्रेमचन्दजी भी वहा जाते थे। ये दोनो साहित्य-महारथी वहा शतरज खेलने बैठ जाते थे तो मिश्रजी भी बैठे-बैठे बाजियो का आनन्द लेते थे।

चुस्त पाजामा और बटनदार अगरखा, गाधी टोपी और चश्मा, घडी और छडी, मझोला कद, पान से रगे दात, अगूठिया बालवाली मूछो मे डूबी मुसकान, बातो मे मार्मिक सूझ, भाषा मे आडम्बरशून्यता, रहन-सहन मे कुलीनता की छाप, स्वभाव मे मिलनसारी की मिठास, यही मिश्रजी का अत्यन्त सक्षिप्त परिचय है।

मिश्रजी अपने कान्यकुब्ज समाज की नीति-रीति का पालन करने मे सदा सावधान रहते थे। भारतीय सभ्यता के बडे हिमायती थे। आर्य-सस्कृति मे उनका नैसर्गिक अनुराग था। अग्रेजी की पूरी शिक्षा पाकर भी पाश्चात्य प्रभाव से अछूते

थे । आधुनिक युग उन पर हावी नहीं हो सका था। साहित्यानुशीलन मे उन्होने अतीत और वर्तमान तथा प्राच्य और पाश्चात्य का समन्वय कर लिया था ।

सीतापुर की हिन्दी-सभा ने मिश्रजी को एक सुन्दर अभिनन्दन-ग्रथ समर्पित करने का निश्चय किया था । सभा के सचालक कुवर चन्द्रप्रकाशसिंह बहुत कुछ सामग्री भी जुटा चुके थे, पर मिश्रजी के आकस्मिक निधन से वह ग्रथ अप्रकाशित ही रह गया। मिश्रजी के समान सहृदय साहित्य-सेवी बहुत कम दिखाई देते हे ।

५

ते हि नो दिवसा गताः !

काशी : १९२६—

लखनऊ से दगे मे भागकर शिवजी काशी होते हुए अपने गाव चले गये थे। वहा से पुन नवबर, १९२४ मे कुछ दिनो के लिए वे लखनऊ गये, किंतु जनवरी, १९२५ मे वे फिर कलकत्ता 'मतवाला'-मडल मे लौट गये। वही मार्च मे दूसरी पत्नी से हुई एकमात्र सतान वासती का शीतला से देहात हो गया तथा पत्नी का स्वास्थ्य भी काफी गिर गया। कुछ इस कारण भी शिवजी का मन कलकत्ता से उचट गया और वे 'पुस्तक भडार' के बालोपयोगी मासिक 'बालक' एव उसकी अन्य साहित्यिक पुस्तको को छपवाने के लिए मार्च, १९२६ मे काशी चले आये तथा कालभैरव मुहल्ले की दण्डपाणि गली मे एक मकान लेकर रुग्णा पत्नी के साथ रहने लगे। नवबर १९२६ मे इस दूसरी पत्नी का देहात हो गया तथा मित्रो के दबाव पर मई, १९२८ मे तीसरा विवाह हुआ। शिवजी की इस बारात मे काशी की पूरी साहित्यिक मडली गई थी। १९३० के अत मे प० रामगोविंद त्रिवेदी के आग्रह पर सुलतानगज (भागलपुर) से प्रकाशित होने वाले मासिक पत्र 'गगा' के सपादक होकर काशी से वहा चले गये और पूरे एक साल तक 'गगा' का सपादन करने के बाद पुन काशी लौट आये। फरवरी, १९३२ मे काशी के 'पुस्तक मदिर' से शिवजी के सपादन मे 'जागरण' (साहित्यिक पाक्षिक) प्रकाशित हुआ जो जुलाई, १९३२ में प्रेमचदजी के सपादकत्व मे सरस्वती प्रेस से साप्ताहिक रूप मे निकलने लगा और शिवजी पुन 'पुस्तक भडार' का काम करने लगे। १९३२-३३ मे ही कुछ महीने

इडियन प्रेस, प्रयाग मे रहकर आपने 'द्विवेदी अभिनदन ग्रथ' का सपादन किया एव १६३३ के उत्तरार्द्ध मे 'बालक' के सपादक होकर लहेरिया सराय (दरभगा) चले गये। काशी-प्रवास के लगभग आठ-नौ वर्षों मे आपका सपर्क प्रेमचदजी एव प्रसादजी से विशेष प्रगाढ हुआ। काशी मे उन दिनो साहित्यिको का एक विशाल जमघट था: 'प्रसाद', प्रेमचद, रायकृष्ण दास, लाला भगवानदीन, रत्नाकरजी, आचार्य रामचद्र शुक्ल, बाबू श्यामसुदर दास, आचार्य ललिताप्रसाद सुकुल, विनोदशकर व्यास आदि हिंदी के शीर्षस्थ साहित्य-सेवियो का दैनदिन सपर्क हुआ करता था। इसी कालावधि के सस्मरण प्रस्तुत है इस परिच्छेद मे।

•

मृदगाचार्य प० भोलानाथ पाठक

मृदगाचार्य पाठकजी के प्रथम दर्शन का सौभाग्य मुझे सन् १६२६ ई० मे प्राप्त हुआ। उसी साल मै कलकत्ता के 'मतवाला'-मडल से काशी आया। दडपाणि भैरव की गली मे मै रहता था। मकान के सामने ही पडित चुन्नीलाल वैद्य रहते थे[1]। वे साहित्य और सगीत के सच्चे अनुरागी थे। गुजराती होते हुए भी हिन्दी-साहित्य के अच्छे जानकार थे। गुणियो का सत्कार करने मे एक ही थे। किसी कला का जानकार उनके पास पहुचकर निराश नही होता था। मजीरा (जोडी) बजाने मे वे अद्वितीय थे। पाठकजी मे उनकी बडी श्रद्धा थी। पाठकजी की कला के वे सच्चे पारखी थे। दोनो कलाविद् परस्पर पडोसी भी थे, इसलिए पाठकजी प्राय दिन-रात उन्ही के यहा जमे रहते थे। कोई ऐसा गुणी काशी मे न आता, जो इन दो अभिन्न मित्रो के स्वागत-सत्कार से वचित रहता। एक बार गया-निवासी, हारमोनियम के प्रसिद्ध उस्ताद, सोनीजी पधारे। पाठकजी के घर पर जलसा हुआ। पडोस मे रहने के कारण उस सत्सग का आनद मुझे भी प्राप्त हुआ। मैने देखा, इन गुणियो की सगीतज्ञता तो चूडात थी ही, इनकी सगीत-साहित्य-मर्मज्ञता भी अपार थी। उपर्युक्त वैद्यजी और पाठकजी जब सगीत-सम्बन्धी चर्चा

---

१. इनसे पूछताछ कर मैंने काशी के दगली लावनीबाजो और गवैयों तथा बजवैयो का विस्तृत परिचय लिखा था, पर खेद है वह लेख कही मिला नही। जहा तक याद है, वह काशी के दैनिक 'सूर्य' में छपा था।

मे रस-लीन हो जाते, तब ऐसा जान पडता कि ये कोरे कलाविद् नही, सगीत-शास्त्र के मर्मज्ञ भी है। पडित चुन्नीलालजी के साहित्य-सगीतानुराग से विशेष परिचित दो सुप्रतिष्ठित विद्वान् उनके निकटवर्ती पडोसी थे—साहित्याचार्य पडित बटुकनाथजी शर्मा और साहित्याचार्य पडित बलदेव उपाध्यायजी, (हिन्दू-विश्वविद्यालय के प्रोफेसर)। खेद है कि बहुत-सी ऐसी चीजे पडित चुन्नीलालजी के साथ ही चली गई, जो साहित्य और सगीत के प्रेमियो के लिए सर्वथा अमूल्य थी।

जब मै काशी के महाशक्ति-साहित्य-मदिर के मकान मे रहने लगा, तब उसके अध्यक्ष पडित हनुमानप्रसाद शर्मा वैद्यशास्त्री के यहा भी पाठकजी और बडे बाबू का अड्डा देखा। श्री हनुमान प्रसादजी काशी के सुप्रसिद्ध वैद्यराज प० छन्नूलालजी के दौहित्र थे। इन्होने आयुर्वेद-सबधी कई अच्छी पुस्तके स्वय लिखी और प्रकाशित की थीं, जिनमे 'कामकुज' सबसे बडी थी और जिसकी बडी लबी भूमिका डॉक्टर भगवानदासजी ने लिखी थी। इनके एक मकान मे बहुत दिनो तक मै किरायादार था। इन्ही के अनुरोध से मैने काशी के आचार्य-कोटि के धुरन्धर विद्वानो की जीवनिया लिखी थी। काशी के वेदाग-महाविद्यालय मे जिन महापडितो के चित्र लगे हुए थे, उनकी जीवनिया लिखी जा चुकी थी, किंतु पुस्तक-रूप मे उनका प्रकाशन नही हो सका, क्योकि वैद्यजी की असामयिक मृत्यु हो गई। बहुत दिनो तक ये रोग-शय्या पर रहे, इसलिए मै उनसे पाडुलिपि भी न ले सका। फिर उनके निधन के बाद पाडुलिपि किसी तरह न मिल सकी।

वैद्यजी के यहा भी दिन-रात साहित्यिक बैठकबाजी होती रहती थी। बाहर का शायद ही कोई ऐसा साहित्यसेवी आता, जो यहा तक न पहुचता। यही मुझे पाठकजी की सहृदयता का पता लगा था। घटो आपसे बाते होती थी। आपके विनोद ठेठ बनारसी तर्ज के बडे रसीले होते थे।

पं० किशोरीलाल गोस्वामी

गोस्वामीजी का प्रथम दर्शन तो 'मतवाला'-मडल (कलकत्ता) मे हुआ था—सन् १९२३ ई० मे, जिस साल 'मतवाला' निकला था, और गोस्वामीजी सभवत अपने किसी शिष्य के यहा (कलकत्ता) पधारे थे, सो अचानक पहुच गये सम्पादक को बधाई देने—'भाई! क्या खूब निकला 'मतवाला'! वाह! शाबास! जीते रहो, दूध-बताशा पीते रहो।' यही बनारसी बानी कहकर सम्पादक सेठजी की पीठ ठोकी और मुशी नवजादिकलालजी की भी। मै अलग बैठा प्रूफ पढ रहा था, सेठजी ने परिचय दे दिया—मेरी पीठ का भी भाग्य जग गया! 'निराला' जी से मिलने के लिए उन्होने बहुत उत्सुकता प्रकट की, पर सयोगवश वह कही बाहर

निकल गये थे, और उन्हे उसी दिन काशी लौट जाना था ।

'मतवाला' को शाबासी देने बडे-बडे साहित्यसेवी पहुचते थे—श्रीपुरुषोत्तमदासजी टडन, पडित पद्मसिहजी शर्मा, विद्यार्थी गणेशशकरजी इत्यादि और सबका यथोचित आदर-सत्कार भी किया जाता था, किन्तु गोस्वामीजी तो 'निम्बार्क-कुल के आचार्य गोसाईजी' थे—कही पान-पत्ता तक नही छूते थे, कैसे स्वागत-सत्कार की श्रद्धा पूरी की जाती ? उन्होने स्वय ही अपने गिलौरीदान से निकालकर हम तीनो को दो-दो बीडे पान दिये—साथ ही इत्र और इलायची भी। ये चीजे उन्हे बहुत प्यारी थी ।

दूसरी बार उनके दर्शन एव सत्सग का सुअवसर मिला—सन् १९२३ मे काशी मे। काशी मे देखा था कि तकिया मे भी इत्र लगाते थे, जहा खिडकी के सामने छोटे गद्दे पर बैठते थे वहा की दीवार और खिडकी के किवाड तक मे इत्र—लिहाफ की तो बात न पूछिए, मशहरी मे भी इत्र ! आखिरी बुढापे मे यह हाल था, जवानी मे राम जाने कैसे सौरभ-विलासी रहे होगे ।

सच तो यह है कि वे कभी बूढे हुए ही नही । शरीर पर बुढापे के लक्षण व्यक्त हो गये थे, पर मन मे नौजवानो-जैसी उमग भरी थी—भरी ही नही थी, उबलती-उफनाती रहती थी । देह जितनी ही फुर्तीली, वाणी उतनी ही रसीली । आवाज पक्की और बुलन्द, ठहाका सचमुच गगनभेदी । न बाते करने से थकते, न हसने से । किसी हिन्दी-प्रेमी कामकाजू आदमी को भी, मिल जाने पर, जल्दी छोडते न थे । उनसे पिण्ड छुडा लेना आसान काम न था । यद्यपि उनकी बाते बडे मजे की और बडे पते की होती थी—किसी-न-किसी प्रकार का साहित्यिक अथवा बनारसी चमत्कार उनमे अवश्य होता था, तथापि उनके समान सबके पास फालतू समय नही था । सच कहा जाय तो फालतू समय उनके पास भी नही था, मगर किसी साहित्यानुरागी अथवा साहित्यसेवी के मिल जाने पर कमल-कोष का मधुप बन जाते थे ।

काशी मे, नन्दन साहू की गली मे, उनका अपना खास मकान था—छोटा-सा, सुन्दर, सजीला, आरामदेह—एक शिष्य का दिया हुआ । ऊपरवाले कमरे की खिडकी पर सुमिरनी लिये बैठे रहते थे । मजाल नही कि कोई साहित्यिक व्यक्ति उनकी आखे बचाकर निकल जाय ! 'राम झरोखे बैठकर सबका मुजरा लेय'—गली से गुजरनेवाले हरेक व्यक्ति पर उनकी पैनी निगाह पडती थी और किसी परिचित साहित्यिक को कन्नी दबाकर निकलते देख दूर ही से ललकारते थे—'का हो ! ऐसे भौ बचा के सरके जात हौ ?' फिर तो इस तरह उलझ जाते कि लाख जरूरी काम से कोई जाता हो, एकाध घटा ठिठका ही लेते ।

मेरे मित्र—सस्कृत मासिक 'सुप्रभातम्' के सम्पादक पंडित केदारनाथ शर्मा सारस्वत—का मकान उनके पडोस में (भिखारीदास की गली मे) था, जिसमे

नागरी-नाटक-मडली के प्रसिद्ध अभिनेता पंडित मगलीप्रसाद अवस्थी भी रहते थे, और बगल के मकान मे रहते थे सेंट्रल-हिन्दू-स्कूल के अध्यापक साहित्यरसिक श्रीसावलजी नागर। मै प्राय इन लोगो के पास जाया करता और जब कभी हमलोग एक साथ उनकी ओर होकर निकलते, दूर ही से बनारसी बोली मे आवाज देते—'क्यो राजा ! इस तरह आख चुराकर बुढवा को झासा दोगे ?'

उनके आवाज कसने के कई निराले ढग और लटके थे। उनकी छेडखानियो मे विशुद्ध स्नेहपरायणता और सहृदयता होती थी। पुकारकर झट नीचे उतर आते और दरवाजा खोलकर ऊपर के बैठकखाने मे ले जाते—अपने हाथो पान बनाकर खिलाते, कभी-कभी अपने ही हाथो इत्र भी लगा देते, फिर साहित्यिक पवारा शुरू हो जाता ! भारतेन्दुजी के दरबार की बाते सुनाते, जहा वह दस-बारह वर्ष के बालक के रूप मे अपने नाना के साथ जाया करते थे, 'सरस्वती' पत्रिका के जन्म की कहानी सुनाते, जिसके आदि-सम्पादको मे वे भी एक थे, कभी मौज आ जाती तो अपना बस्ता खोलकर पोथा निकालते, जिसमे से अपनी सतसई के दोहो की चाशनी चखाते—समस्यापूर्तिया सुनाते—कवित्त-सवैयो को रसानुकूल स्वर मे पढकर चित्र खडा कर देते। नयी-नयी चीजे भी तैयार करते रहते थे। जब जैसी तरग आ गई, तुरन्त लिखकर रख छोडा। कभी सस्कृत के श्लोको मे, कभी ब्रजभाषा के विविध छन्दो मे, कभी खडीबोली के पद्यो मे, कभी-कभी ललित गद्य मे भी, अपने सरस उद्गारो और हृदयोच्छ्वासो को सचित करके रखते जाते।

हम लोग नीचे उतरकर आपस की बातचीत मे कहते—'यह बूढा न जाने केशवदास का अवतार है या पडितराज जगन्नाथ का ! रसिकता इसकी नस-नस मे समायी हुई है—बोटी-बोटी इसकी फडकती रहती है।' मै तो उनकी जिन्दादिली और उमग-तरग देखकर हैरान रहता। हर घडी बुढापा के पीछे लट्ठ लिये पडे रहते। हम जवान भी उनके हौसले देख दग रह जाते। उनके स्फूर्तिशाली अगो की भावभगिमा भी देखते ही बनती थी। बोलते समय के अगसचालन से भी थकते न थे। हम लोग उन्हे जरा-सा छेड देते, बस वे सजीव ग्रामोफोन बन जाते। न जाने ईश्वर ने उन्हे लगातार बोलते रहने और लिखते जाने की कितनी शक्ति दी थी। फागुन और सावन मे तो साहित्यिक होली और कजली भी गाकर सुनाने लगते थे—'यह भारतेन्दु की बनाई हुई है, अब एक 'प्रेमघन' की भी सुन लो ! अरे, अम्बिकादत्त व्यास और प्रतापनारायण मिश्र की भी एकाध सुनते जाओ।' इस तरह, ऐसा लासा लगाकर कम्पा भिडाते कि लाख पख फडफडाने पर भी सहसा बच निकलना कठिन हो जाता। कभी-कभी हम लोग समयाभाव-वश उनके शिकजे से बचने के लिए उधर का रास्ता ही छोड देते। पर जब कभी दो-चार घंटे का निश्चिन्त अवकाश मिलता, हम लोग मनसूबा बाधकर उनसे मिलने जाते।

मगर गली के नुक्कड पर पहुचते ही जान-बूझकर छिप निकलने का नाट्य करते, क्योंकि उनका, आवाज कसना सुनने का यही तरीका था।

प्राय अपराह्न मे ही वह अपनी खिडकी पर बैठते थे—सध्यावन्दन के पहले तक। पूर्वाह्न मे कभी-कभी एकाध घटे के लिए मेले-तमाशे की मौज लेने बैठ जाते थे। इसलिए प्राय. पूर्वाह्न मे उधर का रास्ता खतरे से खाली रहता, क्योंकि उस समय अगर देख भी लेते तो ऊपर से ही दो-चार बाते करके छुट्टी दे देते। कारण, प्रात काल से मध्याह्नकाल तक स्नान-ध्यान और खान-पान का क्रम चलता रहता। श्रीमद्भागवत ओर भगवद्गीता का पाठ रोज करते थे। स्वयपाकी थे, रेशमी कपडा पहनकर एक ही जून चौका चेतते और रात मे सिर्फ दूध लेते। निम्बार्क-सम्प्रदाय मे भोजन की स्वच्छता और विविधता का क्या कहना! स्वय चावल अमनिया करते, साग-भाजी सुधारते और मगही पान को बडे प्रेम से पोसते थे। उनसे नाना प्रकार के भोज्य पदार्थो की नामावली सुनने मे बडा आनन्द आता था। षट्रस भोजन के उतने प्रकार निम्बार्क-सम्प्रदाय मे भी कम लोग जानते होगे, और जानते भी हो तो असख्य नाम याद रखना सबका काम नही।

गोस्वामीजी तो मीठा-नमकीन के अनगिनत भेद बतलाने लगते थे। उनके गोपाललालजी को अन्नकूट के दिन क्या-क्या भोग लगता है, यह गिनाने लगते थे तो जान पडता था कि भोजन-विषयक कोई 'अमरकोष' घोख गये है। इतना ही नही, गोपाललालजी कितने प्रकार के खिलौने खेलते है, कितने प्रकार के फूलो की माला पहनते है, अपनी गायो और उनके बछडो को कैसे-कैसे सुघड-सलोने नामो से पुकारते है—इत्यादि बाते भी पूरे विवरण के साथ कह जाते थे। उस वृद्धावस्था मे उनकी स्मृतिशक्ति देखकर आश्चर्य होता था। उन्हे वस्तुओ के नाम गिनाते देख 'जायसी' की याद आ जाती थी। मिठाइयो, गहनो, खिलौनों और फूलो के नामो की असख्यता तो आश्चर्यजनक थी ही, एक बार किसी नवाब साहब के साथ मुलाकात की चर्चा करते हुए घोडो की किस्मे लक्षण-सहित गिनाने लगे तो दग रह जाना पडा!

मैंने देखा कि उनके पास 'हिन्दी शब्दसागर' का एक छपा हुआ फार्म था, जिस पर आदि से अन्त तक बहुत ही घनी लिखावट मे अनेक प्रकार के सशोधन और परिवर्द्धन अकित थे—मुद्रित शब्दो के अर्थों मे भी वृद्धि की गई थी और बहुत-से नये शब्द भी अर्थसहित जोडे गये थे। वे शायद मंगलाप्रसाद पारितोषिक अथवा देव पुरस्कार के निर्णायक भी थे—ठीक याद नही किसके। मगर देखा कि बहुत-से ग्रथो मे जगह-जगह निशान लगाकर रखे हुए थे, जिन्हें देखते ही सहसा ध्यान मे आ जाता था कि इन स्थलो मे अमुक अशुद्धि अथवा भ्रान्ति है। आज मुझे बहुत ग्लानि हो रही है कि उस समय अज्ञतावश मैंने कुछ नोट नही लिये, अन्यथा

आज वे कितने अनमोल एव उपयोगी होते ! उनके लिखाये हुए कुछ श्लोक और शेर मेरे पास लिखे है, पर 'पुस्तकस्था विद्या' का क्या भरोसा ! बस एक ही श्लोक याद है—

'राधे त्वमधिकधन्या हरिरपि धन्यो भवतारकोऽपि
मज्जति मदनसमुद्रे तव कुचकलशावलम्बन कुरुते'

मुझ पर उनकी अकारण कृपा थी । एक दफा जब छत से गिरने के कारण बनारस मे ही मेरा दाहिना पैर टूट गया था,[1] तब मुझे देखने के लिए शहर से दूर बरुना नदी के पास, तेलियाबाग की एक फुलबाडी मे पहुच गये थे—यद्यपि कही भी आते-जाते न थे, यहा तक कि साल-भर मे शायद ही कभी अपने घर से बाहर निकलते हो । फिर जब बनारस मे रहते हुए ही मेरी तीसरी शादी हुई, खास तौर से बुलाकर दाम्पत्य जीवन-सम्बन्धी अनेक सरस एव हितकर उपदेश दिये, जो मेरे वैवाहिक जीवन मे सचमुच बडे आनन्ददायक और फलप्रद सिद्ध हुए ।

वे ज्योतिष के भी अच्छे ज्ञाता थे । मेरे प्रथम पुत्र के जन्म के समय मेरी पत्नी की अवस्था अत्यन्त सकटापन्न हो गई तो मै दौडा हुआ उन्ही के पास गया, क्योकि एक मास पूर्व से ही उनके बतलाये हुए उपचार लाभ पहुचा रहे थे । मुझे उदास देखकर भी बहुत प्रसन्न हुए और फूल की थाली मे एक मत्र लिखकर दिया कि तुरन्त ले जाकर उसे दिखा दो । ज्योही मै थाली लेकर नीचे गली मे उतरा, पुकारकर कहा—'यह बधाई लेते जाओ', और गुलाब का एक फूल मेरे हाथ की थाली मे गिरा दिया । झटपट घर पहुचकर मैंने वैसा ही किया जैसा उन्होने कहा था । रामबाण-सा असर हुआ । दस-पन्द्रह मिनट से ज्यादा देर न लगी । मैं फिर उनकी सेवा मे पहुचा । देखते ही ठठाकर हसे । एक लड्डू मेरे हाथ पर रखते हुए बोले—'इसे प्रसूती को खिला देना और यह मत्र सूतिकागृह के द्वार पर लटका देना ।' इसके बाद एक दिन बच्चे को आशीर्वाद देने भी आये और जन्म का मुहूर्त्त आदि पूछकर तत्काल ही भविष्य-कथन किया, जो सच ही साबित हुआ ।

मेरे जिले (शाहाबाद) के सदर शहर 'आरा' मे वे अनेक वर्षों तक रह चुके थे । जेलखाने के तालाब के पास नारायणदासजी अग्रवाल के गोपाल मन्दिर मे वे पुजारी थे । उनसे पहले उनके पिता भी उसी पद पर थे । सयोग की बात, उसी मन्दिर के उत्तराधिकारी बालक का शिक्षक बनकर मुझे भी डेढ-दो साल उस मन्दिर मे ही रहना पडा था—सम्भवत १९०९-१० मे, जब मैं हाईस्कूल का छात्र था । उसी समय सुना था कि इसी मन्दिर मे रहकर गोस्वामीजी ने सस्कृत पढी थी और साहित्यसेवा भी शुरू की थी । उनके एकमात्र पुत्र पडित छबीलेलाल

---

१. यह दुर्घटना २३ नवबर, १९२७ (बुधवार) को घटी थी ।—स०

जी गोस्वामीजी का जन्म यही हुआ था। आरा मे उन्होने, १८८१ मे, आर्य-पुस्तकालय की स्थापना की थी, जो इस देश मे हिन्दी का सबसे पहला सार्वनिक पुस्तकालय था, क्योकि बाबू गदाधरसिहजी का आर्यभाषा-पुस्तकालय १८८४ मे स्थापित हुआ था, पर उसका रूप सार्वजनिक नही था—एक प्रकार से वह घरेलू पुस्तकालय था, जो १८९३ मे काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा के स्थापित होने पर १८९६ मे उसमे मिलकर ही सार्वजनिक हो सका। इस प्रकार, गोस्वामीजी का स्थापित किया हुआ आर्य-पुस्तकालय ही हिन्दी का सर्वप्रथम सार्वजनिक पुस्तकालय जान पडता है। कम-से-कम बिहार मे वह पहला ही सार्वजनिक हिन्दी-पुस्तकालय था।

जो हो, बिहार मे बहुत दिनो तक रहने के कारण—विशेषत· भोजपुरी-क्षेत्र के केन्द्र मे—वे भोजपुरी बोली से खूब परिचित थे। कभी-कभी मेरे साथ उसी बोली मे धडल्ले से बाते करने लग जाते थे और कभी-कभी विनोद-वश चिढाने के लिए भी बोल जाते थे। 'भोजपुर की ठगी', 'कुवरसिह', 'जगदीशपुर की गुप्त कथा', 'रोहतासगढ की रानी', 'बिहार-रहस्य' आदि उनके उपन्यासो के पढने से इस बात की झलक मिल जाती है कि यहा के सामाजिक जीवन का उन्होने कितनी गहराई से अध्ययन और निरीक्षण किया था।

पूज्य हरिऔधजी की तरह उन्होने भी गद्य मे दो तरह की शैलिया अपनायी है। उनकी शैली मे उनकी असीम रसिकता और उनकी चहकती हुई प्रकृति बोलती है। बुढापे को उनका रसीलापन खदेडे फिरता था। पके बाल सवारे, रोली का टीका दिये, जब खिडकी पर छैला बने बैठते तब साक्षात् रसराज-से जान पडते थे। नाटा कद, गोरा बदन, मद मुसकान, इठलाती चाल और छूटते ही मजाक करने की प्रवृत्ति देखकर कुछ लोग उन्हे ठीक समझ नही पाते थे। अपनी रचनाओ मे भले ही वे बहुत बडे रसिया दीख पडते हो, पर उनकी विद्वत्ता हरेक मिलनेवाले व्यक्ति पर धाक जमाने वाली थी। जिन्हे उनके सत्सग का कभी सौभाग्य प्राप्त हुआ, वे ही उनके प्रकर्ष पाडित्य का अनुमान कर सकते थे।

पूज्य पराड़करजी

पूज्य बाबूराव विष्णु पराडकरजी के प्रथम दर्शन का सौभाग्य प्राप्त हुआ था १९२४ या २५ मे। जहा तक स्मरण है, लखनऊ के साम्प्रदायिक दगे से बचकर मै काशी आया था। मेरे साथ पडित शान्तिप्रिय द्विवेदी भी थे। हम दोनो ही 'माधुरी' के सम्पादकीय विभाग मे साथ ही काम करते थे। काशी पहुचने पर भाई उग्रजी ने मुझे पराड़करजी की सेवा में उपस्थित किया। उन दिनो मुशी कालिकाप्रसाद (मेरे बहनोई) भी 'आज' के सम्पादन-विभाग में काम करते थे। उनसे पराड़कर-

जी ने मेरा बयान लिखने को कहा, मेरे प्राण-सकट का वृत्तान्त सुनकर बडी सहानुभूति भी दिखाई। कुछ ऐमा स्मरण होता है कि मुझसे कुछ आखो-देखा वर्णन लिखवाकर छापा भी था।

बिहार के 'पुस्तक-भडार की माहित्यिक पुस्तकमालाओ को सम्पादित करके छपवाने के लिए सन् १६२६ या २७ मे मैं काशी मे रहने लगा था। अधिकतर पुस्तके ज्ञानमण्डल प्रेस मे ही छपती थी। पराडकरजी के छोटे भाई पडित माधवरावजी प्रेस के मैनेजर थे। मै बराबर प्रेस मे जाया करता था। प्राय पराडकरजी के घर पर भी जाना पडता था। उन्ही दिनो उनके निकट सम्पर्क का सुअवसर मिला। किन्तु वे बहुत कम बोलते थे। बातचीत भी बहुत कम करते थे। काम की बात कहकर मौन हो जाते थे। उनका सारा समय स्वाध्याय मे ही लगता था। दो-चार बाते कहकर अध्ययन-मनन मे लीन हो जाते थे। फिर उन्हे छेडने की हिम्मत नही होती थी। उनके पास कभी फालतू समय था ही नही।

प्रथम दर्शन के समय जब भाई उग्रजी ने उनको मेरा परिचय दिया, तब उन्होंने हसकर पूछा था—'तुम तो शान्त स्वभाव के मालूम होते हो, 'मतवाला' के योग्य लेख कैसे लिख लेते थे?' जैसे पहाड के सामने जाते ही ऊट अपनी ऊचाई भूल जाता है, वैसे ही मैं सकुचाकर रह गया—कुछ उत्तर देते न बना। तब भी उन्होने सलाह दी कि पडित बालकृष्ण भट्ट, पडित प्रतापनारायण मिश्र, बाबू बालमुकुन्द गुप्त आदि की रचनाए पढ जाओ।

मै दण्डपाणि भैरव की गली मे रहता था। मेरी दूसरी पत्नी मृत्यु शय्या पर थी। मैं पीयूषपाणि वैद्यराज प० त्र्यम्बक शास्त्री से दवा कराना चाहता था। छोटे पराडकरजी कभी-कभी प्रेस जाते समय मेरे घर पर आ जाते थे—प्रूफ लेने के लिए। उन्होने मुझे दुखी और व्यग्र देखकर बडे पराडकरजी से कह दिया कि सकोच के मारे शिवजी आपसे नही कहते—उनको शास्त्रीजी के नाम एक सिफारिशी चिट्ठी चाहिए। दूसरे दिन मै प्रेस मे गया तो पराड़करजी ने मुझे पास बुलाकर हाल पूछा और झिडका भी कि तुम सकोचवश बेचारी की जान से खिलवाड कर रहे हो। झट एक पत्र लिखकर दे दिया। शास्त्रीजी के पास गया तो पत्र देखकर उन्होने कहा कि पराडकरजी की चिट्ठी लाये हो तो तुमसे फीस या दवा का दाम नही लूगा। पराडकरजी ने आधी फीस और दवा की आधी कीमत लेने के लिए लिखा था। शास्त्रीजी जब रोगियो को देखने निकलते थे, तब मेरे घर भी आ जाते थे। 'आज'-कार्यालय जाते-आते समय दो-तीन बार स्वय भी हाल-चाल पराडकरजी पूछने आये थे। उस समय चमरगलिया मे उनका मकान था।

शास्त्रीजी की दवा से पत्नी अच्छी हो चली। तब उसके पिता उसे बक्सर

(बिहार) मे गगातट पर रखने के लिए ले गये। वहां चरित्र-वन के एक मठ मे उसका देहान्त हो गया। मै ज्ञानमण्डल मे बैठा प्रूफ शोध रहा था कि तार आ गया। छोटे पराडकरजी मुझे अधीर देख उनके पास ले गये। उन्होने अपना दृष्टान्त देकर तोष-बोध दिया। फिर 'आज' मे समवेदना भी प्रकट की। साधारणजन से इतनी सहानुभूति, छुटभैयो पर इतना स्नेह कौन रखता है ?

शोकोद्वेग से मेरा स्वास्थ्य कुछ लच गया। मै क्वीन्स कॉलेज के पास तेलियाबाग के एक बगीचे मे स्वास्थ्य सुधारने गया। गृह-प्रवेश करते ही छत से अचानक गिर गया। दाहिने पैर की हड्डी टूट गयी। पराडकरजी दोनो भाई मुझे देखने पधारे। महीनो बाद चगा होने पर जब उनका चरण-स्पर्श करने गया, तब सिर पर हाथ फेरते हुए बोले—'दुर्घटना से बचा हुआ मनुष्य दीर्घायु होता है, तुमसे ईश्वर को अभी कुछ काम लेना हे।' मै हाथ जोडे आशीर्वाद सुनता रहा।

मैं फिर शहर मे आकर काल-भैरव के पास, भुतही इमली की गली मे रहने लगा। मेरे मकान के सामने से रोज पराडकरजी प्रेस आते-जाते गुजरते थे। सयोगवश एक दिन दरवाजे पर मुझे देखा। मेरे दोनो पैरो मे, घुटने से पावपीठ तक उकवथ (सरस दाद) हो गया था। कुछ क्षण ठिठककर घाव का हाल पूछा और शाम को अपने घर बुलाया। उनके किसी कुटुम्बी या सम्बन्धी को कभी यह रोग हुआ था। मै गया तो उस व्यक्ति के अनुभव सुनाने लगे। उस व्यक्ति का रोग जिस दवा से छूटा था, वह उनको याद थी (पर मुझे याद नही रही !)। उन्होने नुस्खा लिखवा दिया। यह भी बतलाया, कि प्रतिदिन शुद्धता से सूर्य-नमस्कार करना होगा और रविवार को नमक छोडना पडेगा। तब से रविवार को अलोना भोजन करता रहा और फिर वह रोग मुझे नही हुआ।

श्रद्धेय श्रीलक्ष्मणनारायण गर्देजी जब कलकत्ता से काशी आये, तब लक्ष्मीनारायण प्रेस से 'श्रीकृष्ण-सन्देश' फिर निकाला[1]। उस समय श्रीगणपति कृष्ण गुर्जरजी प्रेस के मैनेजर थे। उन्होने 'मतवाला'-शैली के व्यग्य-विनोद लिखने के लिए बडा आग्रह किया। गर्देजी ने भी आदेश दिया। मै प्राय लिखने लगा। कुछ दिनो बाद जब वह पत्र बन्द हो गया, तब एक दिन पराडकरजी के घर पर गुर्जरजी अकस्मात् मिल गये। उन्होने हसते-हसते वह भेद खोल दिया।

---

१. पहले यह पत्र गर्देजी के सपादन मे प्रसिद्ध औषध-व्यवसायी डॉ० एस० के० बर्मन की ओर से कलकत्ता से ही निकला था। उनका स्वरूप-चित्र—

'मझोला कद, गौर वर्ण, चन्दन या रोली का तिलक, किश्तीनुमा काली टोपी, मराठी बगलबन्दी और चादर तथा मराठी चप्पल···दूध-जलेबी ओर मगही पान के बनारसी बीड़े खाने के बड़े शौकीन।'

पराडकरजी ने छूटते ही उनसे कहा—'तुम पत्रकार नहीं हो, इसलिए यह रहस्य पचा नही सके, सम्पादक अपने गुमनाम लेखक का पता कभी नही देता, कुशल है कि पत्र बन्द हो चुका है।'

काशी के प्रसिद्ध साहित्य-सेवी पडित विनोदशकर व्यास ने मेरे सम्पादकत्व मे साहित्यिक पाक्षिक 'जागरण' निकाला था। मै आशीर्वाद के लिए पराडकरजी के पास गया। प्रोत्साहन हेतु 'आज' मे टिप्पणी लिखने के लिए भी निवेदन किया। उन्होने बडी मिठास के साथ समझाया—'आज' मे पत्र-परिचय छप सकता है, पर टिप्पणी लिखने की बात दो वर्ष की गतिविधि देख लेने के बाद ही सोचूगा।' मै सहम गया। मुझे कदराया देख उन्होने ढाढस वधाया—'दूसरो के प्रोत्साहन का आसरा छोडकर अपने परिश्रम का भरोसा करो। जो सम्पादक अपने पत्र के लिए सम्मति मागता फिरता है, उसको लेख की भीख भी नही मिलती और जो अपने बल-बूते पर लगन से पत्र को उपयोगी बनाता है, उसके पास अनायास लेख पहुचते रहते है।'

मेरी तीसरी शादी की बात चलने लगी। छोटे पराडकरजी से उनको भनक मिली। मेरी आनाकानी का भी उन्हे पता लगा। सयोगवश एक दिन प्रेस से लौटती बार भेट हो गयी। बातचीत करते अपने घर ले गये। कहने लगे—'अगर तुम्हारे मन मे विवाह की वासना है, तो दम्भ मत करो, कोई सन्तान नही है और चालीसा नही लगा है, तो सयानी लडकी से ब्याह करो, ब्याह की उम्र रहते जबरदस्ती अपनी वासना को दबाना और कमजोरी छिपाना खतरनाक है, वैराग्य हार्दिक होना चाहिए।'

ब्याह के बाद जब उन्हे भोज का निमन्त्रण देने गया तब उन्होने हसकर कहा—'प्रौढ के विवाह का भोज तृप्तिकर नही होता, पुत्र-जन्म का जेवनार ही रुचिकर होता है।' मैं लज्जित तो हुआ, पर उनके विनोद को आशीर्वाद ही माना। सचमुच साल के भीतर ही उनका आशीर्वाद सफल हुआ। तब उन्हे सादर पधराकर मुह मीठा कराया।

बिहार मे जो प्रलयकारी भूकम्प सन् १९३४ मे हुआ था, उसमे काशी भी डोली थी। मै उस समय लहेरियासराय (दरभगा) मे था। किन्तु मेरा परिवार काशी मे था। विश्वनाथजी की कृपा से मेरी पत्नी और मेरे छोटे बच्चे सकुशल रहे। पर मैं उनके लिए बहुत चिन्तित था। बिहार की बरबादी सुनकर मेरी पत्नी ने मेरे नौकर को पराडकरजी के पास भेजा। उन्होने नारी-हृदय की व्यग्रता का अनुमान करके अपने छोटे भाई माधवरावजी को मेरे घर पर सान्त्वना देने के लिए भेजा। इतना ही नही, पचीस रुपये भी भेज दिये और मेरी कुशलता का सवाद भी भेज दिया।

जब एक सप्ताह बाद मै किसी तरह काशी पहुचा तब देखा कि पराडकरजी का एक पुर्जा आया था, जिसमे मेरे सुरक्षित होने का आश्वासन दिया गया था। उस समय रेल-तार के नष्ट हो जाने से उत्तर बिहार का कोई निश्चित समाचार नही मिलता था। फिर भी उन्होंने अनजाने ही अन्दाज से वैसा लिख दिया था। उस पुर्जे ने मेरी अधीर पत्नी की प्राण-रक्षा की, नही तो घबराहट के मारे कोई दुर्घटना हो जाती। जब मैने उनके पास जाकर चरण-स्पर्श किया, तब हसकर कहने लगे कि 'हमने जान-बूझकर तुम्हारी सुरक्षा की सूचना दे दी थी, हमे आशा थी कि हमारा अनुमान ठीक निकलेगा। हम धैर्य छोडकर तुम्हारे परिवार को हताश कर देते, तो अनर्थ हो सकता था।'

उनका धैर्य तो अटल था ही, उनकी सूझ भी बडी अनोखी रही। मेरे विषय मे कुछ न जानते हुए भी उन्होने एक अनाथ परिवार को ढाढस देने के लिए अनिश्चित बात को निश्चित रूप मे लिख दिया। उसका मनोवैज्ञानिक प्रभाव हुआ। मेरे लौटने मे देर होने पर भी उन्होने मेरे घर मे कोई आशका न पैदा होने दी। कितना दृढ उनका आत्मविश्वास था!

१९५४ मे जब मेरे बडे लडके का ब्याह काशी मे हुआ, तो मेरा निमत्रण पाकर वे बारात मे भी आये। उनका शरीर सर्वथा शिथिल था, आखों की ज्योति बहुत मद हो गयी थी, सहारा देने पर ही चल सकते थे। फिर भी उन्होने हिन्दी के नाते मुझे बडाई दी। जब दूल्हे ने उनका चरण-स्पर्श किया और मैने याद दिलाया कि यह वही लडका है, जिसके जन्म मे आपने मिठाई खायी थी, तब हसकर बोले कि ऐसे ही नव-विवाह की मिठाई स्वादिष्ट होती है।

वास्तव मे उन्होने मिठाइयो से भरी तश्तरी पर भरपूर कृपा की। जनवासे से कन्यागृह तक मेरे साथ रिक्शा पर गये। कुछ दूर पतली गली मे पैदल भी चलना पडा। दूसरो के कधे पर हाथ रखकर चले। मैने जब कहा कि आपको बहुत क्लेश पहुचा रहा हू, तो बोले कि मुझे तो सुख का ही अनुभव हो रहा है। भला उनकी सहृदयता की महिमा कौन बखानेगा?

जनवासे मे एक बात उन्होने मार्मिक वेदना के साथ कही थी। वही उनकी अंतिम वाणी थी इन कानो मे। बोले—'देखो जी, काशी के महाराष्ट्र-समाज मे एक ही व्यक्ति मुझसे उम्र मे बडा है। ज्योतिषी ने मुझसे कहा था कि आप दीर्घजीवी होगे। यह दीर्घ जीवन मेरे लिए अभिशाप बन गया। मुझसे सब छोटे तो आगे चले गये और मै स्थाणु बन गया हू। प्रियजनो का वियोग सहने के लिए ही मैं दीर्घायु पैदा हुआ!'

प० विनोदशंकर व्यास

मै हिन्दी-पुस्तक-भडार (लहेरियासराय, दरभगा) के साहित्यिक प्रकाशन-विभाग की ओर से काशी मे रह रहा था। एक दिन मकान के तीसरे तल्ले की खिडकी पर बैठा था। नीचे से किसी ने पुकारा—शिवपूजनजी है?' देखा—नीचे गली मे एक गोरा-गोरा-सा खूबसूरत सफेदपोश नौजवान खडा है, जिसकी बिहसी हुई बडी-बडी आखे ऊपर की ओर, मेरी तरफ देख रही थी। लम्बे-लम्बे बाल नयी धज से सवारे हुए थे। सलोना-सा मुखडा, पतले-पतले होठो पर पान की सुर्खी। मोती-से चमकीले दात, मूछे घुटी हुई, हाथ मे पतली-सी नफीस छडी, पैरो मे आबदार पम्प-शू, चुनी धोती, चुना कुर्त्ता—बडी बाकी फबन थी ! किन्तु उस छैल-छबीलेपन मे भी साहित्यिक छटा थी। फिर सोचा—इस अपरिचित चेहरे मे इतना आकर्षण क्यो है ! खैर, बुलाया, बैठाया, आरम्भिक शिष्टाचार सम्पन्न हुआ। आते ही ऐसे मिले, मानो बरसो की घनिष्ठता है। मैं अवाक् था। मन मे सोचता था—ईश्वर ने जैसी अलबेली सूरत दी है, वैसी ही खुलासा तबीयत भी। बार-बार मेरी ओर देखकर मुसकराते, पर कहते कुछ नही। ऐसी प्रसन्न आत्मा—उस समय तक—मैने दो-चार ही देखी थी। मालूम होता था जैसे आभ्यन्तरिक आनन्दानुभूति आखो की खिडकी से झाक रही है। चेहरे पर बेफिक्री की रोशनी थी, बातो मे बेतकल्लुफी और रोम-रोम मे उछलता हुआ आन्तरिक आनन्दोल्लास !

स्पष्ट परिचय के बाद मुझे यह जानकर बडा सन्तोष हुआ कि यही हैं पडित विनोदशकर व्यास, जिनकी कहानिया मै 'इन्दु' और 'गल्प-माला' मे पढा करता था। वाह ! छोटे-छोटे भावपूर्ण वाक्यो मे कैसी मर्मभेदी कहानिया लिखते हैं, मानो गठीले बदनवाले भोटिया-जवानो की सजीली कतार खडी कर देते है।

मै अनायास कह उठा—'व्यासजी, आपकी कहानियो मे मनोवैज्ञानिकता और स्वाभाविकता एक खास सिफ्त होती है। भाषा और भाव पर आपकी निजी छाप पडी होती है।' व्यासजी बहुत सकुचाये। कुछ बोले नही। मैने भ्रमवश पूछा—'आप शायद स्वर्गीय साहित्याचार्य प० अम्बिकादत्त व्यास के वशधर है?' कुछ देर थमकर हसते हुए बोले—'मैं भारतेन्दु-सहचर स्वर्गीय प० रामशंकर व्यास का पौत्र हू।' वही रामशकर व्यास, जो भारतेन्दुजी के अतरग मित्रो मे थे और जिन्होने कई साल तक 'कविवचन-सुधा' और 'आर्य-मित्र' का सम्पादन किया था। बाबू हरिश्चन्द्र को 'भारतेन्दु' की पदवी देने का पहले-पहल इन्ही ने प्रस्ताव किया था। इनकी 'बात की करामात' जिसने पढी है, वह कभी इन्हे भूल ही नही सकता।

व्यासजी के पिता प० कालीशकर व्यास भी हिन्दी के लेखक और कवि थे।

इन्होने प० अम्बिकादत्त व्यास के 'पीयूप-प्रवाह' को दुबारा नये रग-ढग से निकाला था, किन्तु पचीस-छब्बीस वर्ष की अवस्था मे ही स्वर्गवासी हो जाने के कारण ये अपनी प्रतिभा का विशेष चमत्कार न दिखा सके। 'सरस्वती' आदि मे ये प्राय लिखा करते थे। इनकी मृत्यु के समय व्यासजी केवल तीन-चार-वर्ष के थे—जिनका जन्म २० अक्टूबर, १६०३ को हुआ था और उनके पिता प० कालीशकरजी ८ मई, १६०७ को स्वर्गवासी हुए थे।

असल मे पडित रामशकर व्यास के कोई सन्तान न थी। प० कालीशकरजी उनके सगे चचेरे भाई प० देवीप्रसादजी के पुत्र थे। किन्तु कालीशकरजी को ही रामशकरजी पुत्रवत् मानते थे—और उनकी असामयिक मृत्यु के बाद उन्ही की औलाद को अपनी करके मानते थे, और ऐसा मानते थे कि शायद ही कोई अपनी औलाद को वैसा मानेगा। परन्तु विश्वनाथजी की ऐसी मर्जी कि यह व्यासजी जिस समय बारह-तेरह वर्ष के थे, रामशकरजी भी चल बसे। आखिर उनकी वृद्धा एव विदुषी पत्नी ने इनके पालन-पोषण एव शिक्षण का भार ग्रहण किया।

स्कूली कोर्स की किताबो मे खोपडी खपाने की प्रवृत्ति व्यासजी मे लडकपन से ही न थी। इसलिए स्कूल और युनिवर्सिटी के सर्टिफिकेट को इन्होने ताश और गुड्डी से अधिक महत्त्व नही दिया। यद्यपि वे स्कूल मे भी बडे होनहार छात्र थे और उनकी प्रतिभा यहा भी बारूद ही बनी रही, पर खा-पीकर ठीक समय पर स्कूल जाना और निश्चित समय पर घर आना उनके स्वतत्र स्वभाव के सर्वथा विपरीत था। वे कुछ ऐसे उद्दण्ड भी न थे कि घरेलू शासन न माने, पर सैलानी तबीयत जरूर थी—क्रिकेट के मैदान मे जितना जी लगता, उतना पढाई के क्लास मे नही—हारमोनियम और वशी के साथ चित्त जितना एकाग्र होता, उतना कुत्ते-बिल्ली की कहानियोवाली पुस्तको के साथ नही। जिस समय उनके टोले-मुहल्ले के सहपाठी किताब लेकर घोखने बैठते, उस समय वे हारमोनियम पर उगलियो को नचाने मे निमग्न रहते। जब उनके सगी-साथी कही लेक्चर और मीटिंग मे जाकर स्कूली नोटिस की पाबन्दी पूरी करते, तब वे वशी लेकर गगा के उस पार बालू की चिकनी रेत पर एकान्त मे मौजे लेने चले जाते। हारमोनियम और वशी—यही दो उनकी चिरसगिनी थी। इन्ही को लेकर सावन मे बगीचे की बहार लूटते, इन्ही के साथ चादनी मे किश्ती पर गगा की हिलोरो के साथ डोलते, इन्ही के सग मान-मन्दिरघाट के अपने गगातटवाले ऊचे मकान की ऊपरी छत पर हवा को गुजाया करते। भला कहा ऐसा एकान्तप्रिय सगीतमय जीवन और कहा वह स्कूल का बीहड तोता-रटन्त !

इस स्वच्छन्द जीवन का परिणाम क्या हुआ ? वंशानुगत सस्कृति ने जोर मारा, व्यासजी हिन्दी-साहित्य की ओर झुके, और सहारा मिला बाबू जयशकर

'प्रसाद' जी का, जो हिन्दी-ससार के प्रथितयशा कहानी-लेखक, स्वनामधन्य नाटककार और सुकवि हुए। व्यासजी के साहित्यिक जीवन पर उनकी मृदु-मधुर साहित्यिकता की छाप खूब पडी । यही कारण है कि व्यासजी उन्हे अपना पथ-प्रदर्शक मानते रहे। उनके सत्सग से व्यासजो ने जो अमूल्य धन पाया, वह इनके जीवन की एक निधि रही। यही यह दोहा याद आता है—

पारस मो अरु सन्त मो, बडो अन्तरो जान।
यह लोहा कचन करै, करै सो आपु समान ।।

महाकवि जयशकर 'प्रसाद'

बनारस चौक की कोतवाली के पीछे मस्जिद के सामने नरियरी बाजार मे 'प्रसाद'जी की लगभग सवा सौ वर्ष की पुश्तैनी दुकान जर्दा-सुरती की है। उनके सामने के तख्ते पर सफेदा बिछवाकर वह प्राय· नित्य सध्योपरान्त रात्रि मे बैठते थे। उसी पर एक कोने मे पानवाला भी अपनी चगेली लिये बैठता था। उसके बीडे और दुकान के जाफरानी जर्दे का दौर लगभग दस-ग्यारह बजे रात तक चलता रहता था। हिन्दी-साहित्य के बडे-बडे धुरन्धर महारथी वही आकर उनसे काव्य-शास्त्र-विनोदेन समय-यापन करते थे। हिन्दी-ससार के सुप्रसिद्ध कलाविद् रायकृष्ण दासजी, श्री प्रेमचन्द, महाकवि रत्नाकर, प्राध्यापक लाला भगवानदीन, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल आदि महानुभाव वहा प्राय· आसन ग्रहण करके साहित्य की शास्त्रीय समस्याओ पर विचार-विमर्श और भाव-विनिमय करते थे। रायसाहब प्राचीन भारतीय शिल्पकला और मूर्तिकला पर, लाला भगवानदीन शब्दो की व्युत्पत्ति और निरुक्ति पर, रत्नाकरजी ब्रजभाषा-साहित्य की बारीकियो पर, आचार्य शुक्लजी सस्कृत-साहित्य की विविध प्रवृत्तियो पर तथा प्रेमचन्दजी कथा-साहित्य के मनोवैज्ञानिक पक्ष पर जब बाते करने लगते थे तब 'प्रसाद'जी की सरस्वती का मुखर होना देखकर चकित रह जाना पडता था।

वैदिक ऋचाए और उपनिषदो के लच्छेदार वाक्य तो उन्हे कण्ठस्थ थे ही, सस्कृत-महाकवियो ने किस शब्द का कहा किस अर्थ मे कैसा चमत्कारपूर्ण प्रयोग किया है, इसको भी वह सोदाहरण उपस्थित करते चलते थे। शालिहोत्र और आयुर्वेद-शास्त्रो के महत्त्वपूर्ण प्रकरणो पर उनके प्रवचन सुनने से उनके विस्तृत ज्ञान पर आश्चर्य होता था। हाथी, घोडा, गाय आदि के लक्षणो की परख और उनके स्वामियो पर उनके शुभाशुभ लक्षणो के अनिवार्य प्रभाव का वर्णन उनसे सुनने पर एक अत्यन्त रोचक और विस्मयकारी प्रसग उपस्थित हो जाता था। इसी प्रकार हीरा, मोती, मूगा आदि रत्नो के गुण-दोषो के प्रभाव का वर्णन भी शास्त्रीय प्रमाणो के साथ करते थे। एतद्विषयक ग्रन्थो के मौखिक उद्धरण सुनकर

उनकी स्मरण-शक्ति की प्रखरता पर बडा कुतूहल होता था ।

'प्रसाद'जी हलवाई-वैश्य थे। अपने हाथो बहुत ही स्वादिष्ट भोजन बनाते थे। भोज आदि मे यदि एक सौ अतिथियो को भोजन कराना है तो बादाम और पिस्ते की बर्फी बनवाने मे कितना मेवा और मावा लगेगा, कितनी चीनी और केसर-इलायची पडेगी, इसका चिट्ठा भी तैयार करा देते थे और जबानी ही बोलकर लिखवाते थे । इसी तरह और-और मिठाइयो के सामान की मिकदार बतला देते थे । भोटानी सौदागर जब शिलाजीत, पहाडी शहद, कस्तूरी आदि बेचने आते थे तब उनकी चीजो की परीक्षा करने मे अद्भुत कौशल का परिचय देते थे। भग-बूटी तो स्वय बहुत अच्छी बनाते और मित्रो को पिलाते थे। अपने घरेलू व्यवसाय के लिए जर्दा, किमाम, इत्र आदि भी अपनी देख-रेख मे बनवाते थे। अधिकतर देशी रजवाडे और जमीदार रईस ही उनके बधे ग्राहक थे। किमाम और इत्र के तैयार होने पर छोटी-सी शीशी मे अन्तरगी मित्रो को प्रेमोपहार भी दिया करते थे। जाडे मे जो मुश्क अम्बर (कस्तूरी का इत्र) बनाते थे वह लिहाफ मे लगने पर पूस-माघ के जाडे मे भी पसीना पैदा करके अपना कमाल दिखाता था। उत्तम श्रेणी का किमाम भी वैसा ही जौहर दिखाता था । बीडे पर सींक से उसकी लकीर खीच देने से जाडे की रात मे भी ललाट पर पसीना आ जाता था और गरम पोशाक उतार देनी पडती थी। काष्ठोधियो और जड़ी-बूटियो के गुणो को बखानते समय वैद्यक ग्रन्थो के श्लोक कहने लगते थे तो वैद्यराज ही प्रतीत होते थे।

बनारस के पुराने रईसो, पडितो, नर्तको, लावनीबाजो, गुण्डो, गायिकाओ और फक्कडो की बहुत-सी अदभुत कहानिया सुनाया करते थे, जो मनोरजक होने के साथ-साथ शिक्षाप्रद भी होती थी और जिनसे पता चलता था कि उस अतीत युग के गुणी और कलावन्त कितने उदार तथा निष्ठावान होते थे। रईसों की गरीबनिवाजी, पडितो का स्वाभिमान, नर्तको की नृत्य-निपुणता, लावनीबाजो की रचना-चातुरी, गुण्डो का निर्बलो की सहायता में सहयोग, गायिकाओं का मर्यादा-पालन और फक्कडो की गरीबपरवरी उनसे सुनकर उस युग का दृश्य मनश्चक्षुओ के सामने आ जाता था । मासिक 'हस' का जो 'काशी-अक' निकला था उसमें उनके लिखवाये हुए कई ऐसे लेख छपे थे । उनके अभिन्न मित्रो मे भारत कला-भवन के जन्मदाता श्री रायकृष्ण दासजी के पास भी पुराने सस्मरणो का खजाना था, परन्तु रायसाहब से लेकर उसे साहित्य-भडार मे सचित करने वाला कोई नही ।

मैं जब 'हिमालय' का सम्पादक था तब मैने रायसाहब से 'प्रसाद' जी के सम्बन्ध में संस्मरणात्मक लेखमाला लिखवायी थी, पर सम्पादन-कार्य से मेरे विरत होने के बाद यह लेखमाला अधूरी रह गयी। 'प्रसाद'-सम्बन्धी सस्मरण लिखने के

एकमात्र अधिकारी रायसाहब ही थे। हिन्दी-ससार को उनसे यह साहित्यिक धरोहर ले लेनी चाहिए थी।

'प्रसाद' जी अपनी जवानी मे कुश्ती भी लड चुके थे। उनका कसरती शरीर बडा गठीला था। उन्होने मल्ल-विद्या का भी अध्ययन किया था। पहलवानो के अजीब किस्से तो सुनाते ही थे, दाव-पेन्च के बहुतेरे नाम भी उन्हे याद थे। कई व्यापार-क्षेत्रो के दलालो की बोली मे कैसे-कैसे विचित्र अर्थबोधक शब्द है और उनका रूप कितनी सावधानी से गढा गया है, यह भी वह बतलाते थे। सुनारो और मल्लाहो की बोली के रहस्य भी वह जानते थे। खेद है कि उस समय उनकी बातचीत का महत्त्व ध्यान मे नही आया। विशिष्ट व्यक्तियो के जीवन की दिनचर्या लिखते चलने का काम साहित्य की समृद्धि के लिए किया जाना चाहिए। यदि 'प्रसाद'जी की बाते उस समय टाक ली गयी होती तो आज वे साहित्य की अमूल्य सम्पत्ति समझी जाती। किन्तु उनके जीवनकाल मे ही उनका उत्कर्ष बहुतो को असह्य हो गया था। उनकी रचनाओ की कटु-से-कटु आलोचना होती रही, पर उन्होने कभी उस पर ध्यान न दिया। वह स्वान्त सुखाय लिखते थे, अर्थ या यश की कामना से नही।

इस निर्मम ससार ने जीते-जी न प्रेमचन्द को परखा, न 'प्रसाद' को और न 'निराला' को ही। जब ये ससार से चले गये तब इनके गुणगान के साथ यह भी अनुभूत होने लगा कि साहित्य-क्षेत्र मे ये अमोघ मेधाशक्ति लेकर आये थे। 'प्रसाद'जी की जो अवज्ञा और उपेक्षा हुई वह किसी से छिपी नही है। पर हिन्दी को 'प्रसाद'जी कविता, कहानी, उपन्यास, नाटक, निबन्ध आदि के रूप मे जो निधि दे गए उसका मूल्याकन करके आज गौरव का अनुभव किया जा रहा है। जगत् की यही परम्परागत रीति जान पडती है कि वह युग की विभूति को उसके विलीन हो जाने के बाद ही पहचानता है।

'प्रसाद'जी कभी किसी कवि-सम्मेलन मे नही जाते थे। मित्र-गोष्ठी मे सस्वर कविता-पाठ करते थे। गगा मे बजडे पर मित्र-मडली को बडी उमग से गाकर अनेक कविताए सुनाते थे, पर सार्वजनिक सभाओ मे कभी नही। गोरखपुर मे अखिल भारतीय हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन का अधिवेशन 'प्रताप'-सम्पादक श्री गणेशशकर विद्यार्थी के सभापतित्व मे हुआ था। वहा के कवि-सम्मेलन की अध्यक्षता के लिए 'प्रसाद' जी के पास तार आया। तार मे सभापति विद्यार्थीजी और राजर्षि टडनजी के नाम अकित थे। उसे पाते ही अन्यमनस्कता से उसको अलग रखकर बाते करने लगे। उनके परम स्नेहभाजन और हिन्दी के प्रसिद्ध कथाकार पडित विनोदशकर व्यास वही बैठे थे। व्यासजी ने उनसे बडा आग्रह किया कि स्वीकृति-सूचना भेजकर अवश्य गोरखपुर चलिए, हम लोग साथ चलेगे। पर वह हसकर बात टाल गए। किन्तु काशी-नागरी-प्रचारिणी-सभा के कोशोत्सव-

स्मारक के अवसर पर जीवन मे केवल एक ही बार उनको सार्वजनिक समारोह मे कविता-गान करना पडा था । हिन्दी शब्द-सागर के सम्पादको का सम्मान करने का जो आयोजन हुआ था और उसके साथ जो कवि-सम्मेलन हुआ उसके अध्यक्ष थे प्रसादजी के साहित्य-गुरु महामहोपाध्याय देवीप्रसाद शुक्ल कविचक्रवर्ती । आचार्य श्यामसुन्दरजी के आग्रह पर भी जब 'प्रसाद'जी कविता-पाठ करने को तैयार न हुए तब उनके गुरु के अध्यक्ष-पद से आदेशानुसार उन्हे कविता-गान करना पडा। उनके ललित-मधुर कठ-स्वर से सारी सभा मन्त्रमुग्ध हो रही । अपनी कविता गाते समय वह स्वय भी भाव-विभोर हो जाते थे ।

उस समय काशी मे हिन्दी-साहित्य के धुरन्धर महारथियो का बडा अच्छा जमघट था । सबके साथ उनका सद्भावपूर्ण सम्बन्ध था । एक बार प्रेमचन्दजी ने अपने 'हस' मे उनके ऐतिहासिक नाटको पर सम्पादकीय मत प्रकट करते हुए लिख दिया था कि 'प्रसाद'जी प्राचीन इतिहास के गडे मुर्दे उखाडा करते है। किन्तु जिस समय यह मत प्रकाशित हुआ उस समय भी प्रेमचन्दजी सदा की भाति 'प्रसाद'जी के साथ बैठकर निर्विकार चित्त से साहित्यिक सलाप करते रहे । दोनो महारथियो मे कभी किसी प्रकार का मनोमालिन्य अथवा वैमनस्य नही हुआ। उनकी तीव्र आलोचना करने वाले सज्जन भी उनके पास पहुचकर यथोचित आदर-मान ही पाते थे । किसी के प्रति उनके मन मे कोई रागद्वेष न था । उनकी अभ्यर्थना करने के लिए कई सस्थाओ से अनुरोध होते रह गए, पर वह सम्मानित होने के लिए कभी कही काशी के बाहर नही गये । एकान्त भाव से साहित्य-समाराधन मे सलग्न रहकर ही सारा जीवन बिता दिया ।

'प्रसाद'जी छायावाद और रहस्यवाद के युग मे उत्पन्न हुए थे । खडी बोली हिन्दी मे ही कविता करते थे। किन्तु प्राचीन ब्रजभाषा-काव्य के भी मर्मज्ञ थे। पुरानी कविताए काफी कण्ठस्थ थी । ब्रजभाषा-साहित्य के बडे अनुरागी और प्रशसक थे। काशी मे होली के बाद 'बुढवा मगल' का महोत्सव गगा की मध्य धारा मे हुआ करता था। चैत की चटकीली चादनी मे प्रशस्त बजडो पर सजीले शामियानो मे नृत्य-गान का दर्शनीय आयोजन होता था। उन सुसज्जित बजडो के चारो ओर दर्शको और श्रोताओ की नौकाए रातभर डटी रहती थी। 'प्रसाद'जी की नाव पर उनके साहित्यिक बन्धु भी सगीत का आनन्द लूटते थे। काशी की सुप्रसिद्ध गायिकाए सूर और तुलसी के विनय-पद जब गाने लगती थी, 'प्रसाद'जी भाव-विह्वल हो उठते थे । एक दिन काशी-नरेश के बजडे पर विद्याधारी ने जब सूर का एक पद (अब मैं नाच्यो बहुत गोपाल) गाया तब 'प्रसाद'जी के सजल नेत्रो से अनवरत अश्रुधारा प्रवाहित हो चली ।

उनके घर पर दरवाजे के सामने ही जो शिव-मन्दिर है उसमे फाल्गुनी महाशिवरात्रि को महोत्सव हुआ करता था । उनके परिवार की यह पुरानी

परम्परा थी। उसमे अधिकतर साहित्यसेवियो का ही समागम होता था। उस गान-वाद्य के समारोह मे भी काशी की कोई सर्वश्रेष्ठ गायिका केवल शास्त्रीय सगीत सुनाने आती थी। नृत्य नही होता था, पर गेय पद शुद्ध साहित्यिक आनन्द देने वाले ही होते थे। बडे शान्त भाव से और बडी शिष्टता के साथ वह उत्सव सम्पन्न होता था। इसी प्रकार अपने वश की मर्यादा का निर्वाह वह प्रत्येक पर्व पर करते थे। श्रावणी-पूर्णिमा (रक्षाबन्धन) के दिन चादी और ताबे के सब तरह के बडे-छोटे सिक्को की राशि अपने आगे लेकर बैठते थे। अधिकाश ब्राह्मणो की दक्षिणा बधी-बधाई थी, जिन्हे पूर्ववत् अपना अश मिल जाता था। होली, दीवाली, दशहरा—सब त्योहारो मे उनके परिवार की पुरानी प्रथा का पालन विधिवत् होता था। उनका घराना काशी मे बहुत प्रतिष्ठित माना जाता रहा और उससे लाभान्वित होनेवाले लोग उसे दरबार की सज्ञा देते थे। 'प्रसाद'जी को देखते ही अनेक काशी-निवासी 'हर हर महादेव' मात्र कहकर उन्हे करबद्ध प्रणाम करते थे। यह प्रतिष्ठा बनारस मे केवल काशी-नरेश को ही प्राप्त है। किन्तु बडे राग-रग वाले धनी घराने मे पैदा होकर भी अपने निष्कलक चरित्र के प्रभाव से ही वह इस प्रतिष्ठा के आजीवन अधिकारी बने रहे।

'प्रसाद'जी सस्कृत-साहित्य के स्वाध्याय के अतिरिक्त अग्रेजी साहित्य के इतिहास ग्रन्थो का भी अनुशीलन करते रहते थे। नागरी-प्रचारिणी पत्रिका मे उनके जो शोध-प्रधान ऐतिहासिक निबन्ध प्रकाशित हुए थे उन्हे पढकर स्वनामधन्य इतिहासज्ञ विद्वान् डॉक्टर काशीप्रसाद जायसवाल ने श्री रायकृष्णदास के घर पर उनका हार्दिक अभिनन्दन किया था।

'प्रसादजी' महान् साहित्यकार के अतिरिक्त और भी बहुत कुछ थे। उनकी स्मृति-शक्ति विलक्षण थी। उनमे स्वजातीय गुण भी पर्याप्त मात्रा मे था। वह अनेक कलाओ के मर्मज्ञ थे। काशी की विशेषताओ के भी विशेषज्ञ थे। विभिन्न व्यवसायो की पारिभाषिक शब्दावली का भडार उनके पास भरपूर था। वैदिक वाङ्मय और प्राचीन इतिहास मे उनकी गहरी पैठ थी। सस्कृत-साहित्य के प्रमुख अगो का अध्ययन-मनन करने मे तो वह निरन्तर तत्पर रहते ही थे, कई भारतीय शास्त्रो मे भी उनकी बडी गहन गति थी। अपने पैतृक व्यापार मे वह पूरे दक्ष थे। विद्याव्यसनी ऐसे थे कि जब सारा ससार निद्रा-निमग्न हो जाता था तब उनको स्वाध्याय मे तन्मय होने का अवकाश मिलता था।

रायबहादुर हीरालालजी

काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा का वार्षिकोत्सव था[1]। उसी महोत्सव मे महामना मालवीयजी द्वारा भारत-कला-भवन की आधार शिला रखी गयी थी। शिलान्यास महोत्सव के दिन महामहोपाध्याय रायबहादुर पडित गौरीशकर हीराचन्दजी ओझा सभापति थे। किन्तु वार्षिकोत्सव के सभापति रायबहादुर हीरालालजी थे। उस अवसर पर प्रयाग-विश्वविद्यालय के यशस्वी इतिहासाचार्य डॉक्टर रामप्रसादजी त्रिपाठी ने 'सम्राट् अकबर' पर बडा महत्त्वपूर्ण भाषण दिया था। हिन्दू-विश्वविद्यालय के पुरातत्त्वाचार्य श्रीराखालदास बद्योपाध्याय ने 'मोहनजोदडो' की अद्भुत कहानिया सुनाकर चकित कर दिया था। विद्वद्वर श्री जयचन्द विद्यालकारजी का भी भाषण हुआ था।

मैने उस वार्षिकोत्सव का विस्तृत विवरण 'मतवाला' (कलकत्ता) मे लिख भेजा था, जो 'मतवाला' के दो-तीन अको मे छपा था। पर रहता था मै काशी मे ही। वार्षिकोत्सव बडे समारोह से चार-पाच दिनो तक होता रहा। मैं उसकी सब बैठको मे शामिल हुआ और देखता रहा कि प्रधान सभापति श्री हीरालालजी कितनी शाति और गभीरता से सभा-सचालन कर रहे है।

उसी अवसर पर श्रद्धेय बाबू श्यामसुन्दरदासजी को 'कोशोत्सव-स्मारक-ग्रथ' अर्पित किया गया था। कोश (हिन्दी-शब्द सागर) के अन्य सम्पादको को भी सुनहली घडी, फाउण्टेनपेन, दुशाला आदि दिया गया था। प्रधान कोश-सम्पादक बाबू साहब को जब ग्रथ अर्पित हो चुका, तब हीरालालजी और बाबू साहब मे कुछ विनोद भी हुआ, पर उस विनोद का रस दोनो अभिन्न मित्रो मे ही रह गया। मै केवल दोनो वयोवृद्ध साहित्य-सेवियो की मुसकान का ही आनन्द ले सका। जान पडा कि हीरालालजी की गभीरता में विनोद प्रियता का भी पुट है। उनकी शीतल हसी मे साहित्य की मृदु सुगध थी। उनकी वाणी की मथर गति इस बात को सिद्ध करती थी कि वे सच्चे 'रिसर्च स्कॉलर' है—अपनी ही लगन मे लीन रहने वाले पुरातत्त्वान्वेषी है।

वे अपने साथ 'फोनोग्राफ' के बहुत से 'रेकार्ड' लाये थे, जिन्हे सुनाकर उन्होने उपस्थित सज्जनो का बडा मनोरजन किया था। प्रत्येक रेकार्ड सुनाने से पहले वे उसका पूरा विवरण कह देते थे। मध्यप्रदेश की जगली जातियो की बोलियो का अनुसधान, सग्रह और विश्लेषण करने में उन्होने कितना परिश्रम किया था—यह उस सभा मे उपस्थित सज्जनों की विस्मय-वृद्धि का कारण बन गया। जब

१ यह शायद १९२८-२९ की बात है।—स०

वे 'गोड' जाति की स्त्रियो के गीतो का भाव समझाने लगते थे, तब मडप मे अट्टहास गूज उठता था। पर स्वय वे केवल मुसकराकर ही रह जाते थे।

जब मैं 'माधुरी' के सपादकीय विभाग मे काम करता था तब श्रीदुलारेलालजी भार्गव के पास आये हुए उनके पत्रो को पढकर आश्चर्य होता था। जिस अध्ययनशील विद्वान् को अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त थी, जो पुरातत्वेतिहास का मर्मज्ञ माना जाता था, वह इतना नम्र था कि आधुनिक लेखको को उससे सबक लेना चाहिए। मुझे उनके एक पत्र का यह वाक्य याद है—'मेरे ऐसे एकात प्रिय ग्रथकीट से अच्छी लिखावट की आशा न कीजिएगा।' अब ऐसा कौन लिखेगा ?

जिस समय मै इडियन प्रेस मे रहकर द्विवेदी-अभिनदन-ग्रथ का काम करता था, उस समय उस ग्रथ मे छपने के लिए आये हुए उनके एक लेख के विषय मे उनसे पत्र-व्यवहार करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। वह लेख शायद उनके क्लर्क या नकलनवीस का लिखा हुआ था। उसे पढने पर मुझे कुछ भ्रम हुआ, किन्तु पत्र लिखने पर उस भ्रम का उन्होने सशोधन कर दिया। फिर एक पत्र लिखकर पूछा कि और कोई भ्रम हो तो सूचित कीजिए अथवा बाबू श्यामसुन्दर-दासजी से शका-समाधान कर लीजिए। उनका वह लेख 'ठाकुर जगन्मोहन सिंह' अभिनदन-ग्रथ मे छपा।

महामना मालवीयजी

वर्तमान बीसवी शती की दूसरी और तीसरी दशाब्दी मे अपने काशी-प्रवास के समय मुझे कई बार हिन्दू विश्वविद्यालय के कला महाविद्यालय मे एकादशी के दिन पूज्य मालवीयजी के गीता-प्रवचन सुनने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। काशी-निवासी 'सुप्रभातम्'-सम्पादक पडित केदारनाथ शर्मा सारस्वत के साथ ही वहा जाता था। महामना जब व्यासासन पर विराजमान होते थे तब उनके तेजस्वी रूप की काति-छटा देखते ही बनती थी। ललाट पर चदन-तिलक, रेशमी रामनामी चादर, पुष्पहार आदि से उनका दिव्य रूप साक्षात् वेदव्यास के समान ही जान पडता था। एक बार उन्होने श्रोताओ को बतलाया था कि उनके पुण्यश्लोक पिता भी बडे अच्छे कथावाचक थे और श्रीमद्भागवत महापुराण के प्रसिद्ध वक्ता भी। अपने पिता के सम्बन्ध मे सस्मरण सुनाते हुए उन्होने कहा था कि पिताजी को भागवत का दशम स्कध प्राय समग्र कठस्थ था और रास-पचाध्यायीप्रकरण का सस्वर पाठ करते हुए उनका अश्रुप्रवाह रुकता न था।

महामना मालवीयजी कभी-कभी भागवत की कथा कहा करते थे। उन्हे भी अधिकाश कथा-प्रसंग के श्लोक कठस्थ थे। पोथी देखे बिना ही वे आनन्दगद्गद

कठ से श्लोक कहकर उसकी व्याख्या मे धाराप्रवाह भाषण करते चले जाते थे। एक-एक श्लोक पर उनकी अमृतमयी वाणी जो चमत्कारपूर्ण प्रवचन करती थी वह कर्णपुट को तो पवित्र करती ही थी, हृदय को भी आह्लादित करके तृप्त कर देती थी। जैसे हिमालय से धरातल पर उतरकर 'वसुधाश्रृगारहारावली' गगा का प्रखर प्रवाह समुद्राभिमुख प्रधावित होता है, जान पडता था, वैसे ही उनके श्रीमुख से भक्तिरस की अखड धारा श्रोतृवृद मे फैलकर सबको भक्ति-भावना मे रसमग्न कर देती थी। वैसी ललित और सरल भगवत्कथा कही फिर सुनने मे न आयी। बीच-बीच मे सूरदास और नददास के प्रकरणानुकूल पद भी कहते जाते थे, जिससे कथा की रोचकता और भी बढ जाती थी।

लीलापुरुषोत्तम भगवान श्रीकृष्णचन्द्र की बाललीला का दृश्य वर्णन करते समय उनके सजल नेत्रो मे भगवद्भक्ति का रस उमडता दीख पडता था और श्रोता मत्रमुग्ध होकर उनके भक्तिविह्वल रूप को अनिमेष नयनो से देखते रह जाते थे। उनकी भाषा और भावाभिव्यजना मे उनकी अनुभूति तथा तल्लीनता से विलक्षण माधुर्य और आकर्षण उत्पन्न हो जाता था। कभी-कभी ईश्वरानुराग की गहनता और भगवत्प्रेम की महिमा पर बोलते हुए वे अग्रेजी, फारसी और उर्दू की कविताए भी सुनाकर श्रोताओ को आनन्द विभोर कर देते थे। उनकी स्मृतिशक्ति कितनी प्रबल थी! उनकी भावुकता कैसी चित्ताकर्षिणी थी! उनकी वाणी की मधुरिमा का तो कहना ही क्या!

प्रवचन की एक बैठक मे गीता के दो-चार श्लोको का भाष्य करते-करते समय बीत जाता था। व्याख्यान के क्रम मे आधुनिक समाज, धर्म और राजनीति के ज्वलत प्रश्नो पर भी अपने सुचिंतित विचारो को व्यक्त किया करते थे। जिस अध्याय पर भाषण होता था उसके कुछ प्रमुख श्लोको के अतर्निहित भावो का मर्मोद्घाटन करके सम्पूर्ण अध्याय का वास्तविक अभिप्राय समझा देते थे और उस अध्याय मे भगवान ने कौन-सा सदेश दिया है, यह भी बतला देते थे। उनका मत था कि भगवद्गीता का प्रचार घर-घर मे होना चाहिए। श्रोताओ को उनका यह सत्परामर्श बराबर मिला करता था कि प्रत्येक गृहस्थ परिवार मे नित्य गीता-पाठ का नियमित रूप से अभ्यास चलना अत्यावश्यक है।

महामना के प्रवचन और व्याख्यान हिन्दू-विश्वविद्यालय के अतिरिक्त विशुद्धानन्द महाविद्यालय (कलकत्ता) मे, त्रिवेणी-सगम पर माघ मेले मे, बनारस के टाउनहॉल मे, दिल्ली की कांग्रेस मे और हिन्दू-महासभा (कलकत्ता) में अनेक बार सुनने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। यहा केवल विश्वविद्यालय के गीता-प्रवचन से ही, अपनी स्मरण-शक्ति के आधार पर, करीब-करीब महामना के ही शब्दों मे जो आज भी हृत्पटल पर अकित है, कुछ बातें लिखने की चेष्टा कर रहा हूं।

' भगवद्गीता कर्मयोगशास्त्र तो है ही, भक्तियोगशास्त्र भी है। भगवान श्रीकृष्ण ने द्वापर युग के अन्त के बाद ही आनेवाले कलिकाल के मनुष्यों की प्रकृति और प्रवृत्ति का ध्यान रखकर उनके उद्धार का एकमात्र उपाय भगवदाश्रय ही बतलाया है। भगवद्भक्ति मे हार्दिक अनुरक्ति ही गीता की मुख्य शिक्षा है। गोस्वामी तुलसीदास ने भी गीता के भगवद्वचनो से ही प्रभावित होकर 'रामचरितमानस' मे कलियुगी जीवो के निस्तार के लिए केवल ईश्वर-भक्ति पर ही विशेष बल दिया। भगवान ने अपने को उसी के लिए सुलभ बताया है जो सदा उनका स्मरण करता रहता है। इसी कारण भगवन्नाम-स्मरण पर ही गोस्वामी तुलसीदास ने सर्वापेक्षा अधिक बल दिया है। गीता के बल पर ही गोस्वामीजी ने 'विनयपत्रिका' मे लिख दिया है कि जिसने अहर्निश रामनामामृत पान किया उसने तपस्या, यज्ञ, दान आदि सभी शुभकर्म कर डाले। गीता मे भगवान ने भगवद्भक्त को योगी, तपस्वी, दानी आदि से भी बडा बतलाया है। अत भगवत्प्राप्ति के सभी साधनो से बढकर भगवच्चरणारविंद मे आत्मसमर्पण ही है। शारीरिक, वाचिक और मानसिक तप अथवा यज्ञादि से भगवान शीघ्र वैसे ही आकृष्ट नही होते जैसे अनन्य प्रेम से। भगवान ने अपने विश्वरूप-दर्शन का भी एकमात्र उपाय अनन्य भक्ति को ही घोषित किया है। यहा तक कि निर्गुण ब्रह्म भी अनन्य भक्ति से ही प्राप्तव्य है। अनन्य उपासक के योगक्षेम का सारा भार भगवान स्वय वहन करते है। पापजन्मा और पापजीवी भी यदि निश्चित सकल्प के साथ भगवान की शरण मे अपने आपको अर्पित कर देता है तो भगवान उसका उद्धार कर देते है। अत गीतानुसार भगवद्भजन ही आत्मोद्धार का सर्वोत्तम मार्ग है।'

गीता-प्रवचन मे महामना विशेषत ईश्वर-भक्ति, ईश्वर-प्रार्थना और ईश्वरोपासना पर ही जोर देते थे। गीता का अमर सदेश यही बतलाते थे कि निष्कपट भाव से मनुष्य भगवद्भजन मे दत्तचित्त हो रहे। साथ ही उनका यह भी कहना था कि भगवत्प्रीत्यर्थ कर्म करते हुए ही भजन सुमिरन होना चाहिए। जीवदया और लोकोपकार की प्रेरणा से किये हुए सभी कर्म भगवान को सतुष्ट करते है। अत भक्ति और भजन के बहाने लौकिक कर्मो से उदासीन या विरक्त होना उचित नही। फलासक्ति को त्यागकर किये हुए लोकहितकर कार्य भगवान द्वारा अवश्य पुरस्कृत होते है। सच्ची निष्ठा के साथ किया गया कोई कर्म आज तक भगवान से अपुरस्कृत नही रहा। जो कुछ करो-धरो, भगवान को समर्पित करते चलो, यही मानव-जीवन की सार्थकता है।

मालवीयजी इस युग के महर्षि थे। उनके बिना भारतीय सस्कृति आज अनाथा दीख पडती है। गोमाता के तो वे सचमुच 'मदनमोहन' थे। दिल्ली काग्रेस मे अध्यक्ष पद से अतिम मौखिक भाषण करते समय स्वागताध्यक्ष हकीम

अजमलखा के कधे पर हाथ रखकर गोरक्षा की उपेक्षा पर बिलख-बिलखकर रो पडे । कैसा कारुणिक हृदय था उनका ! हिन्दीमाता को भी उनका अभाव बहुत खलता है । सरकारी दफ्तरो मे नागरी-प्रचार के लिए उनका प्रयत्न सर्वविदित है। बम्बई में जब वे दूसरी बार अखिल भारतीय-हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के अध्यक्ष हुए तो परम्परागत रीति के अनुसार उनके मनोनीत नाम का प्रस्ताव उपस्थित करते हुए पडित जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी ने ठीक ही कहा था कि 'मद न मोह न' अर्थात् मालवीयजी मे मद या मोह नही है, निर्विकार महापुरुष है । वस्तुत वह सौम्यमूर्ति दर्शनीय और वदनीय थी । श्री एड्रूज साहब ने अपने एक सस्मरण मे लिखा था—'महात्मा गाधी के साथ मै शिमला मे टहल रहा था, आगे-आगे मालवीयजी और मद्रास उच्च-न्यायालय के न्यायाधीश श्रीशकरन् नैयर चल रहे थे । मैने महात्माजी से कहा कि आपका असहयोग आदोलन खूब सफल हुआ । महात्माजी ने मालवीयजी की ओर छडी से इशारा करते हुए कहा कि जब तक इस महापुरुष पर असहयोग का रग नही चढता तब तक चालीस करोड भारतवासियो के असहयोगी हो जाने से भी मै अपनी सफलता नही मानूगा ।'

काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा मे कोशोत्सव के अवसर पर भारत-कलाभवन का शिलान्यास-महोत्सव भी हुआ था । कला-भवन की नीव पूज्य मालवीयजी के यशस्वी हाथो से पडनेवाली थी । मध्याह्न का समय निश्चित था । महोत्सव के अन्तिम दिन महामहोपाध्याय रायबहादुर प० गौरीशकर हीराचन्दजी ओझा अध्यक्ष थे । सब कार्यवाही समाप्त हो गयी, केवल पूज्य मालवीयजी की प्रतीक्षा थी । प्रतीक्षा मे लगभग दो घटे का समय व्यतीत हो गया । हताश होकर श्रद्धेय बाबू श्यामसुन्दरदासजी ने अध्यक्षजी से शिलारोपण के शुभ कृत्य को पूरा करने के लिए अनुरोध किया । अध्यक्षजी बार-बार यही कहते थे कि कुछ देर और बाट जोहना चाहिए । अन्त मे वे भी निराश हो गये, बाबू साहब का अनुरोध-पालन करने उठे । ज्यो ही अध्यक्षजी ने मोजा निकालकर पैर धोने का उपक्रम किया, पूज्य मालवीयजी की मोटर दौडती हुई आ पहुची । रेशमी धोती, ऊनी शाल, नगे पाव, ललाट पर रोली और दधि-अक्षत का तिलक । मोटर से हसती हुई एक मूर्ति उतरी । घोर प्रतीक्षा के उपरान्त दिव्य दर्शन बडा आनन्दप्रद प्रतीत हुआ । खुले बदन मे दधीचि की हड्डियों को देखकर एक सज्जन कहने लगे—'इस कृश शरीर के अस्थि-पजर में न जाने कैसी ज्योतिष्मती आत्मा बद है !'

मालूम हुआ, राजा मोतीचन्द के यहा किसी लडके का उपनयन-संस्कार था । उस अवसर पर आशीर्वाद देने के लिए गए थे । वही के कृत्य सम्पन्न करने में विलम्ब हो गया । मोटर ही से मुगलसराय जाएंगे । दिल्ली मे कांग्रेस-

कार्यकारिणी की बैठक है। मोटर के आगे-पीछे बिस्तर आदि के बडल बधे हुए थे।

भारत-कला-भवन की नीव डालने का यश उन्ही हाथो को प्राप्त हुआ, जिन्हे हिन्दू विश्वविद्यालय के अतिरिक्त अनेक महामहिम सस्थाओ के सस्थापन का सुयश प्राप्त है। इसे भारत-कला-भवन का ही सौभाग्य कहना चाहिए।

हिन्दू विश्वविद्यालय से जिस समय साप्ताहिक 'सनातनधर्म' निकला, उस समय मै काशी मे था। लगभग दो साल से वेकार बैठा था। मेरे मित्र पडित रामानुग्रह शर्मा व्यास[1] ने एक दिन आकर कहा कि पूज्य मालवीयजी ने तुम्हे बुलाया है। मुझे बडा आश्चर्य हुआ। सहसा विश्वास न हुआ। परन्तु व्यासजी पर पूज्य मालवीयजी की बडी कृपा रहती थी। वे अखिल भारतीय सनातनधर्म-महासभा (हिन्दू विश्वविद्यालय) के उपदेशक और कथा-वाचक थे। इसलिए उनकी बात को सत्य मानकर मै गया। इसी व्याज से एक विश्ववद्य महापुरुष के दर्शन करने गया। मन मे बहुत सकुचाया था, पर मित्र का आग्रह टालना भी कठिन था।

पूज्य मालवीयजी ने पहला ही प्रश्न पूछा—'तुम्हारी योग्यता क्या है?' मैंने स्पष्ट निवेदन किया—'आपके समक्ष कहने योग्य कोई योग्यता मुझमे नही है।' अब व्यासजी कहने लगे। बहुत-कुछ कह गए। आज्ञा हुई, दूसरे दिन फिर आओ। व्यासजी के साथ पुन गया। इस बार स्वार्थ-त्याग का उपदेश मिला। पर उसके लिए मुझमे शक्ति नही थी। कभी स्वार्थ-सचय किया ही नही, स्वार्थ-त्याग की शक्ति आये कहा से? फिर भी व्यासजी ने पीछा न छोडा। दो बार और साथ ले गए। इस तरह चार बार बहुत समीप से पूज्य चरणो के दर्शन सुलभ हुए। बाते जो हुई उनसे ज्ञात हुआ कि इस महान् मस्तिष्क मे कितनी बडी-बडी योजनाए भरी हुई है।

आचार्य द्विवेदीजी

मैं केवल एक बार आचार्य द्विवेदीजी के आराध्य चरणो का स्पर्श कर कृत-कृत्य

---

१ व्यासजी बलिया जिले के निवासी थे। इन्होने हिन्दी मे 'कर्तव्यशास्त्र' नामक एक बडी पुस्तक लिखी और प्रकाशित की थी। बडे प्रभावशाली कथावाचक थे। जहा कथा बांचते थे, वहा बडे समारोह से यज्ञ भी करते थे। इनकी कथा मे कई जगह मालवीयजी भी पधारे थे।

हुआ था—काशी की नागरी-प्रचारिणी सभा मे[1]। अचानक, कुछ घटो के लिए वे काशी आ गए थे। काशी के सहृदय कलाविद् राय कृष्णदासजी के आदेश से बडी शीघ्रता मे एक अभिनन्दन-पत्र लिखा गया। श्री प्रवासीलालजी वर्मा के सहयोग से, प्रेमचन्दजी के 'सरस्वती प्रेस' मे, दो घटे के अन्दर ही, उसे छपवा लाया। तुरन्त वह पढा गया। द्विवेदीजी तागे पर सवार हुए। मैने साहित्यिक ऋषि के चरण-रेणु का अमृताजन आखो मे लगाया। फिर कभी वैसा सौभाग्य प्राप्त न हुआ। पहले तो कभी हुआ ही न था।

एक धुधली स्मृति और है। अखिल भारतवर्षीय हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन का छठा अधिवेशन प्रयाग मे हुआ था। बाबू श्यामसुन्दरदासजी सभापति थे। भारतेन्दु-सखा 'प्रेमघनजी' पधारे थे। दूर ही से एक सज्जन ने बतलाया, वही द्विवेदीजी भी बैठे है—बगलबन्दी और पडिताऊ टोपी तथा चमरौधा पहने, साहित्यिको के पुरोधा की तरह! वही प्रथम दर्शन एकलव्य की साधना बन गया।

आरा की नागरी-प्रचारिणी सभा मे 'सरस्वती' की पुरानी और नयी प्रतिया बराबर पढा करता था, मेरे साहित्यिक गुरु पडित ईश्वरीप्रसाद शर्मा का यही आदेश था। इसलिए मन ने 'सरस्वती'-सम्पादक के दर्शन की बडी उत्कट लालसा थी। तीर्थराज प्रयाग मे दर्शन तो हुए, पर चरण-स्पर्श का साहस न हुआ। बार-बार दूर से ही मन-ही-मन प्रणाम किया।

इस प्रथम दर्शन से भी पहले स्वप्न-दर्शन! प्रयाग ही मे। उस समय इडियन प्रेस विश्वविद्यालय के अति निकट था—आज के स्थान पर नही। मित्रवर कुमार देवेन्द्रप्रसाद जैन की 'प्रेमकली', 'प्रेम-पुष्पाजलि' आदि प्रसिद्ध पुस्तके इडियन प्रेस मे ही छप रही थी। मै उनके साथ वहा महीनो रहा। प्राय नित्य प्रेस मे जाना पडता। एक दिन देखा—बरसाती मे बग्घी खडी है, प्रेस के मालिक चिन्तामणि बाबू साफ कपडे की एक गठरी हाथ मे लिये एक देहाती ब्राह्मण को घोडागाडी मे चढाने जा रहे है। मै कविवर सत्यनारायणजी की 'प्रेमकली' कविता का प्रूफ देखने मे लीन था। गाडी चली गयी। चिन्तामणि बाबू की ओर सकेत कर कुमार साहब मुझसे बोले—'देखा आपने, कैसे गुणग्राही है, पीछे-पीछे चपरासी खाली हाथ गया, द्विवेदीजी की गठरी स्वय अपने हाथो ले गये!' कलम छोडकर मैने सिर थामा—'अरे, यह द्विवेदीजी थे? मै अच्छी तरह दर्शन भी न कर सका!' कुमार साहब ने आश्वासन दिया—'पुस्तके निकल जाए तो उनके घर चलकर मिलेगे भी।' पर गाठ की छूटी मणि फिर कहा मिलती है! वह झलक-

---

१ सभवत १९२९ मे।—स०

झाकी सपने की सम्पत्ति हो रही।

हा, उपर्युक्त अभिनन्दन-पत्र लेकर जब द्विवेदीजी चले गए तब रायसाहब से मैने निवेदन किया कि 'सभा' की ओर से द्विवेदीजी को एक सर्वागसुन्दर अभिनन्दन-ग्रथ दिया जाना चाहिए। रायसाहब के मन की बात सामने आयी। उन्होने भगीरथ प्रयत्न किया। उनके उद्योग-रथ मे मेरे दुर्बल कधे भी भिडे। वह कई महीनो के लगातार परिश्रम की बडी लम्बी कहानी है। मै महीनो इडियन प्रेस मे बैठकर अभिनन्दन-ग्रथ तैयार कराता रहा, पर जब उसके समर्पण का समय आया तब मेरे पाच वर्ष के पुत्र (अर्द्धेन्दुशेखर आनन्दमूर्ति) पर शीतला भवानी का भयकर आक्रमण हुआ। काशी से तार पाते ही मैंने प्रेस से प्रस्थान किया। उस दिन से एक-डेढ महीने तक दरवाजे के बाहर न निकला। काशी मे अभिनन्दन-समारोह हो रहा था, मैं व्यग्र बच्चे की सुश्रूषा मे व्याकुल था। वर्तमान 'सरस्वती'-सम्पादक शुक्लजी मेरा बकस-बिस्तर प्रेस से लाकर दे गए, पर मै उन्हे प्रणाम करने के सिवा धन्यवाद भी न दे सका। उत्सव का केन्द्र सभा-भवन मेरे मकान से सौ गज से अधिक दूर न था। पर मै तो दूसरी ही दुनिया मे था। महीनो से पूजा के फूल सजोता रहा, पर पूजा के समय 'देवता' के दर्शन से भी वचित रहा। 'प्रसादजी' से सुना कि ओरछा-नरेश मोटर-बोट से रायसाहब के गगा-तटस्थ भवन मे द्विवेदीजी के दर्शन करने आते थे। पर उस समय का कोई भी आनन्द मेरे भाग्य के बाटे का नही था। श्री मैथिलीशरणजी और रायसाहब, द्विवेदीजी का लिखा हुआ एक श्लोक मुझे दे गए और कह गए कि आचार्य का हृदय सहानुभूति से विह्वल है, पर अस्वस्थ हो जाने से यहा तक आने मे असमर्थ है—बच्चे को यह आशीर्वाद दिया है। उस श्लोक मे बच्चे के आरोग्य-लाभ के लिए जगदम्बा की प्रार्थना थी। 'रक की निधि' की तरह उसे जुगाकर रख लिया।

द्विवेदीजी जब काशी से घर चले गये तब एक पत्र लिखकर बच्चे का समाचार पूछा। मै अभाग्यवश प्रयाग के 'द्विवेदी-मेला' मे भी न पहुच सका। क्योकि शीतला के कोप से बच जाने पर भी बच्चा साल भर शय्याग्रस्त रहा। तब भी द्विवेदीजी ने दौलतपुर जाकर कृपापत्र भेजा कि प्रयाग क्यो नही आये—सुना है कि आर्थिक कष्ट मे हो, क्या बात है, नि सकोच लिखो। उनकी ममता जब याद आती है, हिन्दी-ससार सूना नजर आता है।

अभिनन्दन-ग्रथ की छपाई जब समाप्त हो चली तब द्विवेदीजी के कुछ खास चित्रो के सम्बन्ध मे उनसे पत्र-व्यवहार करना पडा। उन्होने बडी उदासीनता से उत्तर दिया कि शुक्लजी (वर्तमान 'सरस्वती'-सम्पादक) से सबका परिचय मिल जाएगा—मुझसे बार-बार पूछकर मेरे भागवद्भजन मे बाधा देना ठीक नही। अभिनन्दनग्रथ के विषय मे उनको एकदम विरक्त देखा। बहुत आग्रह और अनुनय

विनय करने पर उन्होने प्रश्नावली माग भेजी और प्रश्नो के सामने 'हा' या 'नही' लिखकर भेज दिया। जान पडता था कि अभिनन्दन-ग्रथ उन पर लादा जा रहा है। उन्होने एक बार स्पष्ट ही लिख दिया कि आत्मविज्ञान और आत्मश्लाघा के काम मे मुझे घोर मानसिक ग्लानि हो रही है—इस विषय मे मुझे अब और न छेडो।

जिस समय मै अभिनन्दन-ग्रथ का काम कर रहा था उसी समय रायसाहब ने श्रीमान् बाबू श्यामसुन्दरदासजी से अनुमति दिला दी कि 'सभा' मे द्विवेदीजी का जो निजी सग्रहालय है उसमे से कुछ खास चीजे मै देख सकू। मै केवल पाण्डुलिपियो के बडलो को देखने लगा। जितने दिनो तक द्विवेदीजी 'सरस्वती' के सम्पादक रहे, उतने दिनो की 'सरस्वती' की प्रेस-कॉपी उन्होने 'सभा' मे दे दी है। प्रति वर्ष का बडल अलग-अलग है। एक बडल मे हर महीने की नत्थी अलग-अलग है। उसमे आजकल के बडे-बडे साहित्य-सेवियो की रचनाओ की दयनीय दशा देखकर मेरी तो आख खुल गई। अब कौन सम्पादक उतना परिश्रम करेगा। द्विवेदीजी की प्रकाशित पुस्तको की पाण्डुलिपिया भी 'सभा' को मिली है। 'हिन्दी-महाभारत' की हस्तलिखित कॉपी का विशाल बडल देखकर द्विवेदीजी की लगन और सुव्यवस्था पर बडा विस्मय हुआ। पाडुलिपियो के अतिरिक्त चिट्ठियो और अखबार की कतरनो के भी कई बडल है। खेद है, मुझे एक पखवारे से अधिक अवकाश न मिल सका। वहा महीनो 'रिसर्च' (अनुसन्धान) करने की जरूरत है। हरेक बडल से एक-एक लेख तैयार हो सकता है। मै थोडे समय के अन्दर जो कुछ नोट कर सका, उससे एक बडा लम्बा-सा लेख तैयार हो गया, जो प्रेमचन्दजी के 'हस' मे दो-तीन महीने तक छपता रहा। उसे पढकर द्विवेदीजी ने बडे खेद के साथ मुझे एक पत्र लिखा कि हमारे जीते-जी वह लेखमाला न छपती तो हम बडी शान्ति से अपने जीवन का अन्तिम भाग बिता पाते। मैने अपने नोटो को जरूरी कागजो के बडल मे डाल दिया—लेखमाला यही समाप्त हो गई। इस तरह मैने देखा कि द्विवेदीजी अपनी बडाई सुनना तनिक भी पसद नही करते। मैं उन नोटो के आधार पर 'अभिनन्दन-ग्रथ' के लिए लेख लिखनेवाला था। रायसाहब की आज्ञा मिल चुकी थी। पर ईश्वर की कुछ ऐसी इच्छा हुई कि अपने पुत्र की बीमारी के कारण मैं लिख न सका। अगर कही मेरा वह लेख छप जाता तो द्विवेदीजी 'अभिनन्दन-ग्रथ' को देख-देखकर अन्तराल तक मानसिक क्लेश पाते रहते। परमात्मा ने एक बडे भारी दुखदायक कर्म से मुझे बचाया। ईश्वर जो करता है, अच्छा ही करता है।

६

खंड-प्रलय !

दरभंगा : १९३४—

•

'माधुरी' के सपादकीय विभाग से लौटकर जब शिवजी १९२५ मे दुबारा कलकत्ता पहुचे तो उन्होने 'मतवाला'-मडल मे रहते हुए 'मौजी,' 'समन्वय', 'गोलमाल' आदि पत्रिकाओ का सपादन किया और उसी अवधि मे वहा के वणिक प्रेस से निकलने वाले 'उपन्यास-तरग' के भी सपादक हुए। 'पुस्तक-भडार,' लहेरियासराय (दरभगा) के अधिष्ठाता रामलोचनशरण उन दिनो अपने प्रकाशन की पुस्तको का मुद्रण कलकत्ता या काशी मे कराते थे। रामवृक्ष बेनीपुरी के सह-सपादन मे १९२५ मे उन्होने 'बालक' का प्रथमाक वणिक प्रेस मे ही शिवजी की देख-रेख मे .मुद्रित कराया। उन्ही दिनो से लगातार शरणजी शिवजी को अपने प्रकाशनो के सपादन-कार्य से सम्बद्ध करना चाहते रहे और अतत उन्ही के विशेषाग्रह पर शिवजी कलकत्ता से काशी गये जहा शरणजी के प्रकाशन की पुस्तके एव 'बालक' के अक शिवजी की देखरेख मे छपने लगे। तीसरे विवाह (१९२८) के बाद शिवजी पहले कालभैरव मुहल्ले मे और फिर बुलानाला मुहल्ले मे रहने लगे थे जहा १९२९ मे उनके ज्येष्ठ पुत्र, १९३३ मे प्रथम पुत्री एव १९३५ मे द्वितीय पुत्री का जन्म हुआ था। (कनिष्ठ पुत्र का जन्म लहेरियासराय मे १९३७ मे हुआ) काशी प्रवास (१९२६-३५) के इन्ही आठ-नौ वर्षों की अवधि मे, जब ये मुख्यत. 'पुस्तक-भडार' के प्रकाशन कार्य से

सम्बद्ध रहे, पहले १९३०-३१ मे सुलतानगज मे 'गंगा'-सपादक के रूप मे एक वर्ष रहे, फिर १९३२ मे 'जागरण' पाक्षिक का सपादन किया, १९३२-३३ के कुछ महीने प्रयाग मे 'द्विवेदी-अभिनदन-ग्रथ' के सपादन मे व्यतीत किये, और अतत १९३३ के उत्तरार्द्ध मे 'पुस्तक-भडार' (लहेरियासराय) की सेवा मे चले गये, यद्यपि इस पूरी अवधि मे परिवार काशी मे ही रहा और सभवत १९३४ के अत मे ही शिवजी अपना परिवार लहेरियासराय ले गये। जनवरी, १९३४ मे बिहार मे भूकम्प को जो भयकर विपत्ति आयी उस समय शिवजी 'पुस्तक-भडार' (लहेरियासराय) मे थे, किन्तु परिवार काशी मे था। भूकप के उस प्रलय-ताडव का रोमाचकारी चित्र इस सस्मरण मे प्रस्तुत है।

•

दरभगा मे खड-प्रलय !

१५ जनवरी, १९३४, सोमवार. उस दिन मै लहेरियासराय मे था, जो दरभगा नगर का एक हिस्सा है। लगभग सवा दो बजे दिन मे अचानक भूकम्प आया। मै 'बालक' के सहकारी सम्पादक श्री अच्युतानन्द दत्त के साथ 'पुस्तक-भण्डार' के अहाते मे फूस की एक झोपडी मे बैठकर 'टाइम्स ऑफ इडिया' का वार्षिक विशेषाक देख रहा था। जब एकाएक मेज हिलने लगी, मै अपनी चौकी से झट नीचे कूद पडा। दत्तजी भी अपनी कुर्सी छोडकर मेरे साथ ही मैदान मे भागे। इतने मे भूकम्प का वेग बहुत बढ गया। 'पुस्तक-भडार' के अहाते मे चारो ओर भगदड मच गयी। 'भडार' की विशाल इमारत से सब कर्मचारी हडबडाकर निकल आये। प्रेस के मकान से, दफ्तरीखाने से, टिड्डीदल की तरह आदमी निकल भागे। किन्तु कोई अहाते के फाटक से बाहर न निकला। सब-के-सब अहाते के सहन मे त्रस्त और चकित खडे होकर 'भडार' के भव्य भवन का थिरकना देखने लगे। जैसे कोई बालक अपनी हथेली पर गेंद को उछालता है, वैसे ही वह भडकीली इमारत पृथ्वी पर उछलने लगी। दो-चार ईंटो का खिसककर गिरना तो स्पष्ट दीख पडा, पर उसके बाद सारी इमारत धूल के अधकार मे छिपने लगी। देखते-ही-देखते, निमिष-मात्र मे, दीवारे अरराकर धमाधम गिर पडी। धूल के अन्धकार से आगे का सहन भर गया। इसी बीच में प्रेस का दोमंजिला

मकान भी बिखरी हुई ईंटो का ढेर बन गया। अहाते की चारदीवारी भी जड से कटे रूख की तरह जमीन पर आ रही।

आदमी जितने थे, सब उसी सहन मे तितर-बितर कापते हुए खडे थे। मगर जब पृथ्वी तूफानी तरगो पर नाचती हुई किश्ती की तरह डोलने लगी—'चढे मत्त गज जिमि लघु तरणी'—तब किसी आदमी के लिए खडा रहना असम्भव हो गया। पैरो के डगमगाने मे देह मे कपकपी लग गयी। व्याकुलता के मारे सब लोग बैठ गये। लेकिन जमीन मे हाथ टेके विना बैठना भी असम्भव था। और बैठने पर दूसरी आफत नजर आयी। धरती फटने लगी। अब तक लोगो की जबान पर केवल 'राम'नाम था, पर जमीन का दरकना देखकर सब लोग जोर-जोर-से 'त्राहि भगवन् ! त्राहि भगवन् !' पुकारने लगे। मालूम होने लगा, पृथ्वी नीचे धस रही है। अचानक पाताल-प्रवेश का प्रसग उपस्थित देखकर सब लोग करुणार्द्र नेत्रो से आकाश की ओर ताकने लगे। 'सीताराम', 'सीताराम' की रट लग रही थी। भय-कातर आखो के अचल पसारकर लोग परमात्मा से प्राणो की भीख माग रहे थे। वैसा दिल दहलानेवाला दृश्य इन आखो ने कभी देखा न था। वैसा भयकर आर्त्तनाद भी इन कानो ने कभी सुना न था। दिल के अन्दर धड़कनो का ताता बधा था। जीभ की सुबुद्धि ऐसी जगी कि क्षण-भर भी 'राम'नाम के सुमिरन से विलग न हुई। कानो मे लोगो के करुण कठ से निकला हुआ 'त्राहि-त्राहि' का ऊचा स्वर तो भर ही रहा था, एक प्रकार का और गम्भीर नाद भी सुन पडता था। मालूम होता था, सैकडो हवाई जहाज एक साथ ही उडते आ रहे हे, या तेजी से दौडने के लिए हजारो फौजी मोटरो के इजिन एक साथ ही खोल दिये गये है। रह-रहकर यह भी मालूम होता था कि पैरो के नीचे से पृथ्वी बडी तेजी से सरकती जा रही है। जैसे दौडती हुई डाकगाडी पर चढे हुए मुसाफिरो को बाहर की दुनिया भागती नजर आती है, वैसे ही हम लोगो को भी चारो ओर की चीजे दनादन सरकती नजर आती थी। सूर्य भी चक्कर खाता हुआ दीख पडता था। ठीक प्रलय का दृश्य था।

उस समय भविष्य का ध्यान न था, जीवन का भरोसा न था, लोक-परलोक की चिन्ता न थी, अगर कुछ था तो केवल ईश्वर का सहारा ही था। उस समय ऐसे लोगो के मुह से भी राम-नाम सुन पडा, जो कभी सपने मे भी राम का नाम नही लेते थे। उसी समय जान पडा कि ईश्वर अगर सबसे बडा मारनेवाला है, तो बचानेवाला भी वही है। ईश्वर ने क्षण भर मे ही अपनी विचित्र लीला की खूबी दिखला दी। घोर नास्तिक भी उस समय कट्टर आस्तिक नजर आया ! जीभ और तालु के असमर्थ एव शुष्क हो जाने पर भी हृदय मे केवल ईश्वर ही के सुमिरन का तार लगा हुआ था।

धरती फटने से जो हडकम्प छा गया था, वह जल के सोते फूट निकलने से और भी बढ गया। चारदीवारी के गिर जाने से बाहर के मैदान मे फूटे हुए सोते भी दीख पडने लगे। चारो ओर जगह-जगह फव्वारे फूट पडे। उनके अन्दर से बडे वेग के साथ बालू और मिट्टी मिला हुआ जल निकलने लगा। फाटक के सामने वाली सडक से लोग बेसुध दौडे जा रहे थे। गिरते-पडते, डगमगाते-डोलते, फिसलते-चिल्लाते, लोग अन्धाधुन्ध भाग रहे थे। कचहरी से भागे हुए एक वकील के एक ही पैर मे जूता था।

ईश्वर की दया से कुछ ही मिनट बाद भूकम्प का प्रचड प्रकोप शान्त हुआ। किन्तु जल के सोते शाम तक मटमैला पानी उगलते रहे। 'भडार' के दफ्तरीखाने मे ऐसा जबरदस्त सोता फूटा कि सैकडो रिम छपे हुए कागज और भजे हुए फॉर्म कीच मे लथपथ सन गये।

अब बाहर से भी बडी-बडी डरावनी खबरे आने लगी। कोई आकर कहता—अदालत-दीवानी की दो-मजिला इमारत चकनाचूर हो गयी, बहुत-से लोग दब मरे और घायल हो गये। किसी ने आकर कहा—अस्पताल के गिर पडने से पचासो रोगी घायल हो गये और चप गये। एक ने सुनाया—बाजार की सडक फट जाने से इक्के का घोडा धस गया है, लोग निकाल रहे है। इसी तरह के भयावने समाचारो का ताता बध गया। शाम तक खबरो का तार न टूटा। आतक छा गया। 'धीरज हू कर धीरज भागा।' हर घडी यही आशका होती थी कि धरती डोल रही है। जो कोई आता था, यही पूछता था—'बाल-बच्चे बच गये ? कोई आदमी तो नही मरा ?' उस समय सिर्फ जिन्दगी की भूख थी। धन की कोई चिन्ता या चर्चा नही करता था। प्राय: धन की ओर से सब विरक्त दीख पडते थे। सब आकर यही कहते थे कि जान बच ग ी तो धन फिर हो जाएगा।

मास्टर साहब[1] के उद्विग्न मस्तिष्क पर लोगो की इस मनोवृत्ति का बडा प्रभाव पडा। जब उन्होने सब पर एक ही तरह की विपत्ति देखी, तब उनका चित्त कुछ शात हुआ। वे अपने कर्मचारियो की खोज-पूछ करने लगे। सबका पता लग गया, पर 'बालक'-कार्यालय के एक असिस्टेंट क्लर्क का पता न मिला। वह विद्यापति-पुस्तकालय का लाइब्रेरियन भी था। इसलिए लाइब्रेरी की ओर झाककर देखा गया। वहा भी न था। बडी चिन्ता छा गई। आशका होने लगी

---

१ 'पुस्तक-भडार' (लहेरियासराय) के सपादक श्री रामलोचनशरणजी जो अपने आरम्भिक जीवन में बहुत दिनो तक शिक्षक होने के कारण बाद में भी 'मास्टर साहब' ही कहे जाते रहे।

कि हो-न-हो, वह मलवे के नीचे दब गया । आखिर अनुमान सत्य निकला । दूसरे दिन सबेरे जब मलबा हटाया जाने लगा, क्लर्क बेचारे की लाश मिली । देखने से पता लगा कि भागते समय वह सबसे पीछे निकला और बाहरी द्वार की अन्तिम सीढी तक पहुचते-पहुचते उसके ऊपर दीवार गिर पडी । उसकी मृत्यु से सबको बडा भारी अफसोस हुआ ।

दो-तीन दिनो तक मै कही बाहर घूमने न गया । प्राय सब लोग एक जगह उदास बैठकर ईश्वर की अद्भुत शक्ति पर आश्चर्य और भय प्रकट करते थे । राते आखो मे कटती थी, दिन घबराहट मे बीतते थे । उस समय तुलसीदासजी के ये पद बार-बार याद आते थे—'भृकुटि-विलास जासु लय-होई' और 'जेहि राखे रघुबीर, ते उबरे तेहि काल मह ।' ऐसा जान पडता था कि क्षण भर मे ही ईश्वर ने धन-जन का विध्वस ही कर डाला और बचे हुए को वेदात और वैराग्य का पाठ भी पढा दिया । फिर भी उस समय प्राणो की भूख बडी तीखी थी, अन्न की भूख काफूर हो गई थी । जब लोग आकर कहते थे कि लहेरियासराय और दरभगा मिलाकर चार हजार से ऊपर आदमी मरे है तब रूह काप उठती थी । प्रत्यक्षदर्शी लोग जब रोमाचकारी वर्णन सुनाने लगते थे तब देह सुन्न हो जाती थी ।

दो-चार दिन तक रात-रात-भर स्त्री-पुरुषो का रोना-चिल्लाना सुनाई पडता रहा । पहली और दूसरी रात (रविवार और सोमवार) अत्यन्त भयावह मालूम हुई । ठीक यही भासता था कि महाश्मशान मे रह रहे है । मुसलमान भाई रात-भर सम्मिलित प्रार्थना मे बडे जोर-जोर से 'अल्ला हो अकबर' पुकारते थे । हिन्दू भी जहा-तहा हरिकीर्तन के सहारे जागरण करते थे । इतने पर भी नर-नारियो के शोकोद्गारपूर्ण चीत्कार से रात बडी ही भयावनी मालूम होती थी । भूकम्प के समय का गगनभेदी आर्त्तनाद भी उतना भयावना न था ।

लोग कहते है कि अफवाहे प्राय झूठी ही होती है, पर दुर्दिन मे ऐसा नही होता—इसका तो प्रत्यक्ष अनुभव हुआ । जो लोग जाकर लहेरियासराय और दरभगा के मुहल्लो और बाजारो की दुर्दशा अपनी आखो देख आये, वे कहने लगे कि निन्नानबे फीसदी मकान चौपट हो गये है और आदमियो का कही पता नही है । दो-चार दिन के बाद देहाती लोग भी आने-जाने और अजीब खबरे सुनाने लगे । कही धरती फटकर धुआ निकला, कही सैकडो बीघा खेत रेत बन गये । एक ने सुनाया कि खूटे मे बधे हुए दो बैल धरती फटने से वही-के-वही धसकर लापता हो गये । एक आदमी जल निकलते हुए फटे स्थान मे पाव डालकर मन बहला रहा था । उसके तलवे मे पाताल-जल के वेगवान् प्रवाह की ठोकरे लगती थी । वह घुटने तक पाव दबाता चला गया । इतने मे सड-से नीचे खिच गया और ऊपर बहुत-सी कीच मिली हुई बालू निकल आयी । तमाशा देखनेवाले भाग खड़े

हुए। भूकम्प के बाद का यह पाताल-प्रवेश लोगो के हृदय पर गहरा आतक छोड गया। इसी प्रकार एक धनी परिवार के तीन मृत व्यक्तियो को मलबे के नीचे से निकालने के लिए दो कुली फी मुर्दा पचीस रुपये के करार पर तैयार हुए। दो मुर्दे तो निकल आये, जो पुरुषो के थे। एक स्त्री को निकालने के लिए कुली गये, और उसके शरीर के गहने लेने का भी करार करा लिया। लेकिन वे न तो करार के पचहत्तर रुपये ही पा सके ओर न गहने ही, वही गहनेवाली के पास दीवार गिरने से दब गये। फिर उस मलबे के नीचे रह गये तीन के तीन ही मुर्दे।

दो दिन के बाद हवाई जहाज मडराता नजर आया। सुना कि 'स्टेट्समैन' का रिपोर्टर है। लेकिन आकाश मे उडते फिरने से जमीन पर बीतनेवाली मुसीबत का ठीक पता नही लग सकता। एक दिन लहेरियासराय मे हवाई जहाज से 'स्टेट्समैन' की एक प्रति नीचे मैदान मे गिराई गई थी। झुड-के-झुड लोग दौड पडे थे। एक दिन और इसी तरह 'स्टेट्समैन' का एक अक गिरा था। उस समय वह देवताओ की पुष्प-वृष्टि अथवा आकाशवाणी के समान प्रतीत हुआ, क्योकि तार, रेल और डाक के बन्द होने से सब लोग यह जानने को बहुत उत्सुक थे कि दरभगा के सिवा अन्य नगरो और जिलो की क्या दशा है। अपने-आप पर जो बीत चुकी थी, उसके लिए तो लोग दु खी थे ही, पर अन्य स्थानो के अपने सगे-सम्बन्धियो और इष्ट-मित्रो के लिए भी बडे चिन्तित थे।

मेरा परिवार काशी मे था। मै न तार दे सका और न कोई उपाय ध्यान मे आया। विश्वनाथजी के भरोसे पर मन मारकर रह गया। 'भडार' का एक कर्मचारी पटना की प्रधान शाखा का हाल-चाल लेने के लिए साइकिल से भेजा गया। उसी को मैने पटना से डाक मे छोडने के लिए बनारस की चिट्ठी दी। बनारस से जो तार और पत्र मेरे पास भेजे गये, वे मिले ही नही। डाक तो बद थी ही, रेल की लाइन भी दरभगा से समस्तीपुर तक खराब हो गई थी। भूकम्प के समय एक ट्रेन लहेरियासराय स्टेशन पर दरभगा से आयी थी, सो स्टेशन पर ही खडी थी। उसके मुसाफिरो का कष्ट देखकर बडी पीडा और करुणा उत्पन्न होती थी। बहुत-से-मुसाफिर अपने ही सिर पर सामान लादकर रेलवे लाइन पकडे हुए पैदल ही समस्तीपुर चले गये।

इसी तरह लोग पैदल आने-जाने लगे। जो इक्के-घोडे लहेरियासराय मे बच गये थे, वे भी बहुत महंगे मिलते थे। हम लोग आठवे दिन सोलह रुपये भाडा देकर तीस मील इक्के पर समस्तीपुर आये। पक्की सडक से चौबीस मील का ही रास्ता है, मगर एक पुल के खराब होने से छः मील का फेर पडा। छोटी 'कोसी' नदी मे डेढ रुपया खेवा देकर इक्का सहित पार हुए। नदी के तीर पर देखा भूकम्प-पीडित भगोडो के इक्के, मोटरें और बैलगाडिया कतार बाधे सुबह से खड़ी हैं। दो बडी नावें थी, और सवारिया थी दो सौ।

रास्ते मे उधर से आते हुए लोगो के झुड भी मिलते थे, जो पैदल या किसी सवारी पर अपने घर दौडे जा रहे थे । कोई कलकत्ता से आता था, कोई बनारस से, कोई इलाहाबाद से, कोई और कही से । रास्ते मे तमाम सडके फटी हुई मिली । कही-कही तो इतनी चौडी दरारे थी कि उनमे आदमी कमर और छाती तक समा जा सकता था । सडक के दोनो ओर जितने गाव मिले, सबमे टूटे-फूटे मकान दीख पडे । चारो ओर जल और बालू की बाढ का दृश्य था । जहा-जहा पुल पडता था, इक्के से उतर जाना पडता था । लोहे के बडे-बडे पुल बीच-बीच मे कमान की तरह झुक गये थे । एक नदी के पुल के बिचले खम्भे एकदम जल के पास तक धस गये थे । जगह-जगह सडक के बीच मे जमीन फटकर बालू और पानी निकला था । ऐसे स्थानो मे भी इक्के से उतरना पडता था । कितने ही कुए ऐसे मिले, जो सशरीर पाताल मे समा गये और उनके स्थान पर सिर्फ बालू से भरे हुए गड्ढे रह गये ।

समस्तीपुर पहुचने पर तलाश करने पर एक अच्छी दुकान मिली । वही सुअन्न से भेट हुई । वहा एक मिल की चिमनी डायनामाइट लगाकर गिराई जा रही थी, जिससे बार-बार बडे जोर का धडाका होता था । चिमनी का शिखर तो भूकम्प ने तोड डाला था, मगर उसका धड गिराने मे कई दिन बारूद की शक्ति काम करती रही । डर लगता था कि धडाके की धमक से फटे हुए ऊचे मकान न गिर पडे । सडक से निकलते वक्त दिल दहलता था । स्टेशन के मुसाफिरखाने मे भगोडो की भीड लगी हुई थी । मालूम हुआ कि आज ही पहले-पहल मुकामा घाट की गाडी रात मे नौ बजे जानेवाली है । समस्तीपुर से हम लोगो को बछवारा जकशन का टिकट मिला, वहा से छपरा का, फिर छपरा से भटनी जकशन का, और भटनी से सीधे बनारस का टिकट नसीब हुआ । इस चक्करदार सफर मे एक रुपया सात आने अधिक भाडा लगा । चित्त व्यग्र था, इसलिए रुपया नही सूझता था । दिल की घबराहट का पता इतने से ही लग सकता था कि भटनी मे हडबडी के मारे एक टिकट बेशी खरीद लिया गया, जिसके पीछे मुफ्त ही सवा रुपया पानी मे गया । लेकिन उस समय हर तरफ से बरबादी ही बदी थी । मेरे साथ 'भडार' के विद्यापति प्रेस के मैनेजर श्रीहनुमानप्रसाद गुप्त भी बनारस आ रहे थे । वे काशी के सीताराम प्रेस के सचालक श्रीबजरगबली गुप्त 'विशारद' के सगे बडे भाई थे । उनकी वजह से रास्ते-भर बडा आराम रहा । वे अगर साथ न होते तो मैं दो दिन तक उसी कोसी नदी के किनारे पडा रहता । वहा मोटरो और इक्के-घोडो का ठट्ट देखकर ही मै चकरा गया । भागते हुए स्त्री-पुरुषो के चेहरे से आह टपकती थी । छोटे-छोटे बच्चे सूखा चूडा चबा रहे थे और गुड मागकर अपनी माता को रुलाते थे । कितनी ही स्त्रियो की आखे रोते-रोते सूज गई थी ।

भूकम्प से बचे हुए लोगो की भी कुछ कम दुर्दशा नही हुई। जान नही गई, मगर और कोई नतीजा बाकी न रहा। लहरियासराय मे देखा था कि जो लोग कोठियो और बगलो के अन्दर अगीठी से कमरे को गरम करके पलग पर सोया करते थे, वे खर-छप्पर के नीचे पुआल पर लेटे-लेटे रात काटते है। खुले मैदान मे डण्डो के सहारे दरी या कम्बल तानकर लोग कठोर शीत झेलते थे।

काशी आने पर जब विश्वनाथजी के दर्शन करने गया तो सध्या की मंगलारती हो रही थी। उसके अन्त मे जब घटे और डमरू का घनघोर शब्द होने लगा तब याद आया कि लहेरियासराय मे भूकम्प के दिन कुछ इसी ढग का शब्द कानो के परदे पर घहरा रहा था। धन्य है शकर का प्रलय ताण्डव!

७

राजेन्द्र कॉलेज

छपरा   १६३६—

•

१५ नवबर, १६३६ को शिवपूजनसहाय नवस्थापित राजेन्द्र कॉलेज मे हिन्दी प्राध्यापक पद पर नियुक्त होकर सपरिवार छपरा चले आये और १६४६ तक इस पद पर रहे। किन्तु छपरा आने के ठीक एक वर्ष बाद ही, १६ नववर १६४० को तीसरी पत्नी श्रीमती बच्चनदेवी का उनवास मे देहान्त हो गया। चारो बच्चे छोटे थे और उनके पालन-पोषण की भीषण समस्या सामने थी। इन्ही परिस्थितियो मे १६४१ मे बिहार हिन्दी साहित्य सम्मेलन के सत्रहवे पटना अधिवेशन, बरहज (गोरखपुर) की हिन्दी-साहित्य-परिषद्, राजराजेश्वरी हाई-स्कूल (सूर्यपुरा, शाहाबाद) की साहित्य-परिषद् के प्रथम वार्षिकोत्सव, जयपुर (राजस्थान), अखिल भारतीय हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के बत्तीसवे अधिवेशन की साहित्य-परिषद् तथा कई सस्थाओ के वार्षिकोत्सवो का सभापतित्व किया। १६४४ मे 'पुस्तक-भडार' के जयती स्मारक-ग्रथ का सपादन किया। इसी अवधि मे, १६४५-४६ मे, कॉलेज से एक वर्ष का अवकाश लेकर पटना आ गये तथा 'पुस्तक-भडार' (पटना) के साहित्यिक मासिक 'हिमालय' के सपादक रहे। १६४७ मे, प्राध्यापक-पद पर रहते हुए ही, आरा-नागरी-प्रचारिणी सभा के राजेन्द्र-अभिनदन-ग्रथ' का भी सपादन किया। २६ दिसबर, १६४६ को कॉलेज सेवा से मुक्त होकर पटना आ गये। बिहार

प्रादेशिक हिन्दी साहित्य सम्मेलन के त्रैमासिक 'साहित्य' के सपादक नियुक्त हुए तथा २० जुलाई, १६५० को विधिवत बिहार राष्ट्रभाषा परिषद् के मत्री-पद का कार्यभार ग्रहण किया। राजेन्द्र कॉलेज, छपरा मे प्राध्यापन मे व्यतीत एक दशक की एक सक्षिप्त झाकी प्रस्तुत है इस परिच्छेद मे ।

●

माननीय अनुग्रह बाबू

सन् १६४० ई० मे राजेन्द्र-कॉलेज, छपरा के विद्यार्थियो ने देशपूज्य राजेन्द्रबाबू के नाम पर एक हिन्दी-पुस्तकालय और सार्वजनिक वाचनालय की स्थापना की थी। उसके सभापति की हैसियत से मै एक बार माननीय अनुग्रह बाबू से मिला। मैने निवेदन किया कि पुस्तकालय का स्वतत्र भवन बनवाने के लिए बिहार सरकार से सहायता मिलनी चाहिए। उन्होने बडी सहानुभूति दिखाई।

जिस दिन मै उनसे मिलने गया, मुलाकातियो की बडी भीड थी। सबने अपने-अपने कार्ड भेजे। मैने एक चिट पर सिर्फ अपना नाम लिख भेजा। ईश्वर की दया, सबसे पहले मेरी ही बुलाहट हुई। आधा घटा समय बाते करने मे लगा। बडे धैर्य से उन्होने मेरी प्रार्थना सुनी। फिर सहर्ष दो हजार रुपये भवन-निर्माण के लिए देने का अभिवचन दिया। दरखास्त मै पहले ही भेज चुका था, सिर्फ याद दिलाने के लिए एक पत्र फिर छपरा जाकर भेजा। रुपये उन्होने शीघ्र भेज दिये। यह सहायता प्राप्त करने मे कोई विशेष कठिनाई न हुई, क्योकि उन्होने बडी सहृदयता से प्रार्थना पर ध्यान दिया। इतना ही नही, उनसे पुस्तकालय के नये भवन की नीव देने की भी प्रार्थना की गई थी। उसे भी उन्होने उदारतापूर्वक स्वीकृत किया। छपरा-यात्रा का अवसर मिलते ही उन्होने पुस्तकालय की वह प्रार्थना सफल कर दी। पुस्तकालय की आर्थिक कठिनाई के कारण उनके स्वागत या अभिनन्दन का कोई उचित प्रबन्ध न हो सका। फिर भी उन्होने बडी प्रसन्नता से शिलान्यास-कर्म सम्पन्न किया।

उनसे मिलने का सुअवसर पहले कभी प्राप्त नही हुआ था, पर उनके दर्शन का सौभाग्य कई बार प्राप्त हुआ था। असहयोग-आदोलन और सत्याग्रह-आन्दोलन के समय कई जगह सार्वजनिक सभाओ में उनके भाषण सुने थे।

डा० सच्चिदानद सिंह

जब मै राजेन्द्र-कॉलेज (छपरा) के हिन्दी-विभाग मे प्राध्यापक था, पटना-विश्वविद्यालय की बैठको मे सम्मिलित होने के लिए पटना जाया करता था। उन दिनो वे उसके उपकुलपति थे। प्राय मुख्य बैठके उनकी कोठी मे ही होती थी। सदस्यो के सामने मिठाइयो की तश्तरिया आती थी। वे आरामकुर्सी पर लेटे-लेटे देखते रहते थे कि कौन ठीक तरह खाता है। नौजवान प्रोफेसरो को प्रेरित और उत्साहित करते थे कि खूब डटकर खाओ। स्वय भी तश्तरी भर रसगुल्ले खा जाते थे। उनके यहा छोटे रसगुल्ले नही आते थे। बडे-बडे रसगुल्लो को चम्मच से उठाकर समूचा का समूचा मुह मे डालते चले जाते थे। जो लोग दातो काटकर खाते थे उन्हे आवाज देकर और उनका नाम पुकारकर कहते थे कि मेरी तरह रसगुल्ले खाना सीखो। अपनी युवावस्था के प्रचुर भोजन की कहानिया कहकर आधुनिक युवको के अल्पाहार पर विनोदपूर्ण खेद प्रकट करते थे।

बिहार-हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन का वार्षिक महाधिवेशन सम्मेलन-भवन (पटना) मे हुआ था। उसके सभापति-पद से भाषण करने के बाद मै उनके दर्शनार्थ गया। छपा भाषण उनकी सेवा मे पहले ही भेजा गया था। उन्होने भाषण की भाषा पर आधा घटे तक कडी आलोचना करते हुए कहा—'तुम्हारा भाषण मैने ठीक नही समझा। वह हिन्दी मे नही, सस्कृत मे है। ऐसी हिन्दी नही चलेगी। सस्कृत की तरह तुम लोग हिन्दी को भी मार डालोगे। प० महावीरप्रसाद द्विवेदी को तुम लोग अपना रहनुमा मानते हो। उनकी हिन्दी भी कडी होती है। 'चन्द्रकाता' की हिन्दी मै समझ लेता हू। गोपालराम गहमरी की भाषा मैं पसन्द करता हू। तुम उर्दू जानते तो ऐसी पडिताऊ हिन्दी नही लिखते। मेरे मित्र सर तेजबहादुर सप्रू और प० मोतीलाल नेहरू बहुत अच्छी उर्दू बोलते है। मै उसी को आसान हिन्दी मानता हू, क्योकि प० रामावतार शर्मा और डॉ० काशीप्रसाद जायसवाल भी उनको अच्छी तरह समझते थे। तुम्हारा सम्मेलन सिर पटककर मर जाएगा, तब भी तुम्हारी हिन्दी इस शक्ल मे आमफहम जबान नही बन सकेगी।'

इस तरह उन्होने पहले खूब फटकारा, फिर स्नेह भी प्रदर्शित किया। हाल-चाल पूछा, सम्मेलन के कामो का ब्योरा भी पूछने लगे। उसी समय एक महाशयजी नगे सिर आ पहुचे और हिन्दी मे बाते करने लगे। अब वे उनके पीछे पड गये—तुम भोजपुरी मे बाते क्यो नही करते? तुमसे कही अच्छी हिन्दी मै जानता हू। तुम प० बनारसीदास चतुर्वेदी और प० पद्मसिंह शर्मा को जानते हो? उन लोगो की लिखी हिन्दी तुमने पढी है? वैसी हिन्दी मैं खूब समझता हू। तुम्हारी 'भाखा' मेरी समझ मे नही आयी। भोजपुरी मे बोलने से गवार देहाती बन जाते?

घर मे भोजपुरी बोलते हो तो मेरे यहा क्यो बुगदादी हिन्दी छाटने लगे ? फिर नगे सिर मनहूस की तरह क्यों रहते हो ? तुम्हारे बाप तो बराबर टोपी पहने रहते थे। खानदान से बाहर क्यो जा रहे हो ?'

महाशयजी सटक सीताराम। उनका मुह खुला, मुह ताकते रह गये। फिर उन्हे भी नौकरी-चाकरी का हाल पूछकर बहलाने लगे। उनके दादा की रईसी के किस्से सुनाने लगे। प्राय: फटकार के बाद दुलार दरसाना उनका स्वभाव था। तम्बीह के बाद तफरीह से उनके हार्दिक स्नेह का परिचय मिलता था। प्रौढो और वृद्धो के भी वे पितातुल्य थे। बिहार के तो वे भीष्म पितामह थे। बिहार या बाहर के लोगो के प्रति उनका वात्सल्य अनुकरणीय था। उनका हृदय अत्यन्त स्नेहपरायण था।

वे अकेले खाना नही पसन्द करते थे। खाने के पहले किसी-न-किसी स्नेही या सुहृद को फोन से बुला लेते थे। 'पलामू-समाचार' के सचालक के पूज्य पिता देवकी बाबू को बहुत मानते थे। पटना मे देवकी बाबू रहते तो शायद ही कोई दिन ऐसा बीतता जब साथ खाने का बुलावा न आता। देवकी बाबू से मेरा परिचय साहित्य-सम्मेलन मे हुआ था। सिन्हा साहब की कोठी पर उनसे कई बार भेंट हुई थी। सिन्हा साहब के सहभोजियो मे वे प्रमुख थे, उनको सिन्हा साहब बातचीत करने के लिए भी रोक रखते थे। दोनो मे हसी-मजाक भी होता था। उन लोगो की बातचीत सुनने से कई तरह की नयी जानकारिया होती थी। आरा नगर की नागरी-प्रचारिणी-सभा की ओर से राष्ट्रपति राजेन्द्र बाबू को अभिनन्दन-ग्रथ समर्पित किया गया था। मैं भी उसके सम्पादको मे था। सिन्हा साहब के पास उसी के लिए लेख मागने गया। जब निवेदन कर चुका तब कहने लगे—'क्यो ऐसी किताब के लिए मुझसे लेख मागने आये जिसके नाम का मतलब ही मेरी समझ मे न आया ! रामनन्दन, श्यामनन्दन, हरनन्दन, ब्रजनन्दन, वगैरह तो सुना था, यह अभिनन्दन कौन-सी बला है ? मुझे इसके असल मानी समझाओ।' मैंने अपनी हसी रोककर अर्थ बतलाया। भला उनको अर्थ क्या समझाता, वे तो विनोद का रस लेने के लिए वैसा बोल गये। झट अपने पुस्तकालय के एक आदमी को बुलाया और कहा कि राजेन्द्र बाबू का रजिस्टर ले आओ। वह मोटा रजिस्टर जब आया तब देखा कि राजेन्द्र बाबू के स्कूली जीवन से राजनीतिक जीवन तक की प्रमुख घटनाओ से सम्बद्ध अखबारी कतरनें सिल-सिलेवार उसमे सटी हुई थी। उन्होने कहा कि इन्ही कतरनो के सहारे एक लेख लिख लाओ जो मेरी स्टाइल का हो। जब मुझे जंचेगा तब उसी को एडिट करके दे दूगा और अग्रेजी मे लेख चाहते हो तो मेरे 'हिन्दुस्तान-रिव्यू' मे छपे लेख की नकल कर लो।

जब नये मौलिक लेख के लिए मैने निवेदन किया तब उन्होने पूरा ग्रन्थ छपा हुआ देख लेने पर देने का वचन दिया और वही पर पास बैठे हुए विश्वविख्यात पत्रकार सन्त निहालसिंह से भी लेख लिख देने का अनुरोध करके मुझसे कहा कि सर्किट हाउस मे इनसे मिलकर लेख ले लेना। उन्होने भी पूरा छपा ग्रन्थ देखने पर उसका प्राक्कथन लिखने की इच्छा प्रकट की। दोनो अग्रेजी लेख उस ग्रन्थ मे प्रकाशित हो चुके है। सन्त निहालसिंह से उनका दोस्ताना वर्ताव देखा।

'सभा' का सफल महोत्सव

जिस साल (१८९३ ई०) आषाढ मे काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा का शुभजन्म हुआ था उसी साल के सावन मे मेरा भी, अतएव सभा के महोत्सव मे सम्मिलित होने और उसका आजीवन सदस्य बनने का विचार मेरे मन मे उठता रहा था। काशीश्वर भगवान् विश्वनाथ की दया से दोनो कामनाए पूरी हुई। सभा का अर्द्धशताब्दी (स्वर्ण-जयन्ती) महोत्सव देखकर हिन्दी और नागरी के उज्ज्वल भविष्य की आशा बद्धमूल हुई।

सभा के उत्सव मे दूर-दूर से आये हुए अतिथियो के आतिथ्य का प्रवन्ध बडा सन्तोषजनक था। सभा की ओर से आतिथेय थे श्रीबैजनाथजी केडिया, जो अपनी सुप्रसिद्ध प्रकाशन-सस्था 'हिन्दी-पुस्तक-एजेन्सी' के द्वारा हिन्दी-साहित्य की स्तुत्य सेवा अनेक वर्षो से करते आ रहे थे। उन्होने जैसी तत्परता और नम्रता से सब अतिथियो का सत्कार किया, वैसी लगन और विनय बहुत ही कम देखने मे आती है। दोनो जून ठीक समय पर उत्तम पवित्र भोजन मिलने से सभी अतिथि अत्यन्त तृप्त हुए और सब लोग एक स्वर से उनकी सुव्यवस्था की प्रशसा कर रहे थे। अतिथिशाला (दयानन्द-वैदिक कॉलेज) से सभा मे आते-जाते, असामयिक वर्षा के कारण, जो पकिल पथ मिलता था, वह रुचिकर भोजन को ओर भी सुस्वादु बना देता था। कानपुर के कविवर हितैषीजी को कभी 'बेनी' कवि की पाती ('मीच है कबूल पै न कीच लखनऊ की') याद आती थी, कभी वे जूतो को रबडी-बसौधी चटाने लगते थे।

अतिथिशाला से जब अतिथियो का दल सभा की ओर चलता था, तब स्वामी केशवानन्दजी के तत्त्वावधान मे पजाबी प्रतिनिधियो का जत्था विशेष रूप से दर्शनीय प्रतीत होता था। बालको और युवको का केसरिया साफा एक कतार मे जिधर निकल जाता, उधर ही उस बसन्ती छटा पर टकटको बध जाती। और, कही के एक विचक्षण जज साहब भी आ पहुचे थे। जान पड़ता था कि यही 'बना-रस' है, और सब 'बिगड़ा-रस'। वर्षा के कारण दूसरे दिन प्रात काल जो

उत्सव हरिश्चन्द्र कॉलेज के भवन मे हुआ उसमे उन्होने खूब रग बरसाया। खेद है कि श्रद्धेय आचार्य केशवप्रसाद मिश्रजी उनके अलौकिक भाषण के भीषण प्रभाव से वचित रह गये। भीषण इस अर्थ मे कि शब्दो की विचित्र व्युत्पत्ति और उनके अर्थो के विलक्षण विश्लेषण सुनकर उन्होने श्रोताओ को चकित कर दिया। बाहर से तो बेचारे पानी की बौछार झेलते ही आये थे, भीतर भी जज साहब ने उन्हे पानी-पानी कर दिया। उनके रग से सराबोर हो श्रोता लदफदा गये, फिर भी डटे रहे, क्योकि 'गवार+नर' और 'कमान+डर' ने आतक स्थापित कर दिया था।

इस अधिवेशन मे सिनेमा और रेडियो की भाषा के सम्बन्ध मे प्रोफेसर गुरुप्रसादजी टडन और कविवर हितैषीजी के भाषण अच्छे हुए, पर कोई निर्णय न हो सका—यद्यपि पूज्य प० रामनारायणजी मिश्र ने कुछ अधिकारी विशेषज्ञो की एक समिति सगठित करने का सुझाव पेश किया था।

उसी दिन वर्षा के ही कारण, अपराह्ण का उत्सव टाउन-हॉल मे हुआ, जिसमे पूज्य मालवीयजी के अपूर्व दर्शन हुए। उस दिव्य दर्शन का आनन्द अवर्णनीय है। जरा-जर्जर शरीर का मन्द-मन्द कम्पन देख शरीर रोमाचित और नेत्र सजल हो उठे। उनकी अमृतमयी वाणी बरसो बाद कर्णपुट मे पडी थी, अन्तस्तल शीतल हो गया। फिर कला-भवन का सग्रहालय देखकर स्वनामधन्य कलाविद् रायकृष्णदास जी की सुरुचि और निष्ठा का बखान करते लोग नही अघाते थे। एक सज्जन कह रहे थे—'इस कला-मन्दिर के पुजारी रायसाहब ने साहित्य की वास्तविक आत्मा को पहचान लिया है, इसलिए इस सरस्वती-सदन (सभा) मे साहित्य की प्रतिमा की प्राण-प्रतिष्ठा करनेवाले रायसाहब ही वास्तव मे इसके जीवनदाता कहलाने योग्य है।'

रात मे जो नाटक हुआ, अभाग्यवश मै उसे न देख सका। फाटक तक पहुचकर भी 'राजद्वारे…' रटता हुआ रिक्शारूढ हो भाग निकला। प्रतिनिधियों से सुना कि अभिनय बहुत ही सफल हुआ—श्रीकेशवराम टडनजी का 'चाणक्य' का अभिनय अत्यन्त प्रभावशाली रहा।

तीसरे दिन का उत्सव सभा के प्रशस्त प्रागण के पडाल मे हुआ। विद्वद्वर प्रोफेसर अमरनाथ झा की अध्यक्षता मे वयोवृद्ध साहित्यसेवियों का अभिनन्दन बडा हृदयग्राही दृश्य था। सभा के तीनो सस्थापको का समादर हिन्दी-प्रेमी युवक-वृन्द को एक नवीन प्रेरणा-शक्ति से अनुप्राणित करनेवाले था। इधर आचार्य श्यामसुन्दरदासजी का कम्पित कलेवर करुणा उत्पन्न कर रहा था, उधर पूज्य पंडित रामनारायण मिश्रजी के बुढापे मे जवानी का जोश उमडा देख ईर्ष्या हो रही थी। पडितजी के समान अनुभवी एव स्फूर्तिशाली नौजवान बूढ़ा किसी भी सस्था को उन्नति के शिखर पर पहुंचा सकता है।

रात मे, कवि-दरबार से पहले, 'अयोध्या' पर[1] जो 'लैटर्न-लेक्चर' हुआ, खासा विनोद-व्यजक था। उससे कितनी ही अनोखी बातो की जानकारी हासिल हुई। वक्ता[1] की खोज मे रामभक्ति का ओज था। फिर कवि-दरबार के ओज का क्या कहना!

जिस समय महाकवि केशवदास शृगारासव के उन्माद मे आकर कवयित्रियो के दल के पास ही भहरा पडे, उस समय कलेजा दहल गया। किन्तु मीरा ने प्राणो मे पुलक भर दी। सूर, तुलसी और रसखान ने भक्ति का उद्रेक किया। देव, पद्माकर और भारतेन्दु ने अपने बाने की लाली रख ली। घनानन्दजी तो 'सुजान' के वियोग से ऐसे कातर हो रहे थे कि उनकी विरह-विह्वल वाणी से उपस्थित कवयित्रियो और विदुषियो मे भी कानाफूसी होने लगी। 'सुजान-प्रिया' के विरही 'घनानन्द' ने सचमुच अपनी मर्मव्यथा को बडे करुण स्वर मे व्यक्त किया। रत्नाकरजी की तो आत्मा ही स्वर्ग से उतर आयी थी। वही धुन, वही फबन, वही अकड, वही ओज, वही हुकार, वही झपटास। प्रसादजी तो अपने पडोसी ही की प्रतिभा मे प्रकट हुए—श्री 'बेढब' जी उनके अन्तरग मित्रो मे थे, इसलिए उनकी ध्वनि ठीक उतार सके। वही मन्द-मन्द गजेन्द्र-गति उनके स्वर मे थी।

सब मिलकर कवि-दरबार के अधिकाश स्वागो मे बडी स्वाभाविकता रही। फिर प्रतिनिधि कवियो के कविता-पाठ मे रायबहादुर पडित श्रीनारायण चतुर्वेदी ने जमालगोटे की गोलियो से सबका अन्तरग निखार-पखार कर उर्वर कर दिया। श्री बच्चनजी की मधुर स्वर-लहरी मे लोग झूमने लग गये। पडित श्यामनारायण पाण्डेय के 'जौहर' ने तो कमाल का जौहर दिखाया। उनकी ओजस्विनी कविता के चरणो मे मृगेन्द्रता थी। श्रीमती सुभद्राकुमारी चौहान ने 'वीरो का कैसा हो बसन्त' मे बस अन्त कर दिया। उनकी वाणी मे बडी तेजस्विता थी। उनके कठ-स्वर मे पौरुष और पराक्रम की प्रगल्भता थी। अपनी 'झासी की रानी' के आवेग मे वे अन्तर्भूत जान पडती थी।

कवि-सम्मेलन से उठकर मै सीधे स्टेशन भागा, दूसरे ही दिन कॉलेज मे पहुचना था, इसलिए रात का 'कालिदास' नाटक भी न देख सका। पर उत्सव मे जो कुछ देखा, उससे बहुलाश मे सन्तोष ही हुआ। उत्सव के आरम्भ मे, प्रथम ही दिन, प्रमुख सभापति स्वामी भवानीदयालजी सन्यासी का भाषण बडे मार्के का रहा। स्वामीजी सचमुच सन्यासी के स्वर मे बोले। उस समय स्वामी आत्माराम[2]

---

१. स्वर्गीय लाला सीताराम अवधवासी के ज्येष्ठ सुपुत्र।

२. बीसवी सदी के आरम्भ मे स्वामी आत्माराम सन्यासी के भाषणो की बडी धूम थी। अत्यन्त वृद्ध होने पर भी वे उद्भट ओजस्वी, निर्भीक और स्पष्टवादी वक्ता थे।

सन्यासी की याद आ गई । अस्वस्थ होने पर भी आद्यन्त भाषण एक स्वर से पढ सुनाया । बीच-बीच मे 'सात्विक जीवन'-सम्पादक श्री गुप्तनाथ सिंहजी[1] उष्ण जल द्वारा उनमे सजीवनी-शक्ति का सचार करते जाते थे । स्वामीजी के सुन्दर गौर मुखमण्डल पर दाढी की झाकी अपूर्व थी । कितनी ही परिचित आखो को वह अपरिचित-सी प्रतीत होती थी, इसलिए उसमे एक प्रकार की विचित्रता दीख पडी ।

सभा के उत्सव का साहित्यिक गौरव बढानेवाले कुछ ग्रथ भी उस अवसर पर दिखाई पडे । पहले ही दिन, जब आचार्य शुक्लजी के वासस्थान पर साहित्यिक-समारोह हुआ, प्रोफेसर बिश्वनाथप्रसादजी मिश्र ने आचार्य केशवप्रसादजी मिश्र के कर-कमलो मे शुक्लजी की लिखी 'सूरदास' नामक नई पुस्तक लाकर अर्पित की जो उसी दिन प्रकाशित हुई थी । उपयुक्त अवसर की वह भेंट साहित्यिक दृष्टि से बडे महत्त्व की सिद्ध हुई । फिर दूसरी पुस्तक थी 'आचार्य रामचन्द्र शुक्ल' जिसमे उसके सुयोग्य लेखक श्री शिवनाथजी ने प्रशसनीय सहृदयता के साथ शुक्लजी के आदर्श जीवन और विराट् साहित्यिक महत्त्व पर अभिनव प्रकाश डाला । सभा के महोत्सव के शुभ अवसर पर ऐसी सर्वांगसुन्दर पुस्तक का प्रकाशन सर्वथा उपयुक्त कार्य हुआ । तीसरी पुस्तक भी ऐसी ही थी—'प्रसाद के नाटको का शास्त्रीय अध्ययन', जिसमे उसके विद्वान् लेखक डॉक्टर जगन्नाथप्रसाद शर्मा ने प्रसादजी के नाटकीय कौशल का अत्यन्त विशद विवेचन किया । यह गवेषणा-पूर्ण ग्रंथ भी सभा के महोत्सव की शोभावृद्धि मे सहायक सिद्ध हुआ । एक चौथी पुस्तक भी उस अवसर की स्मृति को चिरन्तन करनेवाली दीख पडी । वह थी प्रोफेसर विश्वनाथप्रसादजी मिश्र द्वारा सम्पादित 'घनानन्द कवित्त', जिसमे काव्य-मर्मज्ञ मिश्रजी ने 'घनानन्द' के सरस पदो पर विस्तृत टिप्पणिया दी थी। महोत्सव-दर्शक प्रतिनिधियो को इस पुस्तक के दर्शन से सचमुच घना आनन्द प्राप्त हुआ ।

अन्त मे सभा के 'अर्द्धशताब्दी-इतिहास' का उल्लेख भी अत्यावश्यक है, जिसमे सभा का प्रामाणिक इतिवृत्त बडे रोचक ढग से प्रस्तुत किया गया था । यह हिन्दी के पिछले पचास बरसो के विकासक्रम का मार्मिक दिग्दर्शन करानेवाली थी । और, इसके साथ ही 'नागरी-प्रचारिणी पत्रिका' का विशेषाक भी महोत्सव-यात्रियों के लिए बडा आनन्दवर्द्धक सिद्ध हुआ । हा, 'सरस्वती' के विशेषाक का अभाव बहुतो को खलता रहा, क्योकि सभा ही उसकी जननी थी । कुछ लोग यह भी कहते सुने गये कि 'सम्मेलन-पत्रिका' का भी एक विशेषाक इस अवसर पर

---

१. भभुआ-सबडिवीजन (शाहाबाद) के निवासी तथा बिहार-विधान-सभा के भूतपूर्व सदस्य ।

निकलना चाहिए था, जिसमे 'सम्मेलन' का ही आद्योपान्त इतिहास होता, क्योकि 'सम्मेलन' की जननी भी सभा ही है, और इस नाते वह 'सम्मेलन' की श्रद्धाजलि की अधिकारिणी भी है।

'द्विज' जी की विदाई

उस दिन अक्तूबर (१९४४ ई०) की दसवी तारीख थी। मगलवार का अपराह्न। छपरा जकशन-स्टेशन पर सेकड क्लास का रिजर्व डिब्बा पहले ही से खडा था। परमादरणीय भाई द्विजजी (प० जनार्दनप्रसाद झा 'द्विज') का परिवार सवार हो चुका था। लगभग तीन बजे एक डाक गाडी आयी और उस डिब्बे को खीचकर ले भागी। मैं प्लेटफार्म पर विवश खडा था। खडा ही रह गया, ताकता ही रह गया, भाई द्विजजी की मजुल मूर्ति आखो से ओझल हो गई। मैं कवि नही हू कि 'हिरदै से जब जाहुगे मरद बदौगो तोहि' कहकर सतोष कर लू। न मै कल्पनालोक का विधाता हू और न हृदय के भावो को शब्दो मे अटानेवाला कुशल शिल्पी। हृदय तो बार-बार अपने-आपमे टटोलता है और बिलखकर कहता है कि प्रेम के पिजडे का वह प्यारा पछी किधर फुर्र से उड गया!

उधर प्लेटफार्म से गाडी सरकने लगी, इधर पैरो के नीचे की धरती खिसकती-सी जान पडी। मालूम हुआ, गाडी के साथ प्लेटफार्म भी चला। किन्तु प्लेटफार्म ऐसा सौभाग्यशाली न था। उसने अपनी थर्राहट को मेरे पैरो की राह सारे अग मे बिखेर दिया। लालसा थी, पर हाथ हिलाने की सुध ही न रही। मानो देखते-देखते हाथ साथ छोड गये। एकाएक हृदय भर आया। चेतना चम्पत हो गई। हाथ का छाता अनायास टेककर चकराता हुआ शरीर सभालने का प्रयास करने लगा। ऐसा कातर कभी न हुआ था। शायद ढलती उम्र की अशक्तता भावावेश के आकस्मिक आवेग से सहसा दहल गई। प्रेम की विह्वलता कहना तो दम्भ ही होगा।

धीरे-धीरे फाटक की ओर दबे पाव बढा। बाहर निकलकर घर भी लौट आया। 'फिरेउ बनिक जिमि मूर गवाई' सोचता ही रहा, बस सोचता ही रह गया। टोपी उतारने से पहले ही बिना बटन खोले, कुरता उतारने लगा। जब ध्यान आया, अनिच्छा की हसी आ गई और उसके साथ ही आया आखो मे उफान। मन कदरा गया, आरामकुर्सी पर लेटे-लेटे पिछली स्मृतियो को कुरेदने लगा। कैसे थे वे दिन!

८

साहित्यिक यात्रा

जयपुर-नागपुर के यात्रा-संस्मरण

•

शिवपूजनसहाय के साहित्यिक जीवन की नीव तभी पड चुकी थी जब वे आरा मे स्कूली छात्र के रूप मे अपने शिक्षक एव साहित्यिक गुरु प० ईश्वरीप्रसाद शर्मा के साथ आरा की नागरी प्रचारिणी सभा के सार्वजनिक वाचनालय मे बाबू शिवनदनसहाय से मिले थे और उनका चरण स्पर्श किया था। 'रामचरितमानस' मे अभिरुचि तो सात-आठ साल की उम्र मे ही पिता एव बहनोई की प्रेरणा से जागृत हो चुकी थी, शिवनदनसहायजी के आशीर्वाद से वह उत्तरोत्तर विकसित हुई। साहित्य-प्रेम का बीज वही रोपित हुआ और उन सात्विक हिदी-सेवियो से आशीषित होकर वह निरतर पल्लवित-पुष्पित होता गया। अपने दीर्घ साहित्यिक जीवन मे यो तो शिवजी ने अनेक ऐसी यात्राए की जिनका प्रयोजन शुद्ध साहित्यिक था, किन्तु 'साहित्यिक यात्रा' से उनका अभिप्राय निश्चय ही ऐसी यात्राओ से रहा जिनका उद्देश्य मात्र साहित्यिक नही था, वरन् जिसमे साहित्यिक मित्रो के साथ शुद्ध साहित्यिक हास-परिहास के वातावरण मे यात्रा हुई। ऐसी यात्राओ मे सर्वप्रथम थी आरा से साहित्यिक मडली के साथ हिन्दी साहित्य सम्मेलन के पाचवे अधिवेशन के लिए लखनऊ-यात्रा एव वापसी मे अयोध्या की यात्रा (१९१४)। फिर अगले ही वर्ष छठे अधिवेशन के लिए प्रयाग-यात्रा। ऐसी तीसरी यात्रा हुई १९१८ मे जब प० ईश्वरीप्रसाद शर्मा के बुलावे पर शिवजी आगरा गये और

वहा से सदल-बल दिल्ली होते हुए मथुरा-वृन्दावन की यात्रा पर गये। इसके बाद भी ऐसी कई यात्राए हुई किन्तु उनका विशेषोल्लेख उन्होने नही किया है। जयपुर की पहली यात्रा 'मतवाला' के लिए धन-सग्रह के उद्देश्य से १६२३ मे हुई थी, फिर दूसरी यात्रा १६४४ मे हुई जब वे अखिल भारतीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन के जयपुर-अधिवेशन मे साहित्य-परिषद् के अध्यक्ष के रूप मे वहा आमत्रित हुए थे। जयपुर की तीसरी यात्रा का प्रयोजन यद्यपि साहित्यिक नही था—उसमे राजेन्द्र कॉलेज की ओर से एक शिष्टमडल राजेन्द्र विश्व-विद्यालय बनाने की अपील पर देश के प्रमुख नेताओ का हस्ताक्षर-समर्थन प्राप्त करने के उद्देश्य से जयपुर काग्रेस अधिवेशन मे भेजा गया था—तथापि सहयात्रा का परिवेश साहित्यिक ही था। इसी तरह नागपुर की यात्रा १६५० मे बिहार के तत्कालीन शिक्षामत्री आचार्य बदरीनाथ वर्मा तथा प० छविनाथ पाडेयजी के साथ हुई। जयपुर एव नागपुर की इन यात्राओ का विवरण ही यहा प्रस्तुत है।

●

जयपुर-यात्रा

सन् १६२३ मे 'मतवाला' निकला था। दो-तीन अक छपने के बाद मै धनी-मानी मारवाडी सज्जनो से सहायता लेने के लिए बाहर निकला। जहा-जहा मारवाडी धनिको के गढ है वहा-वहा गया। उसी लम्बी यात्रा मे पहले-पहल जयपुर जाना पडा। उस समय जयपुर-सेण्ट्रल जेल के सुपरिंटेडेट थे श्री नवरग रायजी खेतान, जो श्री देवीप्रसाद खेतान के पिता थे। कलकत्ता का खेतान परिवार लक्ष्मी और सरस्वती दोनो का कृपापात्र है। श्री कालीप्रसाद खेतान बैरिस्टर और श्री दुर्गाप्रसाद खेतान एडवोकेट 'मारवाडी-सुधार' के लेखक थे। श्री देवीप्रसाद खेतान सब भाइयो मे बडे थे। उनकी चिट्ठी के साथ जब मै जयपुर गया तो श्री नवरग रायजी खेतान की कोठी मे ठहरा। वह भी बिहार मे पहले रह चुके थे। बक्सर-सेण्ट्रल जेल के जब वे सुपरिंटेडेट थे, तब उनके ज्येष्ठ सुपुत्र श्री देवीप्रसाद खेतान का शुभ जन्म यही हुआ था। मुझे बक्सर-सब-डिवीजन का निवासी जानकर वह बहुत प्रसन्न हुए। उन्होने जयपुर के धनाढ्य रईसो और हिन्दी-प्रेमियो के नाम मुझे परिचय-पत्र दिये। वहा अनेक सरक्षक, सहायक

और ग्राहक मिले ।

जयपुर-नगर के परिदर्शन के लिए उन्होने सवारी और पथ-प्रदर्शक का प्रबन्ध कर दिया । जयपुर के महल, मन्दिर, उद्यान, म्युजियम (सग्रहालय) आदि दर्शनीय स्थानो को दो-तीन दिन तक घूम-घूमकर मै देखता रहा । सेण्ट्रल जेल को भी देखा । स्वर्गीय महाराजाओ और महारानियो की छतरिया(समाधिया)भी देखी। श्री गोविन्दचन्द्र देवजी का मन्दिर, चन्द्रमहल, रामनिवास बाग आदि देखकर अपने देश के रजवाडो के वैभव पर बडा विस्मय हुआ । उक्त बाग मे जो म्युजियम देखा उसकी शोभा-सम्पत्ति का विस्तृत वर्णन यहा सभव नही। उसकी दीवारो पर बने एक-से-एक सुन्दर चित्र बडे ही आकर्षक है। स्वर्गीय जयपुर-नरेशो के चित्र अत्यन्त भव्य और प्रभावशाली है । उनके शरीर का सौन्दर्य बस देखते ही बना । उनके गौरवपूर्ण व्यक्तित्व से मानो राजपूती शान टपकती थी । म्यूजियम के सगमरमरी गुम्बद और कलश अत्यन्त आकर्षक है । जयपुर की कलाओ और राजस्थान की विभूतियो के दर्शन से चित्र मुग्ध हो गया ।

छतरियो की छटा निराली थी । उनमे एक छतरी राज्य के प्रिय हाथी की देखी । उसकी समाधि पर काले पत्थर का एक विशाल गजराज खडा है । वह तेलिया पत्थर धूप मे खूब चमकता था । छतरियो के बदले अगर स्वर्गीय नरेशों के अन्य प्रकार के लोकहितकर स्मारक बने होते तो देश का कही अधिक उपकार होता । उन लाखो-करोडो रुपये से जनता की भलाई के बहुतेरे अच्छे काम हो सकते थे । जयपुर मे जहा विपुल ऐश्वर्य देखा, वही गरीबी और गन्दगी मे सनी हुई अभावग्रस्त जनता भी देखने मे आयी । उस समय महाराज माधवसिंहजी गद्दी पर थे । उनके शौर्य-वीर्य की रोमाचकारिणी कहानिया भी सुनने मे आयी । एक दिन गढ से उनकी शानदार सवारी निकली तो देखकर दग रह गया । यह शान-शौकत इस युग मे अब पुरानी कहानी हो गयी ।

राज्य का पुस्तकालय भी देखने की चीज है । वह तो राष्ट्रीय सम्पत्ति होने योग्य है । उसी मे पहले-पहल 'बिहारी-सतसई' की कई मूल प्रतियो के दर्शन हुए । अनेक अलभ्य प्राचीन ग्रन्थो को सुरक्षित और हस्तलिखित पोथियो का सुनहरा सौन्दर्य देखकर बडा गर्व हुआ । यदि वैसा अमूल्य सग्रह अनुसन्धानशील विद्वानो को सुलभ होता तो साहित्य की समृद्धि-वृद्धि मे बडी सहायता मिलती । उस समय पता लगा कि इस सग्रह का सार्वजनिक सदुपयोग नही होता । मुझे तो श्री खेतान की कृपा से आज्ञा मिल गयी थी । उन्ही के आदेश से सेण्ट्रल जेल में दरी-कालीन आदि को बनते देखा । उनकी कोठी मे भी जेल की बनी कई चीजें थी । दरी-कालीन की मजबूती और खूबसूरती सराहनीय थी । उसी समय पहले-पहल जेल के अन्दर प्रवेश करने का अवसर मिला था । कैदियो मे बहुत-सी स्त्रिया भी थी, जो चरखे और करघे पर काम कर रही थी । कुछ कैदियो

की करुण-कातर दृष्टि देखी नही गयी और कुछ तो भयानक भी लगे।

अन्तिम दिन प्रात काल 'गलता नाला' देखने गया और सन्ध्या समय अम्बरगढ का किला। पहाड के अन्दर से एक गोमुखी द्वारा विमल जलधारा निकलकर कुण्ड मे गिरती है जिसमे स्नान करना बडा आनन्दप्रद प्रतीत होता है। वहा पहाड की गोद मे कुछ वस्तिया भी नजर आयी। स्थान बडा रमणीय है। वहा पहुचने का रास्ता भी बडा सुहावना है। वह एक प्रसिद्ध तीर्थ है। उसका रोचक इतिहास भी है। अम्बरगढ या आमेरगढ का किला पर्वत-मेखला के मध्य मे है। किन्तु पर्वत-प्राचीर काटकर एक जगह प्रवेशद्वार बना दिया गया है। कहते है कि सम्राट् पचम जार्ज की मोटर को किले के भीतरी द्वार तक पहुचाने के लिए ऐसा अनर्थ किया गया था। वह दुर्भेद्य दुर्ग सर्वथा अरक्षित हो गया। उसके चतुर्दिक् पर्वत-श्रेणी की शोभा अत्यन्त भव्य है। उसके मुख्य द्वार पर दुर्गेश्वरी भवानी का मन्दिर है, जहा राजपूत वीर अपनी तलवार कालीजी के चरणो मे रखकर शपथपूर्वक शस्त्र ग्रहण करके रणयात्रा करते थे। किले की दृढता और सुन्दरता बस देखने ही योग्य है। एक जगह राजा के भोजनालय की दीवारो पर भारत के सभी तीर्थो के रग-विरगे चित्र अकित है। रनवास की दीवारो मे काच और शीशे के टुकडे जडे है जहा दियासलाई जलाने पर चारो ओर जगमगाहट छा जाती है। कहते हे कि काच की जगह पहले हीरे-जवाहरात जडे थे। जो हो, आगरा के किले मे भी एक कमरा ऐसा ही देखा था। किन्तु दिल्ली और आगरा के किले से यह कही अधिक भडकीला और दुर्गम है। जयपुर शहर के अन्दर से उसका शिखर नजर आता है, पर ज्यो-ज्यो आदमी उसकी ओर आगे बढता जाता है त्यो-त्यो उसका शिखर पर्वत-मेखला के भीतर डूबता और आखो की ओट होता जाता है। उसके प्रशस्त आगनो और दालानो मे घूमते समय प्राचीन वैभव एव गौरव की बाते याद आने लगती है—जाग्रत दशा मे भी सुनहरे सपने सूझने लगते है।

जयपुर की दूसरी यात्रा सम्भवत सन् १६४४ मे हुई—बाईस-तेईस वर्ष बाद। अखिल भारतीय हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन का अधिवेशन पूज्य गोस्वामी गणेशदत्तजी के सभापतित्व मे वही हुआ था। मै वहा साहित्य-परिषद् का अध्यक्ष चुना गया था। मैं अस्वस्थ था, किन्तु अपने पुराने साहित्यिक मित्र पडित वाचस्पति पाठक का आग्रह टाल न सका। भाषण लिखना पहाड हो गया। एक दिन दो बजे रात तक लिखता रहा। दूसरे दिन तबीयत खराब हो गयी। दो दिन काम पिछड गया। एक रोज कमरा बन्द कर दिन मे ही लिखने बैठा। किन्तु दिन-दुल्लह को बाधा-वधू के बिना चैन कहा? आखिर फिर रात मे ही

जाकर लिखना पडा। छपरा के वाणी-मन्दिर प्रेस ने भी सहायता की। मै जो लिखता गया, उसे देता गया। अन्त मे प्रेस मे ही जा बैठा। वहा भी रतजगा करना पडा। अन्तिम दिन अन्दाज लगा कि मैटर बहुत ज्यादा बढ गया, प्रस्थान के समय तक किसी तरह न छप सकेगा, कॉपी और प्रूफ मे हत्याकाण्ड मचाकर आधी रात को घर लौटा। पानी बरस रहा था। ऊपर अन्धकार, नीचे छपरा की नुमाइशी सडक, चप्पल ने चन्दन छिडक खूब पीठ-पूजा की। कॉलेज मे दशहरे की छुट्टी थी। दूसरे ही दिन सुबह की गाडी से जयपुर के लिए कूच करना था। यात्रा-चिन्ता से नीद चटक-सीताराम हुई। सब जरूरी सामान सहेजने-सरियाने लगा। वर्षा कहती थी कि बस आज ही बरसूगी। तडके ही नित्यकृत्य से निबट स्टेशन चला। उस समय कोई सवारी कहा मिलती, पैदल ही एक मील का जलमग्न रास्ता नापना पडा—समुद्र थाहना पडा। अपने पुराने नौकर बैजनाथ के सिर पर सामान रख राजेन्द्र पुस्तकालय (छपरा) के प्रधानमन्त्री श्री केदारनाथ अग्रवाल के साथ ज्योही स्टेशन पहुचा, गाडी आ धमकी। झटपट गाडी मे सवार होते ही प्रेस के आदमी ने छपे भाषण का बडल डिब्बे मे पटक दिया। गाड़ी चल पडी, पानी पट पड गया, मानो प्रकृति परीक्षा ले रही थी।

परीक्षा तो इससे पहले भी हुई थी। मेरे मातृहीन बच्चे-बच्चियों की देखभाल करने वाला कोई न था, इसलिए मै हताश हो गया था कि अब किसी तरह जयपुर पहुच न सकूगा। बिहार-सरकार के पब्लिसिटी-अफसर श्री उमानाथ और 'आर्यावर्त' के सहकारी सम्पादक श्री जयकान्त मिश्र छपरा पहुंचकर मेरी विवशता देख गए थे। श्री उमानाथ ने अपने उत्साही अनुज श्री शकरनाथ को मेरे बच्चो के ननिहाल भेजकर सरक्षक बुलाने का प्रबन्ध कर दिया। यदि वह इतनी कृपा न करते तो मै किसी प्रकार जयपुर न जा पाता। खैर, दशहरे की तातील के कारण गाडी मे इतनी भीड थी कि छपरा से काशी तक और बनारस छावनी से कानपुर तक मुश्किल से बिस्तर के बडल पर बैठने की गुजाइश हो सकी। कानपुर के बाद कुछ अवकाश मिला। दूसरे दिन अपराह्न मे दिल्ली पहुचा। बनारस और दिल्ली मे कुलियो ने अच्छी तरह मूंडा। आखिर वेटिंग-रूम में ही स्नान-ध्यान के बाद अन्नदेव के दर्शन हुए[1]। मेरी लडकियों ने खाने का सामान काफी दे दिया था।

---

१. 'बिहार की साहित्यिक प्रगति' शीर्षक लेख जो सा० 'हुंकार' (१५ अक्टूबर १९४४) मे प्रकाशित हुआ था। इसी यात्रा के समय मार्ग में ही लिखा गया था।—स०

सन्ध्या से पूर्व जब जयपुर की गाडी मे सवार होने गया तो देखा कि आचार्य चन्द्रबली पाण्डेयजी (वर्तमान-सम्मेलनाध्यक्ष) वही विराज रहे है। रास्ते मे उनके सत्सग से बडा लाभ और सुख हुआ। रात मे पिछले पहर जयपुर मे उतरे। स्टेशन पर कोई मार्ग दर्शक नही। तागेवाला कुछ जानकार निकला। सम्मेलन के पण्डाल से थोडी ही दूर पर सस्कृत-कॉलेज के भवन मे (हवामहल के सामने) पडाव पडा। पूज्य पाण्डेयजी भी साथ ही एक कमरे मे ठहरे। दूसरे दिन भोर मे श्री उमानाथ वही मिल गये। लोकमान्य समिति (छपरा) के पं० सतीशचन्द्र शर्मा भी मिले। बिहार और बाहर के सुपरिचित साहित्यिको से मिलकर बडा सन्तोष हुआ। स्नान-ध्यान के बाद सभापतिजी के दर्शन कर आया। श्रद्धेय प० बनारसीदास चतुर्वेदी और प० झाबरमलजी शर्मा के दर्शन का सौभाग्य अनेक वर्षो के पश्चात् सुलभ हुआ।

सम्मेलनाध्यक्ष का जुलूस राजमाता की अचानक मृत्यु के कारण नही निकल सका। वर्तमान जयपुर-नरेश भी सम्मेलन मे न पधार सके, उनका सन्देश छपकर वितरित हुआ। खुले अधिवेशन और विषय-निर्वाचन-समिति अनेक साहित्य-सेवियो से मुद्दत के बाद भेट हुई। डॉक्टर रामकुमार वर्मा से कुछ साहित्यिक चर्चा भी हुई। देखा कि मतभेदो का अखाडा पसीने से सीचा जा रहा है। राजर्षि टण्डनजी बढते हुए विन्ध्य को निबारने वाले अगस्त्य थे। साहित्यिक दगल का भी अपना एक निराला रग होता है।

दूसरे दिन कौसिल हॉल मे साहित्य-परिषद् की बैठक हुई। मैने अपना मुद्रित भाषण पढना शुरू किया। किन्तु अस्वस्थता के कारण ऊचे स्वर से न पढ़ सका। अत. पडित सीतारामजी चतुर्वेदी ने पूरा भाषण पढ सुनाया। कौसिल-भवन के सामने सहन मे प्रतिनिधियो का परस्पर परिचय और मिलन हुआ। उसी समय राज्य के दीवान सर मिर्जा इस्माइल के साथ सब साहित्य-सेवियो का फोटो लेने के लिए बुलाहट हुई। 'साहित्य-सन्देश'-सम्पादक श्री गुलाबरायजी के साथ मै उधर गया सही, मगर दीवान साहब से हाथ मिलाने के बाद बधी कतार के पीछे से हम लोग खिसक गए। सामने का मनोहर पहाडी दृश्य देखते हुए हम लोग नीचे उतर आये। रात के कवि-सम्मेलन मे चूरू (बीकानेर) के नवयुवक कवि 'श्री मुकुल' ने खूब रग जमाया। हमारे दिनकरजी तो सर्वत्र ही सर्वोपरि विराजते है। उन्हे खूब तालिया मिली।

तीसरे दिन मेरे कलकत्ता-प्रवास-काल के मित्र श्री धर्मचन्द्र खेमका मिल गये, रतनगढ (बीकानेर) के निवासी पुराने लेखक। उनका साग्रह स्वागत-सत्कार शिवजी की विमल बूटी से शुरू हुआ और आमेरगढ के किले पर मधुरेन समाप्त हुआ। विचार था कि मित्रवर श्री गोपाल नवेटिया के गाव फतहपुर (शेखावाटी) जाकर वहा सरस्वती-पुस्तकालय अवश्य देख लू, पर अपने एकाकी बच्चो की

चिन्ता छपरा की ओर बलपूर्वक खीच रही थी। नवलगढ (जयपुर) के हिन्दी-प्रेमी वहा चलने का बडा आग्रह कर रहे थे। और भी कई जगहो से प्रेमपूर्ण निमन्त्रण मिला, पर मै ठहर न सका। जयपुर के राज-सम्मानित प्रतिष्ठित रईस कविराज प्रतापनारायणजी ने अपनी पुस्तके मेरे पास भेज दी, पर मै उनके दर्शनार्थ निकलकर भी एक दुर्लभ-दर्शन जयपुरिया मित्र के फेरे मे पड गया। चौमू (जयपुर) के वयोवृद्ध साहित्यिक पडित हनुमान शर्मा ने भी अपनी पुस्तके मेरे पास भेजी थी और लखनऊ की 'माधुरी' मे काम करने के समय से ही उनसे पत्राचार था, पर साहित्यिको की मण्डली मे पडकर वनस्थली की ओर चला जाना पडा। ये दोनो कृतघ्नताए बराबर सालती रही।

तीसरी यात्रा जयपुर-काग्रेस के समय हुई। राजेन्द्र कॉलेज की विकास-समिति का मै अध्यक्ष था। उसमे एकाएक निश्चित हुआ कि राजेन्द्र विश्वविद्यालय के लिए, अपील पर राष्ट्रपति आदि प्रमुख नेताओ के हस्ताक्षर कराने के निमित्त, एक शिष्टमण्डल भेजा जाए। छपरा से जयपुर तक एक स्पेशल ट्रेन गयी थी, जिसका प्रबन्ध शायद प्रान्तीय काग्रेस की ओर से हुआ था। छपरा के काग्रेस-मन्त्री श्री रामानन्दसिह की सहायता से जगह मिल गयी। साइन्स-विभाग के प्रोफेसर श्री भोला बाबू के साथ मै भी चला। बिहार के प्रतिनिधियो मे बहुतेरे परिचित भी मिल गये। छपरा के वकील श्री ईश्वरी बाबू बडे मजेदार साथी मिले। रास्ता बड़ी मौज मे कटा। एक जगह किसी कारण अचानक गाडी रुकी, तो सामने ही अमरूद के बाग पर कुछ प्रतिनिधियो ने धावा बोल दिया। उन लोगो ने मधुबन के फल खूब खाये। दातो के बिना मैं गाडी मे बैठा सिर्फ तमाशा देखता रहा। बडे-बडे बहुरगी तरंगी जीव उस स्पेशल मे थे।

जयपुर पहुचकर पहले बिहार-कैम्प मे उतरे। उसके बाद प्रसिद्ध कलाकार श्री उपेन्द्र महारथी के कला-मण्डल मे चले गये। वह बिहार सरकार की ओर से उद्योग-विभाग की बहुत-सी चीजें प्रदर्शन के लिए ले गये थे। भारत के अनेक प्रान्तो के नर-नारी उन चीजो की प्रशसा करते नही अघाते थे। मिथिला की बनी सीक की डलिया-चगेली आदि पर स्त्रिया विशेष मुग्ध थी।

हम लोग अपने कॉलेज की शासन-समिति के अध्यक्ष श्री महामायाप्रसाद सिंह के साथ एक दिन भोर मे राष्ट्रपति डॉक्टर पट्टाभि सीतारमैया से मिले। उन्होने राजेन्द्र विश्वविद्यालय की अपील पर हस्ताक्षर कर दिए। आचार्य कृपलानी ने तो विनोदपूर्ण ढंग से सिर्फ वादा किया। डॉक्टर किचलू और प्रोफेसर रगा ने सहर्ष हस्ताक्षर कर दिये। लौटती बार दिल्ली में माननीय श्री जयरामदास दौलतराम और श्री जगजीवनराम से भी महामाया बाबू के साथ हम लोग मिले। दोनों ने पूरी सहानुभूति दिखाई। श्री जयरामदास ने बहुत-से

सुझाव दिये । उनके परामर्श बडे अमूल्य थे । गाधी-सिद्धान्तो पर बने विश्वविद्यालय की आवश्यकता सबने बतलायी । सबने इसको पसन्द किया कि देशरत्न राजेन्द्रप्रसादजी के नाम पर ही गाधीवादी विश्वविद्यालय स्थापित हो सकता है। अब तो ईश्वर ही जानता है कि छपरा का राजेन्द्र कॉलेज कब तक गाधी सिद्धान्तो की नीव पर विश्वविद्यालय के रूप मे परिणत होगा ।

नागपुर-यात्रा

सन् १९४९ के दिसम्बर के अन्तिम सप्ताह मे बिहार के शिक्षा-सचिव श्रीमान माथुर साहब का तार मिला कि जनवरी, १९५० की पहली तारीख को शाम की गाडी से, बिहार के शिक्षा मन्त्री माननीय आचार्य बदरीनाथ वर्मा के साथ, उनके सलाहकार (ऐडवाइजर) होकर नागपुर जाना होगा। तार के पहले एक पत्र भी मिल चुका था। उससे पता चला था कि नागपुर मे मध्यप्रदेश की सरकार की ओर से राष्ट्रभाषा प्रमाणीकरण-परिषद् का अधिवेशन ४ जनवरी से होने वाला है। अत राजेन्द्र कॉलेज, छपरा से छुट्टी लेकर ३१ दिसम्बर, १९४९ को मै पटना पहुच गया ।

पहली जनवरी (१९५०) को रविवार था। शाम को पटना-जकशन स्टेशन पर पहुच गया । वहा बिहार के वयस्क-शिक्षा-सघ के प्रकाशन-अफसर पडित पाण्डेयजी मिल गए। मालूम हुआ कि वह भी वहा जा रहे है। यह जानकर बडा सन्तोष और ढाढस हुआ । श्रीमान् पाण्डेयजी के साथ रहने से लम्बे सफर मे बडा आराम रहा। मौका पडने पर उनसे काफी मदद भी मिली। ठीक समय पर माननीय शिक्षा मन्त्री आचार्यजी की मोटर आ धमकी। प्लेटफार्म के एक छोर पर लगे रिजर्व डिब्बे मे सबका सामान रखा गया । अव्वल दर्जे के उस डिब्बे मे चार सीटे थी । नीचे की दो सीटो पर माननीय आचार्यजी और पाण्डेयजी का बिस्तर बिछा। ऊपर की सीटो पर माननीय आचार्यजी के अगरक्षक महाशय और मैंने आसन जमाया । छह बजे के बाद एक्सप्रेस मे डिब्बा जुडा। गाडी चल पडी। मोकामा स्टेशन पर भोजन होने लगा । मुझे तो रविवार के कारण अलोना भोजन करना था । आचार्य के साथ घर की बनी काफी भोजन-सामग्री थी। अलोनी चीजे नमकीन से अलग भी थी । मुझे पर्याप्त प्रसाद मिल गया । खाते-खाते पुरानी स्मृतिया जाग उठी ।

लगभग सन् १९१४-१५ की बात याद आयी । लखनऊ मे अखिल भारतीय हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन का पाचवा अधिवेशन होने वाला था । मैं आरा के एक हाई-स्कूल मे हिन्दी-शिक्षक था । आरा से साहित्यिक प्रतिनिधि चले । श्रीव्रजनन्दन सहाय, श्री अवधविहारी शरणजी, पडित ईश्वरीप्रसाद शर्मा आदि के साथ मैं भी

चल पडा । उस दल मे माननीय आचार्यजी भी थे । उस समय आप पटना के बिहार नेशनल कॉलेज मे प्रोफेसर थे । जाते-आते रास्ते मे बडा आनन्द रहा । लौटती बार हम लोग अयोध्या मे उतरे । भक्तप्रवर श्री रूपकलाजी के दर्शनो का सौभाग्य प्राप्त हुआ । उन दिनो वह हनुमन्निवास मे रहते थे । उस समय आचार्यजी मे जैसी सरलता, सरसता और सहृदयता थी वह सदा वैसी ही रही । उनकी मिलनसारी से कौन परिचित नही !

सुबह होने से कुछ पहले ही हावडा-स्टेशन पर नीद खुली । देखा, 'विश्वमित्र' के सचालक मूलचन्दजी अग्रवाल डिब्बे मे खडे है । पाण्डेयजी ने उनको पहले ही खबर कर दी थी । उनकी शानदार मोटर ने जब उनकी आलीशान कोठी मे पहुचाया तब फिर पुरानी स्मृतिया जाग उठी ।

मैं 'मतवाला'-मडल (कलकत्ता) मे था । असहयोग-आन्दोलन का युग था । बडा बाजार मे अफीम चौरस्ते के पास एक मकान मे छापाखाने का कुछ सामान था । शायद मशीनें न थी । 'विश्वमित्र' कम्पोज होकर कही और छपता था । फिर 'लिबर्टी' नामक अग्रेजी दैनिक निकला था । अभावो और कठिनाइयो से घोर सघर्ष करते हुए घोर साहसी मूलचन्दजी ऐसे स्वावलम्बी बने कि उनका अध्यवसाय तथा उत्साह एक पाठ बन गया ।

सफेद सगमरमर की सीढियो और रग-बिरगे संगमरमर से बने कमरो के चित्रित फर्श तथा एक-से-एक सुन्दर असबाब उस कोठी के शृगार थे । भाग्य भी पुरुषार्थी पुरुष का ही साथ देता है । भोजन के समय चादी के तश्त और प्याले सगमरमर की मेज पर चमकते थे । ईश्वर की विचित्र लीला है । एक तरफ इतना विपुल ऐश्वर्य, दूसरी तरफ देश मे फैली हुई दर्दनाक गरीबी के दिल दहलाने वाले दृश्य ! इस विषमता को दूर करने के शुभ प्रयत्न बहुत हो रहे है, क्योकि इस वैज्ञानिक एव बौद्धिक युग मे पुराकृत कर्मों के परिणाम अब विश्वसनीय नही रह गए ।

मूलचन्दजी का आतिथ्य साहित्यिक ढग का रहा । उसमे आत्मीयता अधिक थी । उन्होंने बहुत दूर तक मोटर की सैर करायी । अपनी ओर से हम लोगो को एक पुस्तक भेट की, जिसमे उनके पत्रकार-जीवन के अनुभव अकित है । मै पाण्डेयजी के साथ कालीघाट जाकर भगवती महाकाली के भी दर्शन कर आया । इतने मे दक्षिण-हैदराबाद के साहित्य-सम्मेलन से लौटे हुए पडित भगीरथप्रसाद दीक्षित वहां आ पहुंचे । मूलचन्दजी का घर साहित्यिको की अतिथिशाला के रूप मे दीख पडा । सुना कि साहित्यिको के लिए उनका द्वार सदा खुला रहता है । दीक्षितजी से प्रयाग के साहित्य-सम्मेलन की स्थिति सुनकर ध्यान में आया कि आज के हम साहित्यनामधारियो में स्वार्थपरता और पारस्परिक ईर्ष्या-द्वेष की वृद्धि कितनी अधिक मात्रा में हो गई है !

वही पर एक युवक चित्रकार भी आ मिले। वह स्वनामधन्य स्वर्गीय चित्रकार प्रोफेसर ईश्वरीप्रसाद वर्मा के पौत्र थे। नाम अब याद नही। उनसे यह सुनकर बडा दु ख हुआ कि स्वर्गीय वर्माजी की सारी कला कृतिया गायब हो गई। जीते-जी उन्होने अपने परिवार के लडको को भी अपनी कला की बारीकिया नही बतलायी—अपनी उत्कृष्ट कला की एक भी निशानी अपने परिवार मे नही रहने दी। मरते दम तक अपने कला-सग्रह का सन्दूक अपने सिरहाने रखे रहे, जो उनके मरते ही किसी ऐसे चतुर लोभी के हाथ लग गया जो पहले से ही उसकी ताक मे था। वह अपनी कला-मर्मज्ञता अपने साथ ही लेते गए।

जब पडित छविनाथ पाण्डेय बिहार प्रादेशिक हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के मत्री थे, उपर्युक्त प्रोफेसर वर्मा ने मुझसे यह इच्छा प्रकट की थी कि सम्मेलन को अपने सभी चित्र दे देगे और उनके नाम पर सम्मेलन-भवन मे एक कला-सग्रहालय रहेगा तथा वह स्वय भी सम्मेलन-भवन मे ही रहेगे। यहा तक कि मेरे साथ सदाकत-आश्रम जाकर पूज्य राजेन्द्र बाबू के सामने भी उन्होने यह इच्छा प्रकट कर दी और पूज्य बाबू का आशीर्वाद भी मिल गया तथा पाण्डेयजी ने सम्मेलन-भवन मे उनके पास रहने के लिए एक कमरा भी सुसज्जित कर दिया, किन्तु वह कही भी स्थायी निवास न बना सके, इधर-उधर भटकते फिरे। सुप्रसिद्ध चित्रकार श्री उपेन्द्र महारथी उनको अपने साथ वडी श्रद्धा से रखना चाहते थे। मैंने उनसे कहा भी कि अपनी पुरानी कला वर्तमान सर्वश्रेष्ठ कलाकार महारथीजी को सिखला दीजिए, पर उन्होने अपने पुत्रो और पौत्रो को तो अपना हुनर सिखलाया ही नही, दूसरो को भला कैसे सिखलाते! स्वर्गीय वर्माजी ने अपनी कला की खूबिया अपने किसी श्रद्धालु शिष्य को भी नही सिखलाईं। भारतीय उस्तादो की यह परम्परागत नीति अत्यन्त सकीर्ण है। कितने ही कलावन्त और गुणी अपना कलात्मक चमत्कार अपने ही साथ लेते गए। सुपात्र पाकर भी जो कला का वरदान नही करता वह इन्साफ के रोज क्या जवाब देता होगा!

दूसरे दिन आठ बजे रात के बम्बई-मेल से नागपुर की ओर प्रस्थान हुआ। इसमे भी अव्वल दर्जे का रिजर्व डिब्बा था। तीसरे दिन रास्ते मे डूगरगढ स्टेशन पर भोजन हुआ। रायगढ स्टेशन देखकर 'छत्तीसगढ' के सम्पादक मित्रवर प० मनोहरप्रसाद मिश्र की याद हो आयी। इसी प्रकार छिन्दवाडा स्टेशन देखते ही स्वर्गीय छेदीलालजी बैरिस्टर का स्मरण हो आया, जो एक बार बिहार प्रान्तीय सेवा-समिति के वार्षिकोत्सव मे सभापति होकर मुजफ्फरपुर पधारे थे। बिलासपुर स्टेशन पर पहुचते ही बालपुर-निवासी पडित लोचनप्रसाद पाण्डेय का ध्यान बध गया, जो काव्यानुशीलन के अतिरिक्त पुरातत्त्वानुसधान मे भी कीर्ति-लाभ कर चुके है। राजगाव-स्टेशन मिला तो साहित्यमूर्ति श्रीपदुमलाल पुन्नालाल बख्शी की वह औलिया फकीर-जैसी सूरत याद पड़ गई जो द्विवेदी-युग की 'सरस्वती' के

कार्यालय मे कभी दीख पडी थी। इस तरह कई पुराने साहित्यसेवियो की स्मृतिधारा मे अवगाहन करते ओर सघन-वनश्री-मण्डित पर्वतश्रेणियो की शोभा निरखते आखे निद्रालु हो गई। तब तक गाडी नागपुर स्टेशन पर जा लगी। वहा माननीय आचार्यजी के स्वागतार्थ सरकारी अफसर मौजूद थे। सरकारी मोटरे भी बाहर खडी थी। हम लोग मध्यप्रदेश के मुख्यमत्री माननीय पडित रविशकर शुक्ल की कोठी मे पहुचाये गए। शुक्लजी का व्यक्तित्व बडा आकर्षक था। गोरा, लम्बा, तगडा शरीर और बडी-बडी सफेद मूछो से सुशोभित भव्य मुखडा बडा प्रभावशाली प्रतीत हुआ। उनका सौजन्य और सौहार्द्र तो कभी भूलने का नही। हसते-हसते बाते करते, अपने पोते को गोद लिये चले आते और नाश्ता करने के लिए खुद साथ बुला ले जाते, हर कमरे मे खुद पहुचकर सुख-सुविधा की बात पूछते, माननीय आचार्यजी के साथ बैठकर घरेलू सुख-दु ख भी बतियाते, दिन और रात के भोजन के लिए भी स्वय ही बुलाने पहुच जाते, नाश्ता और भोजन के समय भी बच्चो से मन बहलाया करते; गजब की अपनैती उनके बर्ताव मे थी। भोजनालय विशुद्ध भारतीय ढग का था। उनके ज्येष्ठ सुपुत्र प० अम्बिकादत्त शुक्ल आकर घटो बैठते और राजनीति तथा समाजनीति पर अपने क्रातिकारी विचार प्रकट कर हम लोगो का खूब मनोरजन करते। एक दिन वह पाण्डेयजी के साथ मुझे भी मोटर से बहुत दूर घुमाने ले गये—जंगल, झील, पहाड, प्रान्तर आदि दिखलाये। प्राकृतिक दृश्य बडा मनोहर था। फिर एक दिन माननीय प० द्वारकाप्रसाद मिश्र के पास भी ले गये। मिश्रजी ने पाण्डेयजी को और मुझको अपने काव्य-ग्रन्थ 'कृष्णायन' की एक-एक प्रति दी तथा शिक्षा एव साहित्य के सम्बन्ध मे बिहार की प्रगति पूछी।

चौथी तारीख को लगभग मध्याह्न मे हम लोग नागपुर के हवाई अड्डे पर गये। मद्रास से डकोटा विमान द्वारा पूज्य राजेन्द्र बाबू आये। हवाई अड्डा अत्यन्त विस्तृत है। विमान पृथ्वी पर उतरकर दौडने लगा। उसके रुकते ही राष्ट्रपति सीढी से उतरते नजर आए। उनके साथ ही चक्रधर शरणजी भी थे, जिनके हाथ में बहुत बडे-बडे गुलाबो की एक लम्बी-सी माला थी। उसके बीच मे पान के पत्तो को कतरकर बनाया हुआ एक गोल-सा तार-मढा झब्बा था। उस माला को कमरे के बडे शीशे पर मैने लटका दिया। गुलाब के फूलो की सुरभि से कमरा गमगमाता रहा।

अपराह्न-काल मे असेम्बली-भवन मे राष्ट्रभाषा प्रमाणीकरण-परिषद् का अधिवेशन आरम्भ हुआ। पूज्य राजेन्द्र बाबू ने उद्घाटन-भाषण किया। डॉक्टर रघुवीर और माननीय प० द्वारकाप्रसाद मिश्र के भाषणों का साराश यह था कि राष्ट्रभाषा हिन्दी में जो नये पारिभाषिक शब्द बनाये या गढ़े जाएंगे, उनकी मूल भित्ति सस्कृत भाषा ही हो सकती है। मध्य-प्रदेश के स्पीकर माननीय श्री

घनश्यामदास गुप्त ने भो इसी मत का समर्थन करते हुए भाषण किया। माननीय आचार्यजी ने नवनिर्मित शब्दो की सुबोधता एव सुगमता पर जोर देते हुए प्रचलित और सुपरिचित शब्दो को भी ग्रहण करने की सलाह दी। पाण्डेयजी के बाद मैने भी अपनी राय जाहिर की। हम लोगो के मत-प्रकाश के अनन्तर श्री सत्यनारायणम् (एम० पी०) ने सविधान-सभा की, और मद्रास के हिन्दू कॉलेज के हिन्दी विभागाध्यक्ष डॉक्टर गणपति ने दक्षिण भारत के अहिन्दी-भाषा-भाषियो की कठिनाइया तथा आवश्यकताए बतलाई। भाषणो द्वारा विचार-विनियम हो चुकने के उपरान्त अन्त मे माननीय मिश्रजी का जो धन्यवादसूचक भाषण हुआ उसका निष्कर्ष यही रहा कि सस्कृत के स्रोत से लिये गए नूतन शब्द ही व्यापक प्रसार पा सकेगे और आवश्यक शब्दो की सृष्टि के लिए सस्कृत के शब्द-भडार को ही उद्गम-स्थान मानना भारतीय प्रकृति एव सस्कृति के अनुकूल होगा। इसके बाद लिपि, व्याकरण, उच्चारण आदि के प्रमाणीकरण के निमित्त कई समितिया बनी, जिनमे से एक के अध्यक्ष माननीय आचार्यजी भी निर्वाचित हुए। हम लोग भी सदस्य बनाये गए। बिहार की ओर से हम लोगो ने लिपि-समिति मे प्रोफेसर कृपानाथ मिश्र का तथा व्याकरण-समिति मे प्रोफेसर नलिनविलोचन शर्मा का नाम दिया। इन समितियो की बैठके दूसरे दिन हुई।

सध्या समय महामहिम राज्यपाल के राजभवन मे हम लोग आचार्यजी के साथ पूज्य राजेन्द्र बाबू के दर्शन करने गये। जैसे हवाई अड्डे पर राष्ट्रपति ने भोजपुरी बोली मे कुशल-मगल पूछा था, वैसे ही राजभवन मे भी बिहार का हालचाल पूछने लगे। उसी समय वहा के गवर्नर श्री मगलदास पकवासा आ गए। पूज्य राजेन्द्र बाबू ने बडे उदार शब्दो मे हम लोगो का परिचय दिया। राष्ट्रपति की महत्ता और गवर्नर साहब की सादगी देखकर मैं तो स्तब्ध रह गया। गाधी-युग ने देश मे कैसे-कैसे महापुरुष उत्पन्न किए ! ऐसी विमल विभूतिया क्या भावी युग मे भी दृष्टिगत हो सकेगी ?

उक्त समितियो की बैठको के सिलसिले मे वहा के शिक्षा-सचिव डॉक्टर वेणीशकर झा से परिचय हो गया। सभी बैठको की कार्यवाहिया आश्चर्यजनक शीघ्रता के साथ हिन्दी मे टाइप होकर हम लोगो के हाथो मे आ जाती थी। वहा के सरकारी दफ्तर मे हिन्दी-टाइपराइटर मशीनो की अधाधुध खटखटाहट सुनकर बडी प्रसन्नता हुई। जब यह पता चला कि डॉ० झा हिन्दी के वयोवृद्ध साहित्यसेवी प० लज्जाशकर झा के सुपुत्र है तब और भी हर्ष हुआ। वह मुझे और पाण्डेयजी को अपनी मोटर से अपने घर ले गये। हम लोगो ने वृद्ध वसिष्ठ झाजी के दर्शन को एक अलभ्य लाभ माना। झाजी की नेत्र-ज्योति बहुत मन्द पड गई थी, पर हम लोगो का अगस्पर्श करके उन्होने बहुत असीसा। वह बहुत दिनो तक काशी के ट्रेनिंग कॉलेज के प्रिंसिपल थे। उनकी एक स्वराज्य-संबधी हिन्दी-पुस्तक

श्रीरायकृष्ण दास ने अपने भारती-भडार से प्रकाशित की थी। वह मेरी ही देख-रेख मे छपी थी। वह हिन्दी का उत्कर्ष-सवाद सुनकर अत्यन्त सन्तुष्ट हुए।

दूसरे दिन प्रात.काल एक विराट् ग्रथ-प्रदर्शनी हुई। उसे भी राष्ट्रपति ने ही उद्घाटित किया। वहा डॉक्टर रघुवीर ने जो भाषण किया उससे उनके बहुभाषाविज्ञ होने का प्रत्यक्ष पमाण मिला। वहा भी राष्ट्रपति प्राय. भोजपुरी मे ही आचार्यजी और पाण्डेयजी से बाते करते रहे। वह उस प्रदर्शनी से प्रेरणा पाने की सीख दे रहे थे। उसमे भूमडल की अनेक प्रमुख भाषाओ के शब्दकोशो का अपूर्व सग्रह था। राष्ट्रपति को डॉक्टर रघुवीर ने उन सैकडो कोशो मे से कई अप्राप्य कोश दिखराये। डॉक्टर रघुवीर की श्रमशीलता, श्रद्धा और लगन देखकर राष्ट्रपति भी बहुत प्रभावित हुए। हम लोग भी अपरिमित सख्या मे दुर्लभ कोशो को एकत्र सगृहीत देखकर डॉक्टर रघुवीर के धैर्य एव अध्यवसाय पर मुग्ध हो रहे। सभी प्रान्तीय सरकारो के प्रतिनिधि आये थे। सबने देखा और सराहा। डॉक्टर रघुवीर के तैयार किये हुए कोशो की पाडुलिपिया अक्षरानुक्रम से अलमारियो मे सजी थी। उनकी सजिल्द प्रतिया देखकर डॉक्टर रघुवीर के स्वाध्याय एव शोध की गहिमा का अनुमान करना भी कठिन जान पडा।

रात मे प्रदर्शनी के स्थान पर ही बम्बई की एक महाराष्ट्र-मडली के विलक्षण क्रीडा-कौतुक का प्रदर्शन हुआ। झडा-गान, लोकनृत्य, ग्रामीण खेल-कूद, व्यायाम, अभिनय आदि से यही धारणा हुई कि ऐसी राष्ट्रीय भावना को उत्तेजित करने वाली मडली को गाव-गाव मे भ्रमण कराने की व्यवस्था सरकार की ओर से होनी चाहिए। अत्यन्त भावोद्दीपक प्रदर्शन था। बिहार सरकार की मोद-मडली के कार्यकर्त्ताओ को अनुप्राणित करने के लिए उस मडली का बिहार मे आना अत्यावश्यक लगा।

उसी रात डॉक्टर रघुवीर ने अपने निवास-स्थान पर एक प्रीतिभोज दिया। उसमे हम लोग आमन्त्रित हुए। वहा पंजाब के माननीय शिक्षा-मंत्री सरदार नरोत्तमसिह से परिचय हुआ। उन्होने कश्मीर पर पाकिस्तान के आक्रमण और पजाब के विभाजन के समय की रोमाचकारिणी घटनाए सुनाई तथा सिक्खों की बहादुरी एव विपत्तियो का भी दिग्दर्शन कराया। यह देखकर बडा सतोष हुआ कि मध्यप्रदेश की सरकार से डॉक्टर रघुवीर को रहने और काम करने के लिए हर तरह का सुपास मिला हुआ है। एक अधिकारी विद्वान् को निश्चिन्ततापूर्वक अध्ययन-मनन-अनुशीलन करने के लिए सम्मानपूर्वक सारी सुविधाए देना किसी भी सरकार के लिए गौरव और प्रतिष्ठा का कारण हो सकता है।

अन्तिम दिन छः जनवरी को चायपान-गोष्ठी मे काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र से भेट हुई। पता लगा कि प्रोफेसर नन्ददुलारे

ाजपेयी भी आये हुए है। वही निश्चित हुआ कि रात मे मिश्रजी के निवासस्थान र सब एकत्र हो। काशी के सुप्रसिद्ध प्रकाशक श्री नन्दकिशोर ब्रदर्स की एक ्कान नागपुर मे है। पाण्डेयजी के साथ मैं भी वहा गया। बनारसी बूटी छनी और देव्य भोजन भी हुआ। वाजपेयीजी के दर्शन तो न हुए, पर मिश्रजी ने आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के साहित्यिक सस्मरण सुनाये। उन्होने बतलाया कि शुक्लजी ाकृतिक दृश्यो के दर्शन के बडे अनुरागी थे। उनका प्रकृति-प्रेम सचमुच उनके निबन्धो मे स्पष्ट झलकता है। वह विन्ध्याचल की वनराशि का सौन्दर्य-निरीक्षण करते हुए बहुत दूर-दूर तक चले जाते थे और सुन्दर वनस्पतियो के सस्कृत-नाम भी बतलाते थे। एक बार आचार्य केशवप्रसाद मिश्र के साथ पर्यटन करते हुए उन्होने 'मेहदी' का सस्कृत नाम 'नख-रजनी' बतलाया था।

सातवी तारीख को मध्याह्न के कलकत्ता मेल से फिर पूर्ववत् रिजर्व डिब्बे मे हम लोगो ने नागपुर से प्रस्थान किया। ठिकाने पहुच पाण्डेयजी के एक मारवाडी मित्र के अतिथि हुए। श्री वसन्तलाल श्यामसुन्दर शायद उस गद्दी का नाम था। आतिथेय सज्जन श्री रामगोपाल हिम्मतसिंह पिंजरापोल के मत्री थे। शाम को पिंजरापोल (सैदपुर) देखने मोटर से गये। गोरक्षिणी के रजिस्टर मे लिखी हुई सम्मतियो को पढने लगा तो पूज्य मालवीयजी आदि के स्वाक्षर देखकर मन मे नाना प्रकार के भाव उठने लगे। कितने ही नेताओ, साहित्यिको और विद्वानो की हस्तलिपियो और गोरक्षा-सम्बन्धी सम्मतियो को प्रदर्शित करने के लिए कही सुरक्षित रखना चाहिए।

लौटती बार कलकत्ता मे श्री बजरगलाल लोहिया का ग्रथ-सग्रह देखने का निश्चय पहली ही बार किया था। आठवी जनवरी के अपराह्न मे पाण्डेयजी के साथ उनके यहा पहुचने पर अनेक दुष्प्राप्य ग्रथो के दर्शन हुए। १९५१ के अत मे कलकत्ता के हिन्दी-प्रेमियो ने लोहियाजी का अभिनन्दन किया था और एक थैली भी उन्हे भेट की गई थी। वह विशेष शिक्षित नही है, परन्तु प्राचीन महत्त्वपूर्ण दुर्लभ ग्रथो के सग्रह मे ही उनके जीवन का प्रत्येक क्षण बीता है। फतहपुर (जयपुर) के सरस्वती-पुस्तकालय को उन्होने दर्शनीय ग्रथो से पूर्ण समृद्ध कर दिया है। माननीय आचार्यजी को उन्होने 'बिहारी-सतसई' की एक अत्यन्त प्राचीन मुद्रित प्रति भेट की थी, जो सम्भवत लल्लूलालजी के तिलक से विभूषित और डॉ० ग्रियर्सन द्वारा सम्पादित एव प्रकाशित थी।

उसी दिन हम लोग रात मे दिल्ली एक्सप्रेस से पटना लौट चले। नवी जनवरी को प्रात.काल पटना पहुचने पर बडी थकावट मालूम होने लगी। कन्या-विवाह की कार्य-व्यस्तता और लम्बी यात्रा के अत मे जो श्रान्ति आती है वह बड़ी मीठी और गाढी नीद साथ लाती है।

१

बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्

पटना . १९५०—

•

२९ दिसबर, १९४९ को कॉलेज-सेवा से मुक्त होकर शिवपूजन सहाय पटना चले आये और जुलाई, १९५० मे बिहार राष्ट्रभाषा परिषद् के मत्री पद का कार्यभार ग्रहण किया। बाद मे इस पद का उन्नयन निदेशक के रूप मे हुआ और इसी पद से १ सितबर, १९५९ को एक दशक की सरकारी सेवा से निवृत्त हुए, यद्यपि 'हिन्दी साहित्य और बिहार' ग्रथमाला के सपादन के लिए वे प्रतिदिन पूर्ववत् परिषद् जाते रहे और उसी क्रम मे किंचित् अस्वस्थता की स्थिति मे परिषद् से लौटते हुए वर्षा मे भीग जाने के कारण १३ जनवरी, १९६३ को ज्वरग्रस्त हुए एव १६ जनवरी की सध्या मे अर्द्धचेतनावस्था मे पटना अस्पताल ले जाये गये जहा २१ जनवरी के ब्राह्ममुहूर्त्त मे ३ बजकर ५ मिनट पर महाप्रयाण हुआ। जीवन का यह अन्तिम द्वादशक साहित्यिक कार्यकलाप एव सपर्कों के दृष्टिकोण से अत्यत महत्त्वपूर्ण रहा। इसी अवधि में परिषद् से 'शिवपूजन रचनावली' चार खडो में प्रकाशित हुई, कई बार गभीर व्याधियो से ग्रस्त हुए, १९६० मे 'पद्मभूषण' की उपाधि से अलकृत हुए, १९६१ में पटना नगर निगम की ओर से नागरिक अभिनदन हुआ तथा १९६२ मे भागलपुर विश्वविद्यालय की मानद उपाधि डी० लिट्० से विभूषित हुए। इस महत्त्वपूर्ण कालखंड के साहित्यिक सस्मरण प्रस्तुत है इस परिच्छेद मे।

•

श्री व्रजनन्दनसहाय 'व्रजवल्लभ'

सन् १६१४ मे अखिल भारतीय हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन का पाचवा महाधिवेशन लखनऊ मे हुआ था। पडित श्रीधर पाठक सभापति थे। श्री श्यामसुन्दरदासजी वहा के कालीचरण हाईस्कूल के हेडमास्टर थे। स्कूल के आगन मे ही सम्मेलन का पण्डाल बना था। आरा-नागरी-प्रचारिणी सभा की ओर से एक प्रतिनिधि-मण्डल वहा गया था। व्रजवल्लभजी उस मण्डल के मुखिया थे। अवधबिहारीशरणजी भी उस दल मे थे। आचार्य बदरीनाथ वर्मा, पडित ईश्वरीप्रसाद शर्मा आदि भी साथ ही थे। मै भी गया था। सम्मेलन मे प्रसिद्ध साहित्य-सेवियो द्वारा व्रजवल्लभजी का आदर-सत्कार देखकर इस बात का पता लगता था कि साहित्य के विद्वानो मे उनकी कैसी प्रतिष्ठा है। श्यामसुन्दरदासजी और मिश्रबन्धुओ से उनका मित्रवत् व्यवहार देखने मे आया। हिन्दी के सुकवि राय देवीप्रसाद 'पूर्ण' उनसे मिलने के लिए प्रतिनिधि-निवास मे आये। जबलपुर के यशस्वी मानस'-टीकाकार श्री विनायक राव साठे उनसे बार-बार गले मिले। वयोवृद्धो का वह मिलन-महोत्सव बडा आकर्षक और हृदयग्राही था। वैसे दृश्य अब दुर्लभ हो गये।

लौटती बार अयोध्या मे श्री रूपकलाजी के दर्शनार्थ सब लोग उतर पडे। वे हनुमन्निवास मे रहते थे। उनके दिव्य-दर्शन का आनन्द अपूर्व था। वे 'रामचरितमानस' और 'विनय पत्रिका' की प्रसगानुकूल पक्तियो को कहकर ही बातचीत करते थे। चाहे किसी विषय का प्रसग छिड़ा हो, किसी तरह का कोई प्रश्न ही क्यो न हो, सबके लिए वे उन्ही दोनो ग्रन्थो की उपयुक्त पक्तियो का प्रयोग करते थे। उनकी स्मृति-शक्ति की अलौकिकता देखकर मैं तो स्तब्ध रह गया। उनमे व्रजवल्लभजी और अवधबिहारीशरणजी की असीम श्रद्धा थी। तुलसी-साहित्य पर उनका असाधारण अधिकार था। वे बिहार के सारन जिले के निवासी थे। भक्तमाल पर उनकी टीका प्रसिद्ध है। रामभक्ति-साहित्य के मर्मज्ञो मे उनका आदरणीय स्थान है। पहुचे हुए सन्त तो थे ही, शुद्ध साहित्यिक भी थे।

आरा की नागरी-प्रचारिणी-सभा की स्थापना सन् १६०१ मे हुई थी। उसके सस्थापको मे पडित सकलनारायणजी अन्यतम थे। आरम्भ से ही व्रजवल्लभजी उसके प्रधान मत्री थे। उनके समय मे सभी ने देशी रजवाडो और सरकारी दफ्तरो मे हिन्दी-नागरी-प्रचार के लिए उल्लेखनीय प्रयत्न किये थे। उन्होने अग्रेजी मे बड़े लम्बे-चौड़े मेमोरेडम लिखकर और छपवाकर सर्वत्र भेजे थे। उस समय के विश्वविद्यालयो मे भी हिन्दी-साहित्य के प्रशिक्षण के लिए उन्होने मेमोरेडम भेज-भेजकर अथक उद्योग किया था। कलकत्ता विश्वविद्यालय

मे हिन्दी का प्रवेश कराने मे उनको पडित जगन्नाथप्रसादजी चतुर्वेदी से बडी सहायता मिली थी। सभा की मासिक 'साहित्य पत्रिका' के सम्पादन-प्रकाशन मे भी वे बडे मनोयोग से सहयोग-प्रदान करते थे। सभा की आरम्भिक उन्नति का अधिकाश श्रेय उन्ही को है। उनकी हिन्दी-सेवा से प्रभावित होकर ही श्यामसुन्दरदासजी ने उनकी, उनके पिताजी की और पडित सकलनारायणजी की जीवनिया 'हिन्दी-कोविद-रत्नमाला' नामक अपनी पुस्तक मे प्रकाशित की थी। प्रधान-मत्री के पद से अवरार-ग्रहण करने के बाद सभा ने भी उन्हे 'विद्या-वाचस्पति' की उपाधि से विभूषित किया था। बिहार-हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के बेगूसराय (मुगेर) वाले वार्षिक अधिवेशन के सभापति वे ही हुए थे। उन्होने अपना सारा साहित्य-सग्रहालय अपने जीवन-काल मे ही आरा के 'बाल-हिन्दी-पुस्तकालय' को अपने स्वर्गीय पिता के स्मारक रूप मे समर्पित कर दिया था, जो बडा शोधोपयोगी है।

'व्रजवल्लभ' जी का कद कुछ नाटा था। उन्हे मझोले कद का व्यक्ति समझना चाहिए। उनकी कटी-छटी दाढी उनके चेहरे को भव्य बनाती थी। अदालत मे वकालत करने जाते समय वह काला चोगा भी पहनते थे। साधारणत: कमीज, कोट, धोती और सादा दुपल्ली टोपी ही उनकी स्वाभाविक वेशभूषा थी। छड़ी लेकर सुबह-शाम टहलने निकलते थे। लगभग अस्सी-पचासी वर्ष की आयु मे, महीनों बीमार रहने के बाद, उनका देहान्त हुआ था। जीवन-भर उनका स्वास्थ्य बहुत अच्छा रहा। खान-पान मे वे बडे सयमी थे। रहन-सहन मे भी सादगी-पसन्द थे। प्राय मुह चुनियाकर बोलते थे। आवाज मे कुछ खसखसाहट थी। अग्रेजी और बग-भाषा के साहित्य का बडा गम्भीर अध्ययन किया था। साहित्यिक चर्चा मे उनकी अध्ययनशीलता का परिचय मिलता था। भाषण करने का अभ्यास तो था ही, क्योकि एक सुखी वकील थे, पर सभा-सम्मेलनो से उदासीन रहा करते थे। केवल लिखते रहने में ही उनको सन्तोष और शान्ति का अनुभव होता था। उनके अक्षर सुवाच्य तो होते थे, पर सुन्दर नही। कहा करते थे कि मेरे अक्षर मेरे पिताजी के नन्हे-नन्हे अक्षरो के बडे-बडे प्रतिरूप है। बात सही थी। पिता-पुत्र का कद भी एक-सा था। हिन्दी-साहित्य के इतिहास मे वे कवि एव कथाकार के रूप मे चिरस्मरणीय रहेगे।

व्रजवल्लभजी जब मृत्युशय्या पर थे, मै उन्हे देखने आरा गया था। उस

समय उनसे जो वार्तालाप हुआ,[1] वह भी साहित्यिक सस्मरणो के रूप मे था[2]। रोगशय्या पर अस्थिमात्रावशेष देखकर बडी करुणा हुई। उस दशा मे भी मसनद के सहारे बैठकर उन्होने एक घटे तक साहित्यिक सस्मरण सुनाए। उनके ही शब्दो मे—

'मेरे पिताजी (बाबू शिवनन्दन सहाय) गवर्नमेट के ट्रासलेटर थे। उनके साथ पटना रहकर मै पटना-कॉलेजिएट मे पढता था। स्कूल के हिन्दी-शिक्षक पडित बिहारीलाल चौबे मुझे बडे स्नेह से पढाते थे। वे अच्छे साहित्यिक व्यक्ति थे। उनकी जीवनी 'सरस्वती' मे छपी थी। जब कभी वे कान ऐठते थे तब मालूम होता था कि कानो को मरोडकर उखाड लेगे। उसी गोशमाली (कनैठी) की बदौलत उनकी बताई हुई एक-एक बात मुझे आज तक याद है। वे हाईस्कूल मे ही शब्दो की व्युत्पत्ति सिखाते थे। शब्दो के अर्थ और प्रयोग जो उन्होने बतलाये थे, वे कॉलेज की पढाई मे भी काम आते रहे। पडित अम्बिकादत्त व्यास जब छपरा और भागलपुर के जिला-स्कूल मे हेड पडित थे तब पटना आने पर मेरे पिताजी के पास ही प्राय· ठहरते थे। उन्होने भी मुझे लडकपन मे ही कविता बनाने के नियम सिखाये थे। वे जब आते थे तब नयी कविता और नया श्लोक मुझसे सुनते थे। उनके आने की खबर पाकर पिताजी मुझे कविता और श्लोक कण्ठस्थ करा देते थे। पिताजी जब पटना सिटी के हरमन्दिर मे बाबा सुमेरसिह साहबजादा से मिलने जाते थे अब अकसर मुझे भी साथ ले जाते थे। बाबा ने ही मुझे पिगल पढने की प्रेरणा दी। जब मैं बी० एन० कॉलेज मे पढता था तभी उन्होने अपनी 'समस्यापूर्ति' पत्रिका के सम्पादन का काम सौप दिया। उनकी देख-रेख मे काम करने से उनके स्वर्गीय होने के बाद भी मैं उनका सहेजा हुआ काम कुछ दिनो तक करता रहा। वे काव्य शास्त्र के प्रकाण्ड पडित थे। पडित अम्बिकादत्त व्यास के साथ उनकी बातचीत होने लगती थी तो छन्द-शास्त्र और अलकार-शास्त्र की चमत्कारपूर्ण बाते सुनकर शास्त्रीय ज्ञान बहुत बढ जाता था। यही हाल पडित दामोदर शास्त्री का भी था। वे खड्गविलास प्रेस मे ग्रन्थ-शोधन आदि काम करते थे। सस्कृत के वे बहुत अच्छे विद्वान् थे। पडितो से प्राय सस्कृत मे ही

---

१ 'उस समय मैने उनसे पूछा था कि भारतेन्दु-जीवनी की वह शेषाश सामग्री और बेठन मे बधा वह कागज-पत्र का बस्ता कहा है? उन्होने उत्तर दिया कि 'पडित अयोध्यासिंह उपाध्याय हरिऔध सब समेटकर उठा ले गये—जीते-जी उसको लौटाया ही नही, मरने पर तो वह दुर्लभ ही हो गया।'

२. बिहार-हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के त्रैमासिक मुखपत्र 'साहित्य' मे उन पुराने सस्मरणो का प्रकाशन हो चुका है।

बतियाते थे। उनकी पत्नी कभी किसी परपुरुष के सामने होकर बात नही करती थी। मराठी महिला होने के कारण परदा-प्रथा नही मानती थी, पर सबके सामने मुह मोडकर बात करती थी। थोडी सस्कृत वे भी जानती थी। कभी-कभी मुझसे सस्कृत मे ही कोई छोटा प्रश्न पूछती थी। वे ऐसी बलवती थी कि दो भरे गगरे दोनो हाथो मे लेकर ऊची सीढियो पर खटाखट चढ जाती थी। महाराष्ट्र-दम्पति को सस्कृत मे परस्पर भाषण करते मैने सुना था। शास्त्रीजी हिन्दी की शुद्धता पर विशेष ध्यान रखते थे। पुस्तको और पत्र-पत्रिकाओ की भाषा मे अशुद्धियो को झट पकड लेते थे। चौबेजी और व्यासजी प्राय खड्गविलास प्रेस मे जाते थे। शास्त्रीजी से उन दोनो की बातचीत प्राय भाषा की शुद्धता पर ही होती थी। आजकल के साहित्य-सेवी व्याकरण-सगत भाषा लिखने पर कम ध्यान देते है। पर, वे लोग शब्दशास्त्र के मन्थन और मनन मे ही लगे रहते थे। जब वे लोग आपस मे बहस करने लगते थे तब बाबू रामदीन सिह तुरन्त मिठाइया मगाकर उन लोगो के सामने परोस देते थे। महाराजकुमार (बाबू रामदीन सिह) के समान विद्वानो का सम्मान करनेवाला गुणग्राही उस समय कोई न था। उन्होने अनेक लेखको और कवियो की लिखी पुस्तके काफी रुपये देकर खरीद ली थी। उनके मरने के बाद कई अलमारिया अप्रकाशित पाण्डुलिपियो से भरी थी। किसी को उन्होंने निराश-विमुख नही किया। रोगी होने पर, कन्या के विवाह मे, अभाव मे कष्ट पाने पर और किसी सकट मे पडने पर साहित्य-सेवी लोग उन्ही के पास पहुच जाते थे और निश्चय ही सफल-मनोरथ होते थे। वैसा त्यागी और दानी होना कठिन है।'

मेरे बहुत मना करने पर भी वे सस्मरण सुनाते ही जाते थे, इसलिए मै यह कहकर शीघ्र चला आया कि दूसरी बार आकर सुनूगा। पर, एक महीने के अन्दर ही उनके मरने की खबर मिली। मै पुछार करने भी गया था और ठीक महालया के दिन उनके श्राद्ध मे भी सम्मिलित हुआ था। उस समय मेरे मन मे यह भाव उठा था कि उनसे अतीत-युग के सस्मरण यदि लिखवा लिये गये होते, तो वह चीज हिन्दी-साहित्य की एक अमूल्य निधि होती। अनेक पुराने साहित्यकार अपने साथ ही बहुमूल्य सस्मरण लेते चले गये।

डा० श्रीकृष्ण सिह

श्री बाबू के प्रथम दर्शन का सुअवसर असहयोग-युग मे प्राप्त हुआ था —पटना मे ही। उस समय उनके ओजस्वी भाषण की छाप दिल पर गहरी पड़ी थी।

सन् १९२० ई० मे आरा (शाहाबाद) के एक हाई स्कूल से मैं असहयोगी बनकर निकला और वही के नवस्थापित राष्ट्रीय विद्यालय मे हिन्दी का अध्यापक

हुआ। प्रति रविवार को छात्रो के दल के साथ गावो मे जाकर प्रचार-कार्य करता। विद्यालय मे भी विद्यार्थियो को राष्ट्रीयता का ही सन्देश सुनाना पडता। सार्वजनिक सभाओ की सूचना पाते ही उनमें पहुचकर जोशीले भाषण सुनने की चाट लगी रहती। यहा तक कि गरमागरम भाषण सुनने के लोभ से कभी-कभी पटना तक दौड लगाता।

उन्ही तूफानी दिनो मे पटना मे आपका भाषण सर्वप्रथम सुना। नये खून मे उबाल-सा आ गया। देखा कि आप बोलते समय स्वदेशाभिमान से उन्मत्त हो उठे है।

मेरे तो रोगटे खडे हो गये। आखो मे रह-रहकर आसू उमड पडते। रगो मे बिजली-सी दौड गयी। दिल मे नयी उमगे लहराने लग गयी। जान पडा, मानो एक नयी चेतना और नयी प्रेरणा पा गया होऊ। भाषण के कई मार्मिक वाक्यो को मन-ही-मन दुहराता-गुनगुनाता आरा लौट गया।

मैंने राजनीति-क्षेत्र मे कभी काम किया नही, इसलिए किसी नेता से कभी किसी प्रकार का सम्पर्क भी न हुआ। अगर कभी हुआ भी तो केवल साहित्यिक कारण से ही। श्रीबाबू से भी पहले-पहल मिलने का सौभाग्य इसी कारण प्राप्त हुआ। वह भी राजनीतिक क्षेत्र के एक प्रसिद्ध व्यक्ति और साहित्यिक क्षेत्र के यशस्वी कलाकार श्री बेनीपुरी के साथ।

सभवत १९४५ या ४६ ईसवी के शीतकाल का आरम्भ था। रात के आठ बजे होगे। पटना मे, बोरिंग रोड पर अमावा-राज्य की कोठी मे, उनके दर्शन हुए। बेनीपुरीजी ने मेरा परिचय दिया। मैंने श्री राजेन्द्र-अभिनन्दन-ग्रथ के लिए एक लेख की प्रार्थना की। उन्होने फिर एक बार याद दिलाने पर भेज देने का वादा किया। ग्रथ के बारे मे और-और बाते भी पूछने लगे। मैंने सब विवरण बतलाया।

फिर जब मै बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् का सचालक था तब उनकी सेवा मे उपस्थित होने के कुछ अवसर मिले थे। एक बार परिषद् के प्रकाशित ग्रन्थो को उन्हे भेंट करने के लिए राज भवन के पास उनकी कोठी मे गया। वे अपने अध्ययन-कक्ष मे पुस्तको के बीच बैठे थे। परिषद् के ग्रन्थो को देखकर अतिशय प्रसन्न हुए। कहने लगे, एक साथ ही दस-बीस ग्रन्थो को देने की अपेक्षा यही अच्छा होगा कि एक ग्रन्थ ज्यो ही प्रकाशित हो त्यो ही मेरे पास भेज दीजिए, इससे मुझे पढने मे सुविधा होगी, साथ ही मुझे परिषद् की प्रगति मे भी परिचित कराते रहिए, अपने राज्य की ऐसी साहित्यिक सस्था मे मेरी खास दिलचस्पी है।

फिर एक बार परिषद् के वार्षिकोत्सव मे सम्मिलित होने के लिए उन्हे सादर निमन्त्रित करने गया। परिषद् के प्रकाशित वार्षिक कार्य-विवरण और ग्रन्थो का सूचीपत्र भी मै साथ ले गया था। वे उसी एकान्त ग्रन्थागार मे एकाकी बैठे

हुए थे । लगभग एक घटा समय देकर उन्होने परिषद् के कार्यकलाप का निरीक्षण किया और ग्रन्थो पर आयी हुई विद्वानो तथा पत्र-पत्रिकाओ की सम्मतियो को भी बडे ध्यान से देखा । बीच-बीच मे जहा-तहा आवश्यक बातो के विषय मे मुझसे पूछताछ भी की । फिर वार्षिक महोत्सव मे पधारने की स्वीकृति देते हुए कहा, लम्बी बीमारी के बाद आपका स्वास्थ्य अभी ठीक सुधरा नही है, सयम और सावधानी के साथ परिश्रम कीजिए। कभी-कभी कही किसी सभा या समारोह मे भेट हो जाती थी तो कृपापूर्वक मेरे स्वास्थ्य का हाल पूछ बैठते थे ।

परिपद् से अवसर-ग्रहण करके मै जिस दिन (१-६-५६ को) कार्यमुक्त हुआ, उसी दिन उन्हे प्रणाम करने के लिए उनके बगले पर गया । सन्ध्या के बाद वहा कोई सभा हो रही थी । अनेक सज्जन प्रतीक्षा मे बैठे थे । वही पडित धनराज शर्मा, एम० एल० ए०, भी थे । मैने भी अपना नाम लिखकर चपरासी को दे दिया। सभा समाप्त होने पर वे एक छोटे कमरे मे आकर मिलनेवालो को बुलाने लगे । चपरासी मुझे बुलाने आया तो उक्त शर्माजी ने मुझसे कहा, 'जाइए, आप बडे खुशकिस्मत है कि सबसे पहले बुलाहट हुई ।' मै उस कमरे मे गया तो सामने की कुर्सी पर बैठने का आदेश देते हुए सबसे पहले मेरे स्वास्थ्य का हाल पूछा । मैने निवेदन किया, 'कामचलाऊ है ।' बोले, 'कामचलाऊ स्वास्थ्य से साहित्य-सेवा कैसे होगी ? उम्र आपकी कितनी हुई ?' मेरे बतलाने पर हसकर कहा, 'तब तो आप मुझसे छोटे है ।' मैने नम्रतापूर्वक कहा, 'इसीलिए आज आपका आशीर्वाद लेने आया हू, लगभग दस साल आपकी सरकार की सेवा मे रहकर आज ही कार्यमुक्त हुआ हू, अत केवल प्रणाम करने के उद्देश्य से ही आपके दर्शन को आया हू ।' इतना ही कहकर मैं झट उठ खडा हुआ । यह देख कहने लगे, 'आप इतनी उतावली मे क्यो है, आपके अवसर-ग्रहण करने और कार्यमुक्त होने की बाते मुझे खूब मालूम है । बतलाइए कि अब मुझसे आप क्या चाहते है ?' मैने पुन सविनय निवेदन किया, 'मै किसी अन्य प्रयोजन से नही आया हूं, आपकी सरकार की सेवा से मुक्त होने पर आज आपका दर्शन करके प्रणाम करना मेरा कर्तव्य था, उसी का पालन-मात्र करने आया हू ।' इतना कहकर मैने पाव आगे बढाया, वे मौन गभीर हो गये, मेरे जुडे हुए हाथो को अपने दोनो हाथो से जोर से दबाकर झकझोरा और सहानुभूति के स्वर में कहा, 'मेरे करने योग्य कोई काम हो तो कहने मे सकोच न कीजिएगा ।' 'आपकी कृपा का भरोसा तो रहेगा ही' कहता हुआ मै हाथ जोडे सिर झुकाए बाहर निकल आया । रास्ते मे उनकी सहृदयता का रसास्वादन करता हुआ मेरा हृदय बार-बार ईश्वर को धन्यवाद देता रहा, क्योंकि महान पुरुष का आशीर्वाद ईश्वर-कृपा से ही सुलभ होता है। ईश्वर की कृपा से ही उनकी इतनी सहानुभूति मिल सकी, नही तो मैं उनका इतना प्रसाद कैसे पा सकता ।

परिषद् की सेवा से निवृत्त होने पर मेरे बाकी अर्जित अवकाश मे से डेढ महीने का पूरा आधा वेतन देने की स्वीकृति महालेखापाल से मिली थी, किन्तु लिखा-पढी होते-होते १९६० के ग्रीष्मकाल तक रुपये मिले नही थे। उसी समय मैं बहुत बीमार हो गया। श्री दिनकरजी ने मुझे अस्पताल मे भरती कराया और श्रीबाबू से मेरे आर्थिक सकट के सम्बन्ध मे निवेदन किया। श्रीबाबू ने तुरत आदेश दिया कि अडतालीस घटे के अन्दर पूरी रकम चुका दी जाय और खास सरकारी आदमी को राची भेजकर रुपये पाने का अधिकार-पत्र मगाया जाय। ईश्वर की असीम कृपा से वैसा ही हुआ और दो दिनो मे ही मुझे कुल रुपये मिल गये, जिससे मेरी चिकित्सा मे बडी सुविधा हो गयी। यदि ठीक समय पर यह सहायता न मिली होती तो मेरी शोचनीय दशा कभी सुधरती ही नही। श्री दिनकरजी प्रयत्नशील न होते तो यह काम किसी तरह सिद्ध न हो सकता। उन्होने राष्ट्रपति राजेन्द्र बाबू और प्रधान-मत्री नेहरूजी को भी लिख दिया, जिससे क्रमश दो सौ और दो हजार रुपये आ गये। अस्पताल मे लगभग दो-ढाई महीने रहकर जब मै घर आया तब इन्ही रुपयो से स्वास्थ्य-रक्षा मे सहायता मिली। अस्पताल के कॉटेज मे भी श्रीबाबू ने मेरे स्वास्थ्य का हाल पुछवाने की कृपा की और मेरे स्वस्थ होने के बाद साहित्य-सम्मेलन-भवन की एक सार्वजनिक सभा मे अकस्मात् साक्षात्कार हो जाने पर भीड मे भी हाल-चाल पूछ बैठे। उनकी उदारता और महत्ता का कहा तक बखान किया जाय, वे असख्य व्यक्तियो का उपकार कर गये।

राजर्षि पुरुषोत्तमदास टण्डन

सन् १९१४ मे मुझे उनके प्रथम दर्शन का सौभाग्य लखनऊ के पाचवे भारतीय साहित्य-सम्मेलन मे प्राप्त हुआ था। उर्दू के उस प्राचीन गढ मे हिन्दी की सर्व-भाषा-हितैषणा और व्यापकता पर टण्डनजी का जो प्रभावशाली भाषण हुआ था, वह समागत प्रतिनिधियो के बीच बराबर चर्चा का विषय बना रहा। उर्दू-प्रेमी भाइयो ने उसी समय एक खास सभा करके अपने जो मनोभाव व्यक्त किये थे, उनमे से एक-एक बात का यथार्थ उत्तर टण्डनजी ने अपने दूसरे दिन के सार्वजनिक भाषण मे ऐसी मिठास के साथ दिया कि उर्दू के हिमायती विद्वान् उनसे प्रतिनिधि-शिविर मे मिलने और शुक्रिया अदा करने पधारे थे। वह उर्दू के विरोधी नही थे, उसे तो वह हिन्दी की ही एक विशिष्ट शैली मानते थे। उनके अनेक भाषणो मे भाषा-सम्बन्धी उनके उदार विचार सुने जा चुके है। उस समय भी उन्होने कहा था कि हिन्दीवाले अनगिनत अरबी-फारसी शब्दो को पचाये हुए है, पर उर्दूवाले अप्रचलित और दुरूह शब्दो से अपनी भाषा

को क्लिष्ट और बोझिल बनाकर हिन्दी से उसे अलग करते जा रहे है। फिर रात मे सम्मेलन के पण्डाल मे कविवर राय देवीप्रसाद 'पूर्ण' ने हिन्दी पर किये गये उर्दू वालो के आरोपो का पद्यबद्ध उत्तर ऐसे विनोदपूर्ण ढग से दिया था कि उनके आशुकवित्व का चमत्कार देख कितने ही उपस्थित उर्दू-प्रेमी बन्धु 'वाह-वाह' कर उठे थे। टण्डनजी और पूर्णजी ने उर्दू के किले मे हिन्दी का झण्डा फहराया तथा उर्दू के आगे हिन्दी ने भी दोस्ती का हाथ बढाया।

पुन अखिल भारतीय हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के ही कलकत्तावाले एकादश अधिवेशन मे भी, जिसके सभापति डॉक्टर भगवानदास थे, प्रतिष्ठित बगीय विद्वान् सर देवीप्रसाद सर्वाधिकारी ने जब बग-भाषा के साहित्य की समृद्धि-वृद्धि का गुणगान करते हुए हिन्दी-साहित्य के अभावो पर असन्तोष तथा खेद प्रकट किया, तब टण्डनजी ने बडी ओजस्विता के साथ और सयत भाषा मे उन्हे ऐसा सटीक उत्तर दिया कि टण्डनजी का भाषण समाप्त होते ही वह मौन धारण किये उठ चले। हिन्दी की साहित्यिक सम्पत्ति का यथार्थ मूल्याकन करनेवाला वह भाषण सचमुच मर्मस्पर्शी था। उस उपयुक्त अवसर की टण्डनजी की तेजस्विता देख हिन्दी-प्रेमियो का हृदय गर्वोल्लास से स्पन्दित होने लगा। उन्होने हिन्दी के साहित्यिक ऐश्वर्य का विशद वर्णन करते हुए कहा था कि 'काच के चमकीले टुकडो की असख्य राशिया भी एक अमूल्य रत्न की बराबरी नही कर सकती—ग्रन्थो की सख्या-वृद्धि से ही कोई साहित्य वैभवशाली नही होता—परमोच्च कोटि के दो-चार ही लोकप्रिय ग्रन्थ किसी साहित्य को महिमा-मण्डित कर सकते है—हिन्दी का 'रामचरितमानस' अकेला ही अन्य भाषाओ के ग्रन्थ-समुदाय से लोहा ले सकता है—अपने प्राचीन साहित्य के बल पर हिन्दी-विश्व-साहित्य के सामने भी अपना सिर ऊचा कर सकती है· ·' फिर सम्मेलन के बाहर की सार्वजनिक सभा मे भाषण करते हुए उन्होने बगला और हिन्दी के साहित्य का जो तुलनात्मक अध्ययन उपस्थित किया था वह भी उनकी गहन अध्ययन-शीलता का ही परिचायक था। हिन्दी के चालू साहित्य पर बंगला का प्रभाव स्वीकार करते हुए उन्होने बगला के काव्य-साहित्य पर भी विद्यापति, कबीर, मीरा आदि भक्त और सन्त हिन्दी-कवियो के स्पष्ट प्रभाव का सप्रमाण सकेत किया था, जिसे सुनकर 'दारोगा-दफ्तर' के सम्पादक श्री कात्तिकेयचरण मुखोपाध्याय ने टण्डनजी के स्वाध्याय की गम्भीरता पर आश्चर्य प्रकट करते हुए मुग्ध स्वर मे कहा था कि ऐसे ही समन्वयवादी विद्वान् अपनी एकता-विधायिनी वाणी से बगीय साहित्यसेवियों के हृदय पर हिन्दी का सिक्का जमा सकते है। टण्डनजी हिन्दी के पक्ष मे भी दुराग्रही नही थे, पर हिन्दी की महत्ता के प्रतिपादन में उनके युक्तियुक्त तर्क बडे अचूक होते थे। कोई प्रचण्ड तार्किक भी उनसे हिन्दी की हीनता नही स्वीकार करा सकता था। वह तो स्वयं ही समस्त

भारतीय भाषाओ के साथ हिन्दी का सौहार्द स्थापित करना चाहते थे। हिन्दी-विषयक उनके भाषण वस्तुत: रेकार्ड करने योग्य होते थे। उनके भाषण यदि सकलित और प्रकाशित हो सकते तो निश्चय ही साहित्य की अमूल्य निधि होते।

भारतीय साहित्य-सम्मेलन के प्रत्येक अधिवेशन मे टण्डनजी अनिवार्य रूप से सम्मिलित होते थे। उसके मच से उनके भाषण जिन लोगो ने सुने है, वे लोग आज भी अनुभव कर रहे होगे कि हिन्दी की समस्याओ पर वैसी तन्मयता और दृढ ममता के साथ हृदयग्राही भाषण करनेवाले अब इने-गिने ही है। यदि यह कहा जाए कि हिन्दी टण्डनजी की सास है तो अत्युक्ति न होगी। वह जहा कही, चाहे जिस किसी परिस्थिति मे रहे, उनके चिन्तन का विषय हिन्दी-हित ही रहा। जब वह उत्तर प्रदेश मे विधान-सभा के अध्यक्ष थे, काग्रेस के सभापति थे, केन्द्रीय ससद मे थे, लाला लाजपतराय की पीपुल्स-सोसायटी के प्रधान थे, भारतीय सस्कृति-सम्मेलन के सचालक थे, कही भी हिन्दी उनके ध्यान से न उतरी। हिन्दी के लिए ही उन्होने महान्-से-महान् पद को त्याग दिया। अपमान का भी ध्यान छोडकर हिन्दी की भलाई पर ही निगाह रखना उन्ही के समान वीतराग तपस्वी का काम था। उनकी दिनचर्या भी तपस्वियो और ऋषियो के समान ही थी। दिल्ली मे भारतीय सस्कृति-सम्मेलन की स्थापना करके उन्होने स्वदेशवासियो के नैतिक उत्थान का जो प्रयास किया वह भी उनके तपोमय जीवन का एक मुख्य प्रसग है। उस सस्था की त्रैमासिक मुखपत्रिका 'भारतीय सस्कृति' और उसके वार्षिक अधिवेशनो के सभापतियो के भाषणों से हिन्दी-साहित्य की जो यत्किंचित् श्रीवृद्धि हुई वह उपेक्षणीय नही है। उदाहरणार्थ, डॉक्टर भगवानदासजी का भाषण भारतीय सस्कृति का स्फटिक-स्वच्छ स्वरूप प्रदर्शित करनेवाला एक अभूतपूर्व निबन्ध है। उक्त सम्मेलन से, परिमित परिमाण मे ही सही, गिने-चुने अधिकारी विद्वानो द्वारा सास्कृतिक साहित्य तैयार कराने का सर्वाधिक श्रेय टण्डनजी को ही है। एक बार मुझे दिल्ली जाने का अवसर मिला तो उनके दर्शन का भी सौभाग्य प्राप्त हुआ। मेरे मित्र पडित केदारनाथ शर्मा 'सारस्वत' वहा भारतीय-सस्कृत-साहित्य-सम्मेलन के प्रधान-मत्री और 'भारतीय सस्कृति' के सम्पादक भी थे। वही मुझे उनकी सेवा मे ले गए। प्राय परिचित व्यक्ति से भेंट होने पर बडे लोग भी सम्बद्ध कार्य-कलाप अथवा जीवन की गतिविधि के सम्बन्ध मे पूछताछ करते है, पर टण्डनजी ने बिहार मे हिन्दी की प्रगति के विषय मे ही जानना चाहा, बिहार-हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन और बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् की साहित्य-सेवा की ही बाते कहते-सुनते रहे। वर्तमान वैज्ञानिक युग के नाम पर भारतीय सस्कृति के प्रति आधुनिक युग की उदासीनता से वह चिंतित जान पड़े और उनकी बातो से यह भी ध्वनित हुआ कि भारत की राजधानी दिल्ली

मे भारतीय सस्कृति-सम्बन्धी साहित्य का एक सुसचालित प्रचार-केन्द्र होना अत्यावश्यक है। किन्तु ईश्वर की ऐसी इच्छा कि सारस्वतजी भी उनसे पहले ही ससार छोड गए। वही टण्डनजी की प्रेरणा ओर सहायता से उक्त सस्था ओर पत्रिका चलाते थे।

हिन्दी-जगत् को भली-भाति विदित है कि आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी आजीवन साहित्य-सम्मेलन से उदासीन ओर तटस्थ रहे। उनको सम्मेलन का सभापति बनाने के लिए अनेक बार प्रयत्न हुए, पर कभी उन्होने सभापतित्व स्वीकार नही किया। सम्मेलन के अधिवेशनो मे सम्मिलित होने से भी वह विमुख रहे। किन्तु हिन्दी के सच्चे सेवक की साहित्य-सेवा के प्रति उनके हृदय मे पर्याप्त आदर-भाव था। इसी कारण जब बाबू श्यामसुन्दरदास प्रयाग मे छठे सम्मेलन के सभापति हुए तब द्विवेदीजी उसमे सहर्ष पधारे। बाबू साहब के साथ उनका मतभेद जग-जाहिर था, फिर भी वह बाबू साहब की अनिर्वचनीय हिन्दी-सेवा के प्रति सम्मान प्रदर्शित करने की भावना से अधिवेशन मे निस्सकोच उपस्थित हुए।

मैं भी उस महोत्सव मे उपस्थित था। वह लाला रामप्रसाद के बाग मे हुआ था। उस दर्शनीय समारोह मे भारतेन्दु-सखा पडित बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' भी आये थे। उस समय के सामयिक पत्रो मे यह बात छपी भी थी कि द्विवेदीजी के हृदय मे श्यामसुन्दरदासजी की हिन्दी-सेवा के लिए जो प्रतिष्ठा थी, उसी को प्रकट करने की इच्छा से वह सर्वविदित वैमनस्य को विस्मृत कर सम्मेलन मे चले आए। फिर उस समय के कई साल बाद जब सम्मेलन का अधिवेशन कानपुर मे हुआ तब भी सभापतित्व के लिए द्विवेदीजी से आग्रह किया गया था। पर उनका सकल्प तो शम्भु-शरासन-सदृश अटल था। अत टण्डनजी उसके सभापति बनाये गए। उस युग के पत्रो के पाठको को यह स्मरण होगा कि टण्डनजी के निर्वाचन को सार्वदेशिक समर्थन प्राप्त हुआ था। जब द्विवेदीजी को टण्डनजी के मनोनयन का समाचार मिला तब वह अत्यन्त प्रसन्न हुए। इतना ही नही, जब उनसे स्वागताध्यक्ष होने के लिए निवेदन किया गया, तब सम्मेलन की छत्रछाया मे किसी प्रकार का कोई पद अगीकृत न करने की अपनी प्रतिज्ञा को बिसारकर वह स्वागताध्यक्ष बन गए। उन दिनो के पत्र-पाठको को स्मरण होगा, द्विवेदीजी ने स्पष्ट कहा था कि सम्मेलन के मडप मे कोई पदाधिकारी होकर प्रवेश करना मेरे सिद्धात के विरुद्ध है, पर जब टण्डनजी सभापति होकर हमारे नगर मे आ रहे है तब उनका स्वागत करना मेरा कर्तव्य है, क्योकि हिन्दी को भारतव्यापी बनाने मे उनका भगीरथ-प्रयत्न प्रत्येक हिन्दी-हितैषी के लिए वन्दनीय है। आधुनिक पाठको को भी यह ज्ञात होगा कि द्विवेदीजी बहुत दिनो तक जूही (कानपुर) मे रहे थे, जहा उनका 'कमर्शियल प्रेस' भी था और उनका यह पता 'सरस्वती' मे भी बराबर छपता रहा। उनका वह स्वागत-भाषण द्रष्टव्य है,

जिसमे टण्डनजी के प्रति उनके उदात्त उद्गार अकित है।

जुलाई, १९५४ मे टण्डनजी पटना पधारे थे। बिहार राज्य के वित्त-मत्री डॉक्टर अनुग्रहनारायणसिह के अतिथि हुए। मै स्टेशन पर उनके स्वागतार्थ गया था। वह सपत्नीक आये थे। चरणस्पर्श करते समय उन्होने भीड मे सहसा मुझे नही पहचाना। निवासस्थान पर उन्होने मेरा हाल पूछा और जब मालूम हुआ कि स्टेशन पर मै भी मौजूद था तब दोपहर की कडी धूप मे ही अचानक बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् के कार्यालय मे मुझे आशीर्वाद देने के लिए पहुच गए। कहने लगे, 'मैने भीड मे तुमको पहचाना नही क्योकि चश्मा नही था। तुम्हारी यह परिषद् हिन्दी की अच्छी सेवा कर रही है, अब तुम्हारा स्वास्थ्य ठीक है?' मै उनका आकस्मिक शुभागमन और सौहार्द तथा सौजन्य देख अवाक् रह गया। उनकी सेवा मे परिषद् की पुस्तके बराबर भेजता ही रहता था। जो नयी छपी पुस्तके शेष थी उन्हे समर्पित कर आशीर्वाद की याचना की तो भाव-विभोर होकर ग्रथ-प्रकाशन की सराहना करने लगे।

फिर दूसरे दिन बिहार-हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन मे 'बच्चन देवी-साहित्य-गोष्ठी'[1] का उद्घाटन करने आए। उस अवसर के अपने भाषण मे उन्होने साहित्यकारो को चरित्र की निर्मलता का सदेश दिया था। उन्होने बडे दृढ शब्दो मे अपनी यह धारणा व्यक्त की थी कि ऊचे चरित्र के साहित्यसेवी का साहित्य ही समय के थपेडे को सहता हुआ सदियो तक टिकाऊ रह सकता है। और जिस साहित्य के पीछे चरित्रोत्कर्ष की शक्ति होगी वही लोक-कल्याणकारी तथा स्थायी होगा। जिस समय वह बोल रहे थे उनके मुखडे की शिराए तन गई थी। चेहरा तो उनका ऋषियो-जैसा था ही। उनकी वाणी उनके अन्तस्तल से निकलती थी और उसमे उनकी तपस्या की तेजस्विना रहती थी। आधुनिक साहित्य-ससार मे पवित्र चरित्र को महत्त्वहीन समझने की प्रवृत्ति पर उन्होने खेद प्रकट किया था। वास्तव मे आदर्श चरित्र की व्यावहारिक शिक्षा देने के लिए उनका सारा जीवन एक विद्यालय के समान है।

टण्डनजी ने अपनी लेखनी से अधिक अपनी वाणी से ही राष्ट्रभाषा हिन्दी की सेवा की है। देश-विदेश मे हिन्दी को व्यापक बनाकर वह अमर हो गए है।

मै नवम्बर, सन् १९६० मे निरालाजी को देखने प्रयाग गया था। मित्रवर प० वाचस्पति पाठक के साथ टण्डनजी के दर्शन करने भी गया। सम्मेलन के भूतपूर्व प्रधान-मत्री प० मौलिचन्द्र शर्मा वहा विराजमान थे। शर्माजी उनसे चर्चा कर

---

१ बच्चन देवी (तीसरी पत्नी) के नाम पर स्थापित इस साहित्य-गोष्ठी का उद्घाटन टण्डनजी द्वारा ४ जुलाई, १९५४ को हुआ था।—स०

रहे थे कि सम्मेलन का उद्धार शीघ्र ही होने जा रहा है। वह प्रसन्न-मुद्रा मे थे, पर सासो मे ही बोलते थे। अत्यन्त मद स्वर उनकी अशक्तता का द्योतक था। जब हिन्दी की वर्तमान स्थिति पर बातें होने लगी तब उनका मुखमडल विवर्ण हो गया, उनके चेहरे की शिराए तन गयी। पलग पर मसनद के सहारे बैठे थे, हिन्दी का हाल सुनते-सुनते वह सास खीचकर लेट गए। दाहिने हाथ की अगुलियो को आडी-तिरछी करके शून्य मे हिला दिया और आखे मूद ली। उनकी मन स्थिति देखकर चित्त कातर हो गया।

उनके दिल का दर्द परखकर पाठकजी ने कहा भी कि अब आप इन सारी चिन्ताओ से मुक्त हो जाइए। किन्तु वह जीवनमुक्त महापुरुष हिन्दी की चिन्ता मे ही सतत तल्लीन रहकर ससार से ही मुक्त हो गया। क्या उनको बातो से समझाकर कोई आश्वस्त कर सकता था? उनको विश्वास न था कि जिस राष्ट्र की सेवा मे उन्होने अपना जीवन होम दिया, वही राष्ट्र उनकी भावना को ठेस पहुचाएगा। वह सच्चे अर्थ मे कर्मयोगी और कर्मवीर पुरुषोत्तम थे, पर साहित्यिक रुचि के मनुष्य होने के कारण उनकी भावना बडी सुकुमार थी। हिन्दी को अपने ही घर मे अपदस्थ होते देखकर वह बेचारी सुकुमारी छटपटाकर अथाह मे डूबती हुई-सी उनके प्राणो को ग्रसती रही और अन्त मे उन्हे ले ही डूबी। अब उनकी तरह सास-सास मे हिन्दी को कौन जपेगा?

आचार्यश्री नलिनविलोचन शर्मा

नलिनजी के स्वभाव की मधुरता उनकी अपनी पैतृक सम्पत्ति थी। उनके पिता महामहोपाध्याय पडित रामावतार शर्मा को मैने देखा था। वह अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति के विद्वान् थे। उनके निवासस्थान पर प्राय· सध्या-समय पडितो का जमघट होता था[1]। प्रोफेसर अक्षयवट मिश्र और पडित रामदहिन मिश्र तथा पडित ईश्वरीप्रसाद शर्मा के साथ मै अनेक बार उस दरबार मे गया था। वहा मै दर्शक-मात्र था। वहा जो शास्त्रीय और साहित्यिक चर्चा होती थी, उसका मौन श्रोता भी मैं था। चुपचाप देखने-सुनने के सिवा मेरी वहा गति ही कहां थी! शर्माजी की मधुर प्रकृति पडितो को आकृष्ट किए रहती थी। अपनी गम्भीरता मे अपनी विद्वत्ता छिपाये हुए वह पडितो की बातें सुनते रहते थे। कभी-कभी बीच में कही छेडते और उकसाते भी थे। उनकी मधुर वाणी पडितो को उत्कठित और

१. 'महामहोपाध्याय पंडित रघुनदन त्रिपाठी, पडित विजयानंद त्रिपाठी, पंडित देवदत्त त्रिपाठी आदि उस दरबार के प्रतिष्ठित सदस्य थे।'

विस्मित कर देती थी । शाही दरबार का वह दृश्य आखो मे झलक जाता है । उस समय तक मै साहित्य-क्षेत्र मे प्रवेश पा चुका था। अत जब कभी मैने वह विद्वत्सभा देखी, मुझे यही अनुभव हुआ कि शर्माजी विश्वविख्यात विद्वान् होने पर भी अपने मधुर व्यवहार से सभी समागत विद्वानो को सन्तुष्ट ही करना चाहते है, किसी पर अपने पाडित्य की धाक जमाना नही चाहते । यही विशेषता नलिनजी मे भी थी । मेरा तो यहा तक अनुमान है कि नलिनजी अपने पिता से भी अधिक मधुर और गम्भीर थे । उनके और उनके पिता के इस गुण मे अन्तर भी था । उनके पिता के मधुर स्वभाव से कोई अनुचित लाभ नही उठा सकता था । किन्तु उनके अपने स्वभाव मे जो मिठास थी उससे लोग सुगमता के साथ अनुचित लाभ उठा लिया करते थे । उनकी प्रकृतिगत मधुरता दूसरो के लिए लाभ-दायिनी थी, पर उनके अपने हित मे उससे बाधा पहुचती थी । उनकी गम्भीरता भी ऐसे प्रसगो को पचाने के लिए अगाध थी । यदि कभी उनसे कहा भी जाता कि ऐसा मधुर न बनिए जिससे मिट्टी के देवता की तरह लोग तिलक मे ही गायब कर दे, तो हसकर रह जाते थे । फिर स्वभाव ज्यो-का-त्यो ।

नलिनजी के पास कॉलेजो के प्राचार्य और अध्यापक भी अपनी 'थीसिस' के विषय मे सलाह लेने आया करते थे । स्नातक तो आते ही थे, साहित्यिक शोध मे निर्देश लेने सुदूरवर्ती लोग पत्र लिखकर भी पूछताछ करते थे । आगन्तुक सज्जन अपना प्रयोजन सिद्ध करने की धुन मे यह बात भूल जाते थे कि नलिनजी के समय का भी कुछ मूल्य है । रात हो या दिन, खाने का समय हो या सोने का, परीक्षा की कॉपिया जाचने मे देर हो रही हो, कही बाहर जाने के लिए तैयार होने की उतावली हो, वह न किसी की उपेक्षा कर सकते थे और न किसी को हताश । धीर-गम्भीर भाव से यथोचित सुझाव देते चले जाते थे । थीसिसो की रूपरेखा में सशोधन-परिवर्तन-परिवर्द्धन करते भी उन्हे देखा है । उसे आपाद-मस्तक रग डालते थे । अपने परमावश्यक कार्य का ध्यान रखते हुए भी बला नही टालते थे । उकताते या झुझलाते नही थे । जो महाशय आते थे वे उनकी मधुरता से तृप्त होकर जाते थे। अस्वस्थता की दशा मे भी यह मधुरता का बाना अपना बानक बनाये रहा ।

साहित्य-क्षेत्र मे उनकी परोपकार-वृत्ति का लेखा-जोखा आकना बडा कठिन है । इसी के कारण दिन-भर और रात मे काफी देर तक उन्हें कार्य-व्यस्त रहना पडता था । अत लिखने-पढने का अधिकतर काम रात मे जागकर ही करते थे । सोने का समय पढने मे बिताने से सुबह देर तक सोना अनिवार्य हो जाता था । इधर कुछ दिनो से उनको अस्वस्थ रहते देखकर मैंने कई बार उनसे कहा कि रात मे जागकर पढने और सुबह मे सोने का क्रम बदलिए । किन्तु वह अपनी

विवशताए बतलाने लगे तो यह कहते न बना कि अपना कार्य-भार हलका करने के लिए कुछ कामो को अस्वीकृत कर दीजिए या मित्रो मे बाट दीजिए, क्योकि वह सभी अंगीकृत कार्यों को अपनी प्रतिष्ठा और धारणा के अनुकूल ही सम्पन्न करना चाहते थे। उनके पास विविध भाति के बडे महत्त्वपूर्ण साहित्यिक काम आते थे ओर सबको वह स्वय ही पूरा करते थे। दूसरा कोई न उनकी तरह सोच सकता था और न लिख सकता था। उनकी चिन्तनधारा और विचारधारा तथा लेखन-शैली मे उनकी निजी मौलिकता की ही सत्ता व्याप्त थी। अपने ऊपर व्यस्त कार्य की पूर्ति मे वह सदा अपनी ही सूझ-बूझ का सहारा लेते रहे। इस प्रकार उन्हे निरन्तर परिश्रम करने मे तत्पर रहना पडता था। 'साहित्य' के विविध-विषयक लेख प्रायः शोध-समीक्षा-प्रधान ही होते थे और उनके सशोधन-सम्पादन मे तथा समालोचनार्थ प्राप्त पुस्तको को मनोयोगपूर्वक पढकर उनकी आलोचना लिखने मे वह अपने मस्तिष्क पर बहुत अधिक बल देते थे। साधारण काम को भी जैसे-तैसे निपटाकर पिण्ड छुडाना वह नही जानते थे। इसलिए उन्हे खटना तो पडता ही था, खपना भी पडता था। अपने उत्तरदायित्व के निर्वाह मे सदा सावधान रहने की जो प्रवृत्ति उनमे थी, उसके कारण साहित्य-सेवा के छोटे-बडे नानाविध कार्यों मे उन्होने अपने-आपको खूब खपाया। अपने किये हुए काम मे किसी प्रकार की कोताही करना या कुछ भी कसर रहने देना उनके स्वभाव के अनुकूल नही था। काम के पूरा होने मे कुछ समय भले ही लग जाए, उसे अपने सतोष के अनुसार अच्छी तरह पूरा करके ही चैन पाते थे।

मैं लगातार ग्यारह वर्षों तक उनके साथ 'साहित्य' का सम्पादक रहा। वह मुझसे पचीस वर्ष छोटे थे, तब भी मैने उनसे बहुत-कुछ सीखा। उनके पिता की विद्वत्ता तो भारत-प्रसिद्ध थी, जिसके तेजस्वी कण उनके उर्वर मस्तिष्क मे इधर कई साल से अकुरित और क्रमश. पल्लवान्वित होने लगे थे। पुष्पित और फलित होने का समय आ ही रहा था कि आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री के उद्गारानुसार 'हा हन्त हन्त नलिन गज उज्जहार'। 'साहित्य' मे छपने वाले निबन्धो की पाण्डुलिपियो का सम्पादन करते समय वह अपनी कसौटी का उपयोग बडी दृढता और निष्पक्षता से करते थे। निबन्ध, कहानी, कविता, उपन्यास, आलोचना आदि के सम्बन्ध मे उनके अपने निश्चित सिद्धान्त थे, जिन्हे कभी प्रसगवश सुनने पर उनकी मननशीलता का परिचय मिलता था। ऐसे ही प्रसंगों के छिडने पर उनके विचारो को सुनने से ज्ञानवृद्धि होती थी। प्राच्य और पाश्चात्य का गहन तुलनात्मक अध्ययन उन्होने बडी सूक्ष्मदर्शिता से किया था, इसलिए उनके विचार बडे ठोस होते थे। समीक्षा के क्षेत्र में तो समस्त हिन्दी-ससार में उनका एक स्वतन्त्र स्थान बनता जा रहा था। उपन्यासों की नाड़ी-परीक्षा मे वह ऐसे परिपक्व अनुभवी हो गये थे कि कोई नया प्रसिद्ध उपन्यास पढ़

लेने के बाद उनसे उसकी चर्चा चलाने पर उनके तत्सम्बन्धी विचार सुनकर दृष्टिकोण ही बदल जाता था, उसका जौहर भी खुल जाता था और उसकी वास्तविकता भी प्रकट हो जाती थी। इस तरह उनके सुचिन्तित विचार एक नयी दृष्टि देते और अपने आलोक से चमत्कृत भी करते थे। अपनी सक्षिप्त समालोचना मे भी वह एक-दो पक्तियो मे ही ऐसे पते की बात कह जाते थे कि उससे आलोच्य पुस्तक की नस पकड मे आ जाती थी। कभी-कभी तो उनका केवल एक ही शब्द ऐसी मार्के की बात ध्वनित कर देता था कि उनकी सूझ की बारीकी पर विस्मय होता था। वह कितने ही ऐसे विपुलार्थबोधक नये शब्द गढकर प्रयोग करते थे जो हिन्दी के प्रकाशित साहित्य मे कही दृष्टिगत नही होते थे। उनकी रचनाओ मे ऐसे सुदूरसन्धानी ध्वन्यात्मक शब्द देखे जा सकते है।

एक अवसर पर मैने एक पत्र लिखकर उन्हे दिया, जिसमे उनसे निवेदन किया था कि अस्वस्थता और नेत्र-शक्ति की क्षीणता के कारण अब मै 'साहित्य' का सम्पादक नही रहना चाहता, इसलिए ग्यारहवे नये साल से 'साहित्य' पर मेरा नाम न छापा जाये। यद्यपि मेरी आख और देह की दशा देखकर कई साल पहले से ही वह मुझसे सम्पादन-सम्बन्धी कोई काम नही लेते थे, तथापि मुझे यह बहुत खलता था कि उन्हे अकेले ही सारा भार वहन करना पडता है, जिसका हानिकारक प्रभाव उनके स्वास्थ्य पर पड रहा है। किन्तु मेरा पत्र पढकर उन्होने मधुर-मधुर हसते हुए कहा—'आप तो अभी सम्पादकीय टिप्पणिया लिख ही देते है, जब एक भी अक्षर न लिख सकेंगे तब भी नाम छपता रहेगा।' मैं उनके बन्धुत्व की बडाई कहा तक करू! वैसा सुहृद दुर्लभ है। वैसा स्मितपूर्वाभिलाषी और मधुरालापी व्यक्ति कहा मिलेगा! वैसा मित्र-वत्सल और शिष्ट पुरुष साहित्यिक समाज को धन्य करने क्या फिर आयेगा?

सयोग की बात, एक दिन बिहार-हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के अनुशीलन-कक्ष मे हम दोनो बैठे थे। उन्होने सहसा कहा कि 'साहित्य' के सम्पादकीय स्तम्भ मे स्वर्गीय साहित्य-सेवियो पर लिखी आपकी सस्मरणात्मक टिप्पणिया[1] मुझे बहुत पसन्द है। मैने कहा कि आपकी पसन्द ही उनकी सार्थकता है, किन्तु मेरे निधन पर आपको भी वैसी ही टिप्पणी लिखनी पड़ेगी। छूटते ही बोल उठे कि कही आपको ही मेरे लिए लिखना पड़ गया तो आपकी अभ्यस्त लेखनी

१. अप्रैल १९५९ से जनवरी १९६२ के बीच 'साहित्य' मे प्रकाशित ऐसी सभी सस्मरणात्मक टिप्पणिया 'बिम्ब . प्रतिबिम्ब' शीर्षक सस्मरण-पुस्तक मे १९६७ में सकलित-प्रकाशित हुई थी।—स०

मुझसे बाजी मार ले जाएगी।'[1] इस पर उस दिन तो हम दोनो के अट्टहास से कक्ष मुखरित हो गया, परन्तु उस बात की स्मृति का वृश्चिक-दशन हृदय को बडा ही व्यथित कर गया। क्या मनुष्य के अन्त करण मे व्याप्त ब्रह्म भविष्यवाणी भी किया करता हे ?

राजा राधिकारमणजी

मैने राजा साहब को सबसे पहले सन् १९०५ में देखा था। मै जिस हाईस्कूल मे पढता था उसके पिछवाडे की कोठी मे वे दोनो भाई रहते और आरा जिला-स्कूल मे पढते थे। जिस शानदार फिटन पर वे लोग स्कूल जाते-आते थे, उसमे दो मस्ताने लाल घोडे जुते रहते थे, जिनकी फरफराती हुई नौतिया और मस्ती की अग-भगी देखने के लिए पथिक भी ठिठक जाते थे। दोनो भाइयो की एकरूपता, किशोरावस्था की सुन्दरता तथा राजसी वेशभूषा

---

१. यह टिप्पणी अक्तूबर, १९६१ के 'साहित्य' मे प्रकाशित हुई। उसकी ये पक्तिया विशेष उद्धरणीय हैं—

'हमसे उम्र मे वे लगभग पचीस वर्ष छोटे थे। तब भी हम अपनी ब्रह्मण्य भावना के वशीभूत हो दशहरा और होली मे उनके चरणस्पर्श का आग्रह करते थे। वे कहते, यह असह्य अत्याचार है। हम कहते, यह हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है। विजय हमारी श्रद्धा की ही होती, पर वे क्षणभर संकुचित और गम्भीर होकर मौन रहते। ऐसे शीलवान थे कि उनका मुखमण्डल पलभर विवर्ण रहता। तर्क से उनको कायल करना कठिन था। किन्तु सहृदय तो वे एक ही थे। उन्होने विवशता के स्वर मे कहा था—'श्रद्धा के सामने तार्किक बुद्धि भी किंकर्तव्यविमूढ हो जाती है।' ये शब्द अक्षरश. उन्ही के है। लोग कहते है, वे प्राचीन परम्परा के विरोधी थे। किन्तु, लगातार बारह वर्षों तक अत्यंत निकट से उन्हे देखने के कारण हमारी यह निश्चित धारणा है कि वे भारतीयता के अनन्य उपासक थे। जो अतिथि-सत्कार मे अद्वितीय था, जिसका आचरण मानव-धर्म का आदर्श उपस्थित करता था, जिसकी वाणी सबके हृदय को आप्यायित करती थी, जिसकी लेखनी सत्य को प्रकट करने मे निर्भय थी, जो परोपकार करके उसके गोपन मे सावधान रहता था, जो अपने अपकारकर्त्ता का भी अनिष्ट सोचता तक न था, जो अपने शील से दूसरों को अनुचित लाभ उठाते देख-परखकर भी मुसकराते-मुसकराते विष पी जाता था, उससे बढ़कर भारतीय परम्परा का समर्थक कौन हो सकता है ?'

की शोभा हम स्कूली लडको के लिए बडे कुतूहल की वस्तु थी ।

जहा तक स्मरण है, सन् १९२० मे बिहार-प्रादेशिक-हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन का दूसरा महाधिवेशन बेतिया (चम्पारण) मे हुआ था । उसके सभापति राजा साहब ही थे । उनके साथ आरा नगर के कई साहित्यसेवी बेतिया गये थे । पडित ईश्वरीप्रसाद शर्मा, पडित रामदहिन मिश्र, पडित पारसनाथ त्रिपाठी आदि के साथ मै भी गया था । राजा साहब सबको अपने साथ प्रथम श्रेणी के डिब्बे मे ले गये थे और बेतिया के राजमहल मे सबको अपने साथ ही ठहराया था । उसी समय उनसे निकट सम्पर्क स्थापित हुआ । वह राज्य के अतिथि थे । स्टेशन से राजमहल तक सभापति का जो जुलूस चला उसमे बेतिया-जैसे प्रसिद्ध और प्रतिष्ठित राज्य का वैभव पूर्ण रूप से प्रदर्शित था । सम्मेलन के किसी वार्षिक अधिवेशन मे वैसा भव्य जुलूस नही देखा गया । राज्य के आतिथ्य का सुख हम साहित्यिक व्यक्तियो ने भी भोगा । राजा साहब का भाषण ऐसा आकर्षक हुआ कि उस युग के पत्रो मे उसकी खासी चर्चा रही ।

उस समय से भी पहले उनकी ललित कहानियो का एक सग्रह आरा की नागरी-प्रचारिणी-सभा से निकल चुका था । उसका नाम था 'गल्पकुसुमावली' । उसके प्रकाशन के बाद हिन्दी-पत्र-पत्रिकाओ मे उसकी सरस भाषा-शैली की इतनी अधिक प्रशसा हुई कि अनेक वयोवृद्ध साहित्यकारो के रहते हुए भी राजा साहब अपनी उठती जवानी मे ही प्रादेशिक सम्मेलन के सभापति मनोनीत कर लिये गये । उक्त कहानी-सग्रह के बाद उनकी 'तरग' और 'नवजीवन' या 'प्रेम-लहरी' नामक पुस्तको ने भी उनके लिए ऐसी कमनीय कीर्ति अर्जित की कि हिन्दीजगत् के धुरन्धर विद्वानो तथा आलोचको का ध्यान भी उनकी ओर आकृष्ट हुआ । फलस्वरूप वह काशी की नागरी-प्रचारिणी-सभा के वार्षिक महोत्सव के भी अध्यक्ष बनाये गये । इतना ही नही, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने अपने 'हिन्दी-साहित्य का इतिहास' ग्रन्थ मे भी राजा साहब की भाषा-शक्ति की प्रशसा की । भाषा की क्षमता और रमणीयता के लिए आचार्य शुक्ल की प्रशसा प्राप्त करना आसान बात नही है । वह भी राजा साहब को अनायास सुलभ हुई ।

१०

मेरा जीवन

मेरे पूज्य पिता बहुत अच्छे रामायणी थे और प्रतिदिन दोनो वेला 'रामचरितमानस' का पाठ नियमित रूप से किया करते थे। 'मानस' के श्लोक और चौपाई-दोहे कठस्थ करके सुनाने पर मुझे नित्य पैसे दिया करते। मेरे बचपन मे उन्होने यह अभ्यास कई साल तक कराया। उनकी प्रेरणा से यह अभ्यास उनके जीवन के अतिम दिनो (१६०६ ई०) तक चलता रहा। इसका प्रभाव मेरे समस्त जीवन पर बडा गहरा पडा। मर्यादापुरुषोत्तम भगवान् रामचन्द्र मे श्रद्धा-भक्ति रखने और उनके आदर्शों पर सदैव ध्यान देने के लिए वह प्रोत्साहन दिया करते थे। मेरे आचरण पर पिताजी की सीख का बहुत अच्छा असर हुआ। मै समझता हू कि राम-कृपा से ही मै प्रवेशिका-कक्षा से फारसी-उर्दू की पढाई छोडकर एकाएक हिन्दी पढने लगा, जो मेरे स्कूल या नगर (आरा) की सबसे पहली घटना थी। स्कूल मे शुरू से ही फारसी-उर्दू पढते रहने पर भी रामायण का ससर्ग कभी न छूटा और पिताजी के आदेशानुसार मै नित्य 'मानस'-पाठ भी करता रहा, जो बराबर जारी रहा। साहित्य-सेवा की प्रेरणा का मूल स्रोत मेरी समझ मे 'मानस' ही है, जिसके कारण छात्रावस्था (१६१० ई०) से ही मैं पटना की साप्ताहिक पत्रिका 'शिक्षा' मे लेखादि लिखने लगा। मेरे स्कूल के हिन्दी-शिक्षक पडित चन्द्रहास द्विवेदी, जो मेरे जिले के ही थे, और सस्कृत-शिक्षक पडित रामचरित उपाध्याय, जो बलिया जिले (उत्तर प्रदेश) के थे, मुझे उर्दू-कक्षा से हिन्दी-कक्षा में आने तथा मानसानुरागी छात्र होने के कारण विशेष उत्तेजना देने लगे। उक्त द्विवेदीजी ने 'हिन्दी-बोध' नामक एक पुस्तक लिखकर छपवायी, जिसे मै अपनी साहित्य-शिक्षा की पहली पाठ्य-पुस्तक मानता हूं। फिर उक्त उपाध्यायजी ने मुझसे संस्कृत की प्रथमा परीक्षा दिलवायी और मुझसे सस्कृत का 'सुभाषित-रत्न-भांडागार' नामक ग्रथ (निर्णयसागर प्रेस, बम्बई) मगवाकर मुझे पढ़ाने तथा उसके सुबोध श्लोको को कठस्थ कराने लगे। इसका परिणाम यह

हुआ कि संस्कृत और हिन्दी के प्रति अविरल अनुराग मेरे मन मे जाग्रत होता गया। सयोगवश सुपरिचित हिन्दी-साहित्य-सेवी पडित ईश्वरीप्रसाद शर्मा मेरे स्कूल मे हिन्दी के साहित्याध्यापक होकर आये, जिन्होने मेरे साहित्यानुराग को परखकर उसे और भी अधिक बढाया दिया। वह मुझे आरा नगर की नागरी-प्रचारिणी-सभा मे प्रतिदिन सध्या समय अपने साथ ले जाते और पत्र-पत्रिकाए चुनकर पढने तथा उनमे से आवश्यक बाते लिख लेने के लिए निर्देश करते थे। इस प्रकार वही मेरे साहित्यिक गुरु बन गए और जब तक जीते रहे, मेरा पथ-प्रदर्शन करते गए। अत साहित्य-सेवा का व्यापार मेरी आर्थिक आवश्यकता की पूर्ति का साधन होने के अलावा मेरी हार्दिक प्रवृत्ति के कारण भी मेरे जीवन का चिरसगी बन गया। यद्यपि हिन्दी लिखे-पढे बिना चैन न पाने की मेरी स्वाभाविक मनोवृत्ति और प्रवृत्ति हो गयी, बल्कि प्रकृति ही वैसी बन गयी, तथापि मै यही मानता हू कि केवल जीविकोपार्जन के मुख्य साधन के रूप मे ही मैने साहित्य को अपनाया। योगक्षेम की कामना के साथ-साथ वह जन्मजातोपम प्रकृति भी इस काम मे निरन्तर उत्साह देती रही।

साहित्य-समाराधन के कार्य मे प्रवृत्त करानेवाले सयोग का सूत्रपात उसी समय हो चुका था, जब मै फारसी-उर्दू पढनेवाला छात्र था। उस सयोग का श्रीगणेश तो तब हुआ जब मै स्कूल मे दाखिल होने से पहले उर्दू के मदरसे मे पढता था। मेरे बडे बहनोई मुशी कालिकाप्रसादजी हिन्दी के प्राचीन भक्ति-साहित्य और रीति-साहित्य के बडे अच्छे ज्ञाता थे। मकतब की पढाई-लिखाई के अतिरिक्त जो अवकाश का समय मिलता था उसमे वह मुझसे नागराक्षर लिखवाते थे। मेरे अक्षर सुडौल होते थे, इसलिए काशी-नरेश के विशाल 'महाभारत' के रोचक प्रसगो की प्रतिलिपि वह मुझसे ही कराते थे। वे हस्तलेख मेरे सग्रहालय मे है। उन्होने स्वय भी महाभारतान्तर्गत 'भगवद्गीता' की पूरी प्रतिलिपि तैयार की थी, फिर अयोध्या-नरेश के प्रसिद्ध ग्रथ 'रसकुसुमाकर' की भी प्रतिलिपि कर डाली थी। इन दोनो ग्रथो की नकल करते समय मैं बालपन के कुतूहलवश उनसे विविध भाति के प्रश्न करता जाता था और वह बडे सरस ढग से प्रसग समझाते थे। इस रीति से भी उर्दू के पाठाभ्यास-काल से ही साहित्यिक दिशा मे प्रवृत्ति बढती गयी। फिर स्कूल मे पढते समय जब मेरी पहली शादी हुई (१९०७ ई०), तब जेठ मे ब्याह होने के बाद भाद्र मास मे ही मेरी धर्मपत्नी का देहान्त हो गया। यद्यपि द्विरागमन नही हुआ था, तथापि पत्नी से मेरा सामान्य परिचय करा दिया गया था। वह पढी-लिखी थी, इसलिए दो महीने तक चिट्ठी-पत्री भी होती रही। किन्तु उसके अचानक मरने से चित्त पर ऐसी चोट पहुची कि मैने उसके सभी सचित प्रेम-पत्रो को जला डाला और अब प्रेम-पत्रो का वियोग भी खलने लगा, तब उस देवी की दिवगता आत्मा को लक्ष्य करके सुन्दर-

रो-सुन्दर सम्बोधनो के साथ प्रेम-पत्र लिख-लिखकर अपने व्याकुल हृदय के उद्गार बाहर निकालने लगा। यह क्रम एक वर्ष तक चला। खेद है कि अज्ञानजन्य मोहवश उन ललित प्रेम-पत्रो को भी नष्ट कर दिया। किन्तु उन्ही प्रेम-पत्रो से लिखने की लत लग गयी। यह एक ऐसा अद्‌भुत रोग है जिसकी दवा भी यही है।

आरम्भ मे जो छोटे-मोटे लेख छपे, वे तो वैसे ही लघु निबन्ध थे, जैसे स्कूली छात्रो से कक्षाओ मे लिखवाये जाते है, पर जब कहानिया लिखने का शौक हुआ, तब पहले प्रेम की दुनिया मे प्रवेश हुआ। पर मेरे उपर्युक्त साहित्यिक गुरु शर्माजी ने उन सभी कहानियो को अस्वीकृत ही नही किया, उनका अस्तित्व भी नष्ट करा दिया। उनके निर्देशानुसार मै लोक-समाज मे ही कथावस्तु खोजने की ओर उन्मुख हो गया। मेरी कुल पन्द्रह मौलिक कहानिया है, जिनमे ऐतिहासिक सत्य पर जो आश्रित है, उन्हे छोड सभी कहानिया आखो-देखी, कानो-सुनी सच्ची घटनाओ पर ही अवलम्बित है। अत्यन्त साधारण ग्रामीण व्यक्ति मेरे सम्पर्क मे आये और उनके द्वारा सुने हुए वृत्तान्तो से कहानी लिखने की प्रेरणा मिल गयी। ऐसी प्रेरणा व्यक्तिगत अथवा निजी अनुभवो से भी मिली। मेरे गाव का एक मामूली किसान, जिसका नाम 'जगेसर' था और जो बडा निष्ठावान शिव-भक्त था, प्राय ईश्वर-भक्तो की कथाएं सुनाया करता था, लडकपन मे उससे सुनी हुई सच्ची घटना पर मेरी 'हठ भगतजी' नामक कहानी लिखी गयी।

जीवन के सघर्ष के अवसर तो बराबर बने रहे। किशोरावस्था मे ही अभिभावको की छत्रछाया सिर से हट गयी, गाव के घर की खेतीबारी भी आकाशवृत्ति-तुल्य हो गयी, जीविका की आधारशिला केवल लेखनी ही रह गयी। हिन्दी के लेखको और प्रकाशको मे जैसा सम्बन्ध रहता आया है, जग-जाहिर है। 'अधी पीसे कुत्ता खाय' कहावत मुझ पर सटीक बैठती है। किन्तु भगवद्‌कृपा से अभावग्रस्त रहते हुए भी सतोष का परला कभी न छूटा। मेरी रचनाओ मे कोई ऐसी विशेषता भी न होती कि मै पुरस्कार अथवा पारिश्रमिक के निमित्त कभी आशा अथवा आग्रह करू। अपनी रचना को प्रकाशित और लोकलोचन के समक्ष उपस्थित देखकर ही आनन्द-अनुभूत रहा और दिन-रात की श्रमशीलता से जो कुछ विश्वम्भर दिलवाते, उससे तन-मन को सुख प्राप्त होता रहा। यदि प्रकाशक-बधु मेरे प्रति थोडी भी सहानुभूति दिखाते तो सघर्ष की प्रखरता कुछ कम हो जाती। किन्तु अपनी परम्परा-प्राप्त स्वाभाविक आस्तिकता के कारण मै यही समझकर सघर्ष झेलता रहा कि मै प्रकाशकों का पुराकृत ऋण चुका रहा हू और यथालाभ-सतोष ही प्रभु का आदेश है। हिन्दी से ऐसी लगन ही लग गयी कि सघर्ष से मैं कभी कतराया नही और इसके लिए कभी किसी के साथ मन मैला न किया। घोर अर्थ-सकट में भी शील का कभी

तिरस्कार करने का दुस्साहस न किया। ईश्वर ने इसका यही पुरस्कार दिया कि सकट आया भी तो बाढ की तरह ऊपर-ही-ऊपर निकल गया। ईश्वर-प्रार्थना का सहारा मनुष्य को कभी दीन अथवा परमुखापेक्षी नही होने देता। और सघर्ष तो जीवन-चन्दन का सौरभ फैलानेवाला है, उसके बिना जीवन सर्वथा निष्क्रिय हो जाता है। मैने सघर्ष को सदा भगवद्प्रसाद ही समझा है। जीवन के सघर्षों का विवरण देना तो कटुता फैलानेवाला, राग-द्वेष का तूफान खडा करना है। वह विवरण तो मेरी दैनन्दिनी के पन्नो मे ही गुप्त रहने योग्य है। मुझे तो अपने अनन्य हिन्दी-प्रेम के लिए कठिनाइयो से जूझते रहने की शक्ति ही परमात्मा से मागने मे सुख मिलता है। जब उसकी मर्जी के खिलाफ एक पत्ता तक नही हिलता, तब सघर्ष को भी उसी की देन समझने मे हानि ही क्या है! परमहस श्री रामकृष्ण की वह अमरवाणी इसी सत्य का उद्घाटन करती है—'जो हानि हो सो प्रभु की इच्छा और जो लाभ हो सो प्रभु की कृपा।' इस अमोघ सतवाणी का ध्यान बना रहे तो जीवन-सग्राम मे उस लोकोक्ति का चमत्कार स्पष्ट दीख पडता है—'भारत मे भरदूल का अडा, घटा टूटि पर्यो।' किन्तु सघर्षशील जीवन मे इस दार्शनिक भावना को चरितार्थ करने के लिए भी कठोरतम मानसिक सघर्ष करना पडता है और उसके लिए भगवद्कृपा की चिरन्तन अनुभूति से ही क्षमता प्राप्त होती है।

जीवन मे आये-गये सकटो और क्लेशो का लेखा-जोखा सकलित करना बडा कठिन काम है, परन्तु दो मुख्य प्रसगो के सक्षिप्त उल्लेख से मेरी उपर्युक्त बातो की पुष्टि होती दीख पड़ेगी। काशी-प्रवास के समय (१९२७ ई०) ऊची छत से गिरने के कारण मेरा दाहिना पैर टूट गया। पैसे पास नही थे। सेवक-सहायक का भी अभाव था। किन्तु ईश्वरेच्छानुसार इष्टमित्रो और शुभचिन्तको ने अप्रत्याशित रूप मे सब अभावो की पूर्ति कर दी। समझ मे न आ सका कि महीनो तक सैकडो का खर्च कैसे निभा और किसने निभाया। उस अदृश्य सत्ता के सिवा किसी और का यह खेल नही था। दूसरी बार जब मैं बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् (पटना) का सचालक था, यक्ष्मा से आक्रान्त हो गया (१९५१-५२)। यक्ष्मा-केन्द्र चिकित्सालय मे महीनो शैयाग्रस्त रहा। मेरे दोनो पुत्र कॉलेज के छात्र थे। आमदनी का कोई जरिया नही। नयी सरकारी नौकरी के नियमानुसार केवल डेढ मास का वैतनिक अवकाश मिला। परिवार की असहायावस्था की चिन्ता अलग सताने लगी। किन्तु विपत्ति के घने बादलो मे से ईश्वर की कृपा की सुनहली किरणे अनायास फूट पडी। उस समय हिन्दी के प्रसिद्ध साहित्यकार श्री जगदीशचन्द्र माथुर, आई० सी० एस०, बिहार सरकार के शिक्षा-सचिव और आचार्य बदरीनाथ वर्मा शिक्षामत्री थे। इन दोनों महानुभावो को भगवान् ने अविलम्ब मेरी सहायता की प्रेरणा दी। देखते-देखते उक्त परिषद् से मेरी सभी

छोटी-बडी रचनाओ के प्रकाशन की व्यवस्था हो गयी। बिहार सरकार ने इस काम के लिए पैतीस हजार रुपये परिषद् को दिये और समस्त रचनाओ की अनुमति पृष्ठ-सख्या के आधार पर मुझे लब्धाश (रॉयल्टी) भी पेशगी मिल गया। सरकारी वैधानिक व्यूह को भेदकर यह सुविधा अनायास निकल आयी। फिर प्राणघाती रोग की बुराई मे से यह भलाई भी निकली कि मेरी अधिकांश रचनाए उक्त परिषद् से चार बडे खडो मे प्रकाशित हो गयी, जिसका लाभाश प्रतिवर्ष मिल रहा है। इस प्रकार विपत्ति मे सम्पत्ति का आगमन सहसा भगवद्-कृपा का ही आभास देता है।

,मुझे सबसे अधिक सतोष जीवनभर मे दो ही कामो से मिला। एक तो मेरे चिर-सचित पुस्तक-सग्रह की सुरक्षा के योग्य पक्का भवन बन गया और बिहार के साहित्यिक इतिहास के प्रकाशन की निश्चित व्यवस्था उक्त परिषद् मे हो गयी। पुस्तकालय बनवाने के लिए पैसे मेरे पास न थे और आशा भी न थी कि पक्का मकान कभी बन सकेगा। अचानक सरकारी आदेश मिला कि अहिन्दी-भाषी सरकारी अफसरो की हिन्दी-शिक्षा के लिए एक पाठ्य-पुस्तक बनाओ। मैने प्रयत्न किया। वह सफल भी हुआ। एकमुश्त दो हजार रुपये मिल गए और गाव के घर पर पुस्तकालय बनवा डाला। वह १९२१ ई० मे श्रीरामनवमी को पिताजी के नाम पर स्थापित हुआ था और आज उसमे पुस्तको तथा पत्र-पत्रिकाओ की सख्या लगभग बीस हजार है। बिहार के साहित्यिक इतिहास के लिए सामग्री-सग्रह का काम १९१८ ई० मे ही शुरू कर दिया था और संगृहीत सामग्री की रक्षा के निमित्त भी चिन्तित रहना पडता था। किन्तु जब मैं उक्त परिषद् की सेवा मे आया, तब अधिकारी-वर्ग से साहित्यिक इतिहास के प्रकाशनार्थ निवेदन किया और उपर्युक्त माथुर साहब ने यथोचित प्रबन्ध कर दिया, जिसके फलस्वरूप वह काम नियमित रूप से चलता रहा। यद्यपि मै परिषद् से अवसर ग्रहण करके सितम्बर, १९५९ मे ही कार्यमुक्त हो गया, तथापि अधिकारियो की इच्छा के अनुसार वह काम उसके बाद भी मेरी ही देख-रेख मे होता रहा। इससे मुझे इतना अधिक सतोष हुआ कि इस साहित्यिक यज्ञ की पूर्णाहुति देखने के सिवा और कोई कामना नही रही।

भाग्य के उतार-चढाव और गहरी-से-गहरी उदासी मे भी मुझे एकमात्र ईश्वर-प्रार्थना से ही शान्ति मिली है। जीवनभर के अनुभवो का सार इतना ही है। हा, सद्ग्रथो का स्वाध्याय भी उद्विग्न मन को शान्त करने का एक उत्तम साधन अनुभूत हुआ है। आध्यात्मिक अथवा दार्शनिक विचारों और सत-समागम तथा साहित्यिक कार्य-सम्पादन से भी यदा-कदा उदासी मिटी है; परन्तु ईश्वर-प्रार्थना के समान उसका स्थायी प्रभाव नही दीख पडा है। भाग्यजन्य उत्थान-पतन मे धीर-प्रशान्त बने रहने का कोई दूसरा अचूक उपाय अब तक के जीवन

मे नही सूझ पडा है जो ईश्वर की भक्ति और प्रार्थना के समान अमोघ हो। ऐसा अनुमान होता रहता है कि मनुष्य व्यर्थ ही अपने मिथ्या अहकार के वशीभूत हो सुख-शान्तिमय जीवन-यापन के सुगम मार्ग—ईश्वर-प्रार्थना-पथ—से भटक गया है। श्रीमद्भागवत गीता मे जो शाश्वत शान्ति का आश्वासन देनेवाले भगवद्वाक्य है वे जीवन-यात्रा को निर्विघ्न सम्पन्न करने के लिए अत्युत्तम सम्बल है। किन्तु श्रद्धा और विश्वास की शर्त पूरी किये बिना वह सम्बल सुलभ नही। मेरा अटल विश्वास है कि भौतिक उन्नति के उत्तमोत्तम साधनो से भी मानव-जाति सच्चा सुख नही पा सकती। अत मे इस वैज्ञानिक युग को भी अध्यात्म की चुनौती के सामने नतमस्तक होना पडेगा।

समग्र ससार के सभी प्रयत्नो और उद्योगो का लक्ष्य सुख प्राप्त करना है। सुख की चाह और खोज मे सभी प्राणी दिन-रात व्यस्त रहते है। मनुष्य अपनी मनोवृत्ति, प्रवृत्ति और प्रकृति के अनुसार ही सुख का अनुभव करता है। प्रतिदिन के जीवन मे सुख के अनुभव के क्षण प्राय आते-जाते रहते है। किन्तु आनन्द के क्षण साधारण जन को प्रतिदिन नही सुलभ होते। वे केवल भगवद्भक्त को, ईश्वर के अनन्य उपासक को, एकाग्र मन के ध्यानी को, निस्पृह आत्मचिन्तक को और योगी को ही उपलब्ध होते है।

सुख और आनन्द मे महान् अन्तर है। रमणी-विलासी केवल सुन्दरी-समागम को ब्रह्मानन्द-सहोदर मानता है। किन्तु ब्रह्मानन्द का कोई सहोदर है ही नही—होता ही नही—हुआ भी नही। भोजन-विलासी केवल दिव्य आहार मे ही अपने आनन्द की पूर्णता समझता है। परन्तु इन्द्रियो को सन्तुष्ट करनेवाले भोगो से आनन्द कभी उपलब्ध नही होता। इन्द्रियो के विषयो के उपभोग से सुख अवश्य प्राप्त होता है, जो अनिवार्यत क्षणभगुर होता है। आनन्द यदि सचमुच प्राप्त हो जाता है तो सदैव रोम-रोम मे रमा रहता है। वह कभी क्षीण नही होता। उसकी मात्रा निरन्तर बढती ही रहती है। वह अखण्ड आनन्द एकमात्र योगी का मूलधन है।

योगी केवल जगल-पहाड मे ही नही रहता। वह सासारिक प्रपचो के बीच गृहस्थी मे भी रहता है। सद्गृहस्थ योगी आज के विकृत समाज मे भी कही दीख जाते है। वे कहते है कि दु ख की छाया का ही नाम सुख है। वे ही बतलाते है कि परमात्मा के साथ जीवात्मा का सयोग ही 'योग' कहलाता है और यही शाश्वत आनन्द का मुख्य स्रोत है। इसी आनन्द से मानवात्मा परितृप्त होती है। किसी प्रकार के सासारिक सुख से मानव की आत्मा परितृप्त नही होती। पर सात्विक आनन्द से आत्मा की तृप्ति होती है। ऐसी तृप्त आत्मा भगवद्भक्ति से ही लभ्य हो सकती है।

मेरा भी व्यक्तिगत अनुभव ऐसा ही है। सत्सग और स्वाध्याय से भी मैं

इसी निष्कर्ष पर पहुचा हू । किन्तु अहर्निश अनुभूति को आलिगित किये रहनेवाले आनन्द से अभी तक वचित ही हू । जीवन मे अपने किसी विशेष कार्य से उस आनन्द का आभास मात्र-सा मिला है, पर तन-मन मे सतत व्याप्त रहनेवाला आनन्द अभी तक नसीब नही हुआ है । अपनी विशेष मन स्थिति मे परम तृप्ति की अनुभूति भी क्षणिक ही हुई है, क्योकि परम तृप्ति का रस रोमावली मे जब तक नही सरसाता, तब तक वह अशेष आनन्द नही बरसाता । तन-मन-प्राण को पुलकित और विह्वल बनाये रखनेवाले आनन्द का जो उद्गमस्थल है, उसके पास तक पहुंचने का सौभाग्य मुझे अभी तक प्राप्त नही हुआ है ।

यो तो मेरे रामभक्त रामायणी पिता मुझे बचपन से ही भगवन्नाम-स्मरण की महिमा बतलाते और उसका अभ्यास सिखाते रहे, पर जीवन के विकट सघर्ष ने उस अभ्यास को साधना का रूप नही लेने दिया । तब भी जिस विशेष कार्य से मैं आनन्द की छाया छूता रहा हू, वह साहित्य-समाराधन के अतिरिक्त और कुछ नही है । मेरी धारणा है कि मेरी अनुभूति मे अभी वह तत्त्व-तल तक पहुचने की गहरी पैठवाली अमोघ क्षमता नही आयी हे, जो आनन्द के मूल उत्स तक अनायास ले जाती है । फिर भी जिस विशेष मन:स्थिति मे परम तृप्ति के अनुभव की झलक मिलती है, वह तुलसीकृत 'रामचरितमानस' और 'विनयपत्रिका' की कथा एवं भावना मे तल्लीनता का ही परिणाम है ।

साहित्य-सेवा और साहित्यानुशीलन मे जो सुख मिलता है, उस सुख को आनन्द की सज्ञा देने मे हिचक इसलिए होती है कि परमात्मा के समक्ष आत्म-समर्पण करते समय जो आभ्यन्तरिक आह्लाद होता है, उसकी समकक्षता मे वह सुख टिक नही पाता । उपर्युक्त 'मानस' और 'विनयपत्रिका' का स्वाध्याय भी प्रकारान्तर से साहित्यानुशीलन ही कहा जा सकता है। मनोयोग के साथ श्रीमद्भगवद्गीता का पारायण भी एक प्रकार का साहित्यानुशीलन ही है, पर इस साहित्यानुशीलन की विशेषता यह है कि इसमे मस्तिष्क और बुद्धि से अधिक एकाग्र चित्त-वृत्ति तथा अन्तस्तल की अनुभूति का ही योगदान रहता है। ऐसा स्वाभाविक योगदान केवल आध्यात्मिक साहित्य मे तन्मय होने पर ही मिलता है ।

निश्चय ही मेरा मन उस अविरल आनन्द की झांकी मात्र देखने के लिए भी लालायित रहता है; किन्तु अपनी विषम परिस्थितियों से विवश रहने के कारण वैसी साधना में तत्पर नही हो पाता, जैसी साधना से उस प्रकाशमय आनन्द की किरण-रेखा इन आखों मे अमृतांजन आजने के लिए स्वर्ण-शलाका बन सकती है। इतने पर भी मेरा निजी अनुभव है कि साहित्य-साधना मे मन के केन्द्रीकरण का जो अभ्यास बंध जाता है, वह हरिकथा-कीर्तन और नाम-सुमिरन की साधना मे एक प्रकार का सहायक ही सिद्ध होता है। साहित्यकार तो 'मानस' या

'विनयपत्रिका' या 'गीता' का पाठ करते समय अपनी भावुकता को भक्ति-भावना मे निमग्न रखता है और अपनी सहृदयता को भाषा-भाव-गत काव्यात्मक सौन्दर्य मे। इस तरह उसको दोहरा या डबल आनन्द मिलता चलता है।

सच पूछिए तो साहित्य ही मनुष्य के आनन्द का स्वाद बढाता है। असाहित्यिक भक्त भी 'मानस' या 'विनयपत्रिका' मे उतना आनन्द नही पा सकता, जितना साहित्यिक भक्त पाता है। मै भक्त होने का दावा नही कर सकता, पर इतना जानता हू कि आनन्द की सदासलिला स्रोतस्विनी भगवद्भक्ति ही है। जब मन स्थिति उसमे अचल हो जाती है, तब यही आकाक्षा होती है कि यह क्षण यदि अनन्त हो जाता तो मनोरथ-रथ अपने लक्ष्य की ओर अबाध गति से अग्रसर होता रहता या उस तक पहुच ही जाता। किन्तु माया-प्रपच ऐसा होने नही देता। इसी विवशता के कारण मन को इतना ही सन्तोष रहता है कि साहित्याराधन से जितना आनन्द अनुभूत हो जाता है और भक्ति-साधना से जितनी तृप्ति मिल जाती है, उतने से ही जीवन की सार्थकता मान लेनी चाहिए। इस प्रकार मुझे साहित्यिक कार्य मे सलग्न और परमात्म-चिन्तन मे अनुरक्त होने पर ही अलौकिक आनन्द तथा सर्वोपरि परितृप्ति का अनुभव हुआ है और होता भी है। वह आनन्द केवल अनुभूति का ही विषय है, अत सर्वथा अनिर्वचनीय है।

□